योगदर्शन

हिन्दी भाष्यसहित



तृतीय संस्करण

सम्वत् २०१८

योगदर्शन

सूत्र, सूत्रका भाषानुवाद और हिन्दी भाष्यसहित

भाष्यकार—

श्री भारतधर्ममहामण्डल के संस्थापक एवं संचालक

पूज्यपाद भगवान् महर्षि

स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

प्रकाशक—

श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाश-विभाग

सम्वत् २०१८] [मूल्य ३)

प्रकाशक :
भारतधर्ममहामंडल,
प्रधान कार्यालय :
जगतगंज, वाराणसी ।

मुद्रक :
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस
जतनबर, वाराणसी ।

निवेदन

भगवान् महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनके भाष्यका यह तृतीय संस्करण योगतत्त्वके जिज्ञासु विद्वानोंके हाथमें देते हुए हमें विशेष प्रसन्नता इसलिये हो रही है कि, इसका द्वितीय संस्करण १९२० में प्रकाशित हुआ था, वह अनेक वर्षों पहले ही समाप्त हो गया था, इसकी माँग बराबर आती रही, परन्तु प्रकाशन-सम्बन्धी अनेक कठिनाइयोंके कारण अबतक इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित नहीं किया जा सका था। श्रीजगदम्बाकी असीम अनुकम्पासे यह अनुपम ग्रन्थ पुनः प्रकाशित होकर योगपथके पथिक जनोंकेलिये पुनः प्राप्य हो गया है। श्रीभारतधर्म-महामण्डलके संस्थापक एवं संचालक हमारे परमाराध्य गुरुदेव परमहंसपरिव्राजकाचार्य भगवान् महर्षि श्री ११०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज प्रभुने अपने कतिपय राजन्य शिष्यवर्गके आग्रह एवं प्रार्थनासे सर्वप्रथम इस पातञ्जलयोगदर्शनपर ही भाष्य प्रणयन किया था और श्री-महामण्डलके शास्त्र-प्रकाशन विभागद्वारा इसका प्रकाशन हुआ था। योगदर्शनका भाष्य-प्रणयन श्रीचरण जैसे योग-निष्णात योगिराज-के लिये सम्भव था। इस अद्वितीय भाष्यके द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष-का मार्ग सर्वसाधारणकेलिये अतिसरल एवं सुगम हो गया है, इसमें सन्देह नहीं।

आज विज्ञानकी उन्नति चरम सीमापर पहुँची हुई है। विज्ञान-केद्वारा विद्युत्-शक्तिपर आधिपत्य करके रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन, बिना तारके यन्त्र एवं अन्यान्य विविध यन्त्रोंके आविष्कार हुए हैं और अब तो कुछ ही वर्षोंमें सूक्ष्म चन्द्रलोक-में सदेह पहुँचनेका दावा आजके वैज्ञानिक कर रहे हैं। यद्यपि

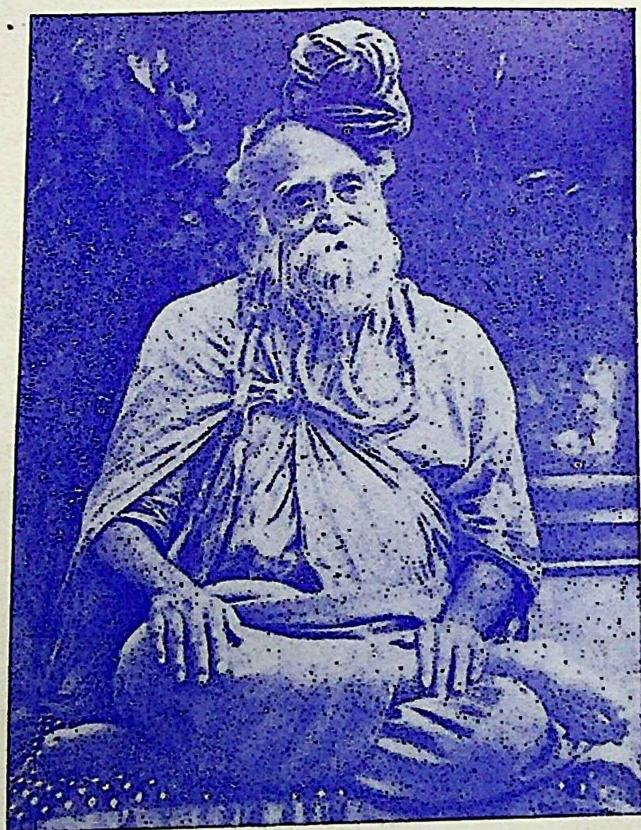
इस स्थूल देहसे चन्द्रलोकमें पहुँचना विज्ञानशक्तिकी परिधिके भीतर है कि नहीं, यह तो भविष्य ही प्रमाणित करेगा, अस्तु। विज्ञानकी उन्नतिसे इतने सुख-साधनों तथा सुविधाओंके उपलब्ध होते हुए भी आज विश्वमें अशान्तिकी आग धधक रही है। मनुष्यों तथा राष्ट्रोंमें परस्पर अविश्वास, सन्देह और भय व्याप्त है, त्यागका स्थान स्वार्थपरताने ले लिया है, तपस्याके स्थानपर-भोगलिप्सा प्रतिष्ठित हो गयी है। सभ्यता एवं मानवता विनाशकी ओर जा रही है। अन्ततः इन सबका कारण क्या है, इस प्रश्नपर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो उत्तर एकमात्र यही मिलेगा कि, दार्शनिक अध्ययन-अध्यापनादि शिक्षाके अभावसे मनुष्यजाति जब केवल भौतिक लक्ष्यपरायण हो जायगी, तब उसकी यही दशा होगी, जो आज दिखायी दे रही है। अतः मनुष्यजातिमें मानवोचित सद्गुणोंके विकासके लिये, तथा उसके भीतर विश्व-बन्धुत्वकी उदात्त भावनाको उद्बुद्ध करनेकेलिये दार्शनिक शिक्षाकी नितान्त आवश्यकता है। दार्शनिक शिक्षाके द्वारा ही जन्मान्तरवाद, अनन्त ऐश्वर्य एवं शक्तिशाली सर्वनियन्ता परमेश्वरकी सत्तापर विश्वास, क्रियाकी प्रतिक्रियापर विश्वास, शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख आदि भोगोंकी प्राप्ति, मृत्युके पश्चात् आत्माका उसके कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक आदि लोकोंकी प्राप्ति-आदि सूक्ष्म अन्तर्जगत् सम्बन्धी विषयोंका ज्ञान हो सकता है और तभी मनुष्यजाति आध्यात्मिक लक्ष्य परायण होकर सच्ची शान्ति और सच्चे सुखको प्राप्त कर सकती है। भगवत्पूज्यपाद श्रीजी महाराजने अपने दिव्य जीवनके अन्तिम क्षणतक दर्शनशास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनको जनसाधारणकेलिये सुलभ एवं सुगम बनानेका अद्वितीय प्रयास किया। सप्त ज्ञानभूमियोंके सप्त दर्शनोंमेंसे छठी ज्ञानभूमिकी उपासनामीमांसा जो सहस्रों वर्षोंसे लुप्त थी, उसका आविष्कार करके पूज्यपादने दर्शनशास्त्रके विच्छिन्न क्रमको पूर्ण एवं

व्यवस्थित कर दिया ; और आज दैवीमीमांसादर्शन-नामक महर्षि अङ्गिराकृत उपासना एवं भक्तिका दर्शन प्रकाशित हो चुका है। महर्षि जैमिनीकृत कर्ममीमांसादर्शनका पूर्वार्द्ध जिसमें यज्ञ-यागादिका वर्णन है, उपलब्ध है। परन्तु महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शन जिसमें कर्मविज्ञानका रहस्य वर्णित है जो लुप्त था, उसका भी पूज्यचरणने अपने समाधियोगसे आविष्कार करके मानवजातिका अनन्त उपकार किया है।

विश्वविद्यालयोंमें तथा अन्यान्य शिक्षा-संस्थाओंमें यदि सुव्यवस्थितरूपसे दार्शनिक शिक्षाकी व्यवस्था की जाय, तभी शिक्षाका लक्ष्य मनुष्य-निर्माण या चरित्रनिर्माण पूर्ण हो सकता है, और भारतवर्ष आज भी पृथिवीके अशान्त, उद्विग्न और त्रस्त मनुष्यजातिको शान्ति-सुखका मार्ग प्रशस्त करनेमें समर्थ हो सकता है।

गुरुपूर्णिमा
काशीधाम सम्वत् २०१८

गुरुदेव श्रीपादपद्माश्रिता—
विद्यादेवी



भाष्यकार—

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक—

भगवत्पूज्यपादश्री १ १ ० ८ महर्षिस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्र कृष्ण ८ सम्वत् १९०२

तिरोभाव माघ कृष्ण ५ सम्वत् २००७

श्री पतञ्जलये नमः ।

श्रीयोगदर्शनके हिन्दीभाष्यकी

प्रस्तावना

मनुष्य-समाजमें जिस प्रकार शिल्पोन्नतिसे उसके बहिर्जगत्‌की उन्नति जानी जाती है उसी प्रकार दर्शनशास्त्रकी उन्नतिसे उसके अन्तर्जगत्‌की उन्नति समझी जाती है। जिस मनुष्यसमाजने जब जितना शिल्पोन्नतिसाधन किया है वह मनुष्यसमाज उस समय उतनेही परिमाणसे बहिर्जगतसम्बन्धीय उन्नतिके पथमें अग्रसर हुआ है। शिल्पकी उन्नतिके साथही साथ मनुष्य-समाजमें पदार्थविज्ञान (सायन्स) की उन्नति हुआ करती है। पदार्थविज्ञान कभी भी सर्वोच्च स्थान अधिकार नहीं करता है तथापि उसकी उन्नतिके परिमाणके अनुसार ही मनुष्यसमाजमें बहिर्जगत्‌की उन्नतिका परिमाण अनुमित हुआ करता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अन्तर्राज्यके अर्थ दर्शनशास्त्रही एकमात्र अवलम्बन है। स्थूलराज्यसे अतीत अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्यरूप अनन्त पारावारके लिये दर्शनशास्त्र ही ध्रुवतारास्वरूप है। सूक्ष्मराज्यमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाला साधक केवल दर्शनशास्त्रोंके साहाय्यसेही अन्तर्राज्य (सूक्ष्मराज्य) में प्रवेश करनेमें समर्थ होता है। जिस प्रकार स्थूलनेत्रविहीन व्यक्ति स्थूलजगत्‌का कुछ भी नहीं देख सकता, उसी प्रकार दर्शनशास्त्रको न जाननेवाला व्यक्ति भी सूक्ष्मजगत्‌के विषयोंको कुछ भी नहीं समझ सकता;



ग्रन्थकार—

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक—

भगवत्पूज्यपाद श्री १०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्र कृष्ण ८   तिरोभाव माघ कृष्ण ५

सम्वत् १[illegible]   सम्वत् २००७

श्री पतञ्जलये नमः।

श्रीयोगदर्शनके हिन्दीभाष्यकी

प्रस्तावना

मनुष्य-समाजमें जिस प्रकार शिल्पोन्नतिसे उसके बहिर्जगत्की उन्नति जानी जाती है उसी प्रकार दर्शनशास्त्रकी उन्नतिसे उसके अन्तर्जगत्की उन्नति समझी जाती है। जिस मनुष्यसमाजने जब जितना शिल्पोन्नतिसाधन किया है वह मनुष्यसमाज उस समय उतनेही परिमाणसे वहिर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिके पथमें अग्रसर हुआ है। शिल्पकी उन्नतिके साथही साथ मनुष्य-समाजमें पदार्थविज्ञान (सायन्स) की उन्नति हुआ करती है। पदार्थविज्ञान कभी भी सर्वोच्च स्थान अधिकार नहीं करता है तथापि उसकी उन्नतिके परिमाणके अनुसार ही मनुष्यसमाजमें बहिर्जगत्की उन्नतिका परिमाण अनुमित हुआ करता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अन्तर्राज्यके अर्थ दर्शनशास्त्रही एकमात्र अवलम्बन है। स्थूलराज्यसे अतीत अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्यरूप अनन्त पारावारके लिये दर्शनशास्त्र ही ध्रुवतारास्वरूप है। सूक्ष्मराज्यमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाला साधक केवल दर्शनशास्त्रोंके साहाय्यसेही अन्तर्राज्य (सूक्ष्मराज्य) में प्रवेश करनेमें समर्थ होता है। जिस प्रकार स्थूलनेत्रविहीन व्यक्ति स्थूलजगत्का कुछ भी नहीं देख सकता, उसी प्रकार दर्शनशास्त्रको न जाननेवाला व्यक्ति भी सूक्ष्मजगत्के विषयोंको कुछ भी नहीं समझ सकता;

अतएव इन सब बातोंसे यह जानना चाहिये कि जो शास्त्र सूक्ष्म-जगत्का वास्तविक तत्त्व समझा देवे इसीको दर्शनशास्त्र कहते हैं।

पृथिवीका इतिहास पढ़नेसे जाना गया है कि जब जो मनुष्य-जाति आध्यात्मिक जगत्में अग्रसर हुई है तबही उसमें दर्शन-शास्त्रकी आलोचना प्रारम्भ हुई है। वैदिक धर्म्मावलम्बी मनुष्य-समाजमें जिस प्रकार दर्शनशास्त्रोंकी उन्नति हुई है, पृथिवीकी अन्य किसीभी जातिमें उस प्रकार उन्नति नहीं हुई है। सनातन-धर्मावलम्बी मुनिगणने योगसाधनके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करके तत्पश्चात् अन्तर्जगत्में प्रवेश करनेकी चेष्टा की थी। पूज्यपाद महर्षिगणने पहिले तप और योगकी सहायतासे अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके तब जगत्के कल्याणार्थ सूत्र बनाकर पृथक् पृथक् दर्शनशास्त्र प्रकाशित किये थे। उन्होंने पहिले अन्तर्राज्यमें आधिपत्य स्थापन करके पीछे जिज्ञासुगणके अर्थ उसके द्वारको उघाड़नेके अभिप्रायसे वैदिक दर्शनशास्त्र प्रणयन किये हैं; परन्तु पृथिवीकी अन्यान्य-शिक्षित जातियोंमें उसप्रकार होनेकी सम्भावना न होनेसे उन्होंने दूरसे अन्तर्राज्यका यत्किञ्चित् आभास पाकर उस विषयके वास्तविक सत्यको अन्वेषण करनेकी चेष्टा की है। पृथिवीकी सकल शिक्षित जातियाँ जिस प्रकार वहिर्जगत्का आश्रय ग्रहण करके सूक्ष्मजगत्में प्रवेश किया करती हैं, पूज्यपाद महर्षिगणने वैसा न करके प्रथम अन्तर्जगत्का विस्तारित ज्ञान प्राप्त करके तब सर्व-साधारणके कल्याणार्थ उसको बहिर्जगत्में प्रकाशित करनेका यत्न किया था। इसी कारण वैदिक दर्शनशास्त्र सात अङ्गोंमें विभक्त होकर सम्पूर्ण हुए हैं; परन्तु पृथिवीकी अन्यान्य शिक्षित जातियोंके दर्शनशास्त्र वैसे न होकर वैचित्र्यमय और असम्पूर्ण रहे हैं।

सृष्टितत्त्वकी पर्य्यालोचना करनेसे सहजही जाना जा सकता है कि त्रिगुणमयी प्रकृतिके राज्यमें सर्वत्रही तीन तीन विभाग विद्यमान हैं, यथाः-वात, पित्त और कफरूपिणी शरीररक्षाकी

त्रिविधशक्ति, मनुष्यकी त्रिविध प्रकृति, त्रिविध कर्म इत्यादि। इसी प्रकार सात रीतिके भावोंके अवलम्बनसे सृष्टिराज्यके सप्तधातु, सप्तवर्ण, सप्तदिवस, सप्तऊर्द्ध्वलोक, सप्तअधोलोक, सप्तरत्न, सप्त-अज्ञानभूमि, सप्तज्ञानभूमि, इत्यादि सप्तविध विभाग सकल स्थानोंमें ही परिलक्षित होते हैं। उक्तरीतिसे सप्तज्ञानभूमियोंको अतिक्रम करके क्रमशः परमपद लाभ करनेके अर्थ जिस वैदिकदर्शनविज्ञानका आविर्भाव हुआ है वह भी इन सप्तज्ञानभूमियोंके अनुसार ही सप्तभागोंमें विभक्त है। इन सात दर्शनोंमेंसे दो पदार्थवाददर्शन, दो सांख्यप्रवचनदर्शन और तीन मीमांसादर्शन हैं। आधुनिक पुस्तकोंमें जो षड्दर्शन नाम देखा जाता है वह केवल जैन और बौद्धोंके अनुकरणसे प्रचारित हुआ है; क्योंकि उनके दर्शनशास्त्र षड्दर्शन नामसे अभिहित होते थे, इसीसे नास्तिकदर्शनके अनुकरणसे वैदिक षड्दर्शन नाम प्रचारित हुआ था। किसी भी आर्षग्रन्थमें षड्दर्शनशब्द देखनेमें नहीं आता है। विशेषतः बहुत शताब्दियोंसे मीमांसादर्शनके सब सिद्धान्तग्रन्थ लुप्त होजानेसे मध्यमीमांसादर्शनका एक भी सिद्धान्तग्रन्थ नहीं मिलता था। इन सब कारणोंसे ही अज्ञानमूलक षड्दर्शनशब्द हमारे साहित्यमें क्रमशः प्रचलित हो पड़ा है। वास्तवमें न्याय और वैशेषिक ये दोनों पदार्थवादके दर्शन, योग और सांख्य ये दोनों सांख्यप्रवचन दर्शन और वेदोक्त कर्म, उपासना एवं ज्ञान इन काण्डत्रयके अनुसार कर्ममीमांसा, दैवी-मीमांसा (भक्तिमीमांसा) तथा ब्रह्ममीमांसा, ये तीनों मीमांसा-दर्शन, इस प्रकार सप्त दर्शन स्वतःसिद्ध हैं।

दर्शनग्रन्थोंके अभाव और दार्शनिक शिक्षाके लोप होजानेसे सनातनधर्मकी वर्त्तमान दुर्गति हुई है। आजकल स्वधर्ममें अविश्वास, परधर्मग्रहणमें इच्छा, सदाचारवर्जन, पूज्यपाद महर्षि-गणके आदेशोंका उपहास, वेद और पुराणोंपर अश्रद्धा, साम्प्र-

दायिक विरोध, अलौकिक अन्तर्राज्यपर अविश्वास, परलोकके भयका राहित्य, देवदेवी और ऋषि पितरादिके अस्तित्वमें सन्देह, साधु और ब्राह्मणोंपर अभक्ति, वर्णाश्रम-कर्मकाण्डपर अनास्था, जगत्‌को पवित्र करनेवाले आर्य्यनारियोंके धर्मके धर्मकी उपेक्षा, मूलोच्छेदमें प्रवृत्ति, जप ध्यानादि साधनमार्गपर अरुचि इत्यादि आर्य्यत्वनाशकारी जो प्रबलदोष उत्पन्न हुए हैं वे केवल वैदिक-दर्शनोंकी शिक्षाके अभावसे ही हुए हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

न्यायदर्शनकी शिक्षा इस समय सम्पूर्णरूपसे नहीं होती है। पहलेकी तरह इस समय प्राचीन न्यायकी वास्तविक शिक्षा-पद्धति नहीं है, यह कहनेसे भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस समय प्राचीन न्यायके स्थानमें नवीन न्यायका ही अधिक प्रचार देखा जाता है।

वैशेषिकदर्शनके उपयोगी आर्ष-भाष्यके अभाव होनेसे उसकी चर्चा एक प्रकार उठ ही गई है ऐसा कहनेसे भी चल सकता है।

योगदर्शन पहले तो कठिन शास्त्र है और उसके साथ अन्तर्जगत्‌का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे उसकी यथार्थरूपसे अध्ययन और अध्यापनकी प्रथा एकवारही उठ गई है क्योंकि योगदर्शनके आचार्य्यको योगी होना आवश्यक है; किन्तु इस समय उस प्रकारके वास्तविक योगीके अभाव होनेसे इस दर्शनकी यथार्थ शिक्षाका अभाव हो पड़ा है।

सांख्यदर्शनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इस समय कोई उसको आधुनिक दर्शन कहते हैं, कोई उसको प्रक्षिप्तविषयपूर्ण कह कर घृणा करते हैं, और कोई कोई नास्तिक दर्शन कहकर उसका परिचय देते हैं। कई हजार वर्षोंसे उसका आर्षभाष्य न मिलनेसे और आजकल जो उसका भाष्य मिलता है वह जैनधर्म्मावलम्बी आचार्य्यका बनाया हुआ होनेसे ही इस प्रकारकी विशृङ्ख-

लताका कारण उपस्थित हुआ है। विज्ञानभिक्षु जैनाचार्य्य वा बौद्धाचार्य्य थे इसमें अब कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि उन्होंने जिस भावसे सांख्यदर्शनको अपने भाष्यद्वारा प्रतिपादन करनेकी चेष्टा की है उससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि वे सनातनधर्मावलम्बी नहीं थे। उन्होंने अप्रासङ्गिक रीतिसे वैदिकी हिंसाकी निन्दा, लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्षविज्ञानको परिवर्तन करते हुए ईश्वरकी सिद्धिके सम्बन्धमें अनुमित सिद्धान्तका प्रतिपादन, शास्त्रोक्त देवतादिका खण्डन आदि जो किया है उसको पढ़नेसे ही निरपेक्ष दार्शनिक व्यक्तिमात्र ही एक वाक्यसे स्वीकार करेंगे कि वे सनातनधर्मके विरोधी अन्य किसी सम्प्रदायके आचार्य्य थे। अबतक सांख्यदर्शनपर जो सब टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं उनके बनानेवालोंने जैनाचार्य्य विज्ञानभिक्षुके मतका अनुसरण करके ही वे सब बनाई हैं।

दर्शनशास्त्रका वास्तविक प्रचार करना होगा तो प्राचीन न्यायदर्शनका अधिक प्रचार और ऋषियोंके अभिप्रायानुसार भाष्यके साथ वैशेषिक दर्शनका प्रचार विशेष आवश्यक है। श्रीभगवान् व्यासकृत भाष्यको अवलम्बन करके योगी महापुरुषगणके द्वारा प्रणीत विस्तृत भाष्यके साथ योगदर्शन भी प्रचारित होना आवश्यक है। सांख्यदर्शनका भाष्य सूत्रकारके अभिप्रायके अनुसार तत्त्वज्ञानी व्यक्तियोंकी सहायतासे नूतनपद्धतिसे प्रणीत होकर प्रचारित होना आवश्यक है।

तीनों मीमांसादर्शनोंमें घोर विप्लव उपस्थित हुआ है। पूज्यपाद महर्षि जैमिनिकृत कर्ममीमांसादर्शन अतिबृहत् होनेपर भी यह असम्पूर्ण और एकदेशी है। जैमिनिदर्शनमें केवल वैदिक कर्मकाण्डका विज्ञान सुन्दररूपसे वर्णित है किन्तु वर्त्तमान समयमें वैदिक यागयज्ञका प्रचार प्रायः लुप्त हो जानेसे इस दर्शनशास्त्र-

द्वारा इस समय हमारे किसी प्रकारके विशेष उपकारके सिद्ध होनेकी सम्भावना नहीं है।

धर्म क्या है, साधारण और विशेषधर्ममें भेद क्या है, वर्णधर्म क्या है, आश्रमधर्म क्या है, पुरुषधर्म क्या है, नारीधर्म क्या है, जन्मान्तरवादका विज्ञान क्या है, परलोकमें गति किस प्रकार होती है, संसारका रहस्य क्या है, षोडश संस्कारका विज्ञान क्या है, संस्कारशुद्धिद्वारा किस प्रकार क्रियाशुद्धि होती है, उद्भिज्जादि योनियोंसे मनुष्ययोनिमें किस प्रकार जीव क्रमशः प्रवेश करता है, मनुष्य पुण्यकर्म करके किस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होता है, कर्मके भेद कितने हैं, क्रियाशुद्धि द्वारा मनुष्य किस प्रकार मुक्त होता है इत्यादि कर्म्ममीमांसाका प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकारका मीमांसा-दर्शनका सिद्धान्तग्रन्थ बहुत कालसे लुप्त अवस्थामें था। इस समय श्रीभारतधर्ममहामण्डलके नेताओंके यत्नसे एक विस्तृत सूत्रग्रन्थ प्राप्त हुआ है और उसका भाष्य भी संस्कृतभाषामें बन रहा है।

कर्ममीमांसा यदि लुप्त हुई थी तथापि उसका एक वृहत् ग्रन्थ पाया जाता था, किन्तु दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा वा भक्ति-मीमांसा) का कोई ग्रन्थभी नहीं मिलता था। इस समय उसकाभी एक सिद्धान्तभूत सूत्रग्रन्थ मिला है और उसका संस्कृतभाष्य प्रणीत होकर प्रकाशित होगया है। भक्ति किसको कहते हैं, भक्तिके भेद कितने प्रकारके हैं, उपासनाके द्वारा मुक्ति किस प्रकार सम्भव है, भगवान्‌का आनन्दमय स्वरूप क्या है, भगवान्‌के ब्रह्म ईश और विराट्, इन तीन रूपोंमें भेद क्या है, भक्तिके प्रधान प्रधान आचार्य्य ऋषिगणके स्वतन्त्र स्वतन्त्र मत क्या हैं, सृष्टिका विस्तृत रहस्य क्या है, अध्यात्म सृष्टि क्या है, अधिदैव सृष्टि क्या है, अधिभूत सृष्टि क्या है, ऋषि किसको कहते हैं, देवदेवी

किसको कहते हैं, पितृ किसको कहते हैं, उनके साथ जगत्का सम्बन्ध क्या है, अवतार कैसे होते हैं, अवतार कितने प्रकारके हैं, भक्तिके द्वारा मुक्ति किस प्रकार होसकती है, चार प्रकारके योगका लक्षण और उपासनाका भेद कितने प्रकारको है, उपासना और भक्तिके आश्रयसे साधक किस प्रकार मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है, कर्ममीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है, दैवी-मीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है, एव ब्रह्ममीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है इत्यादि विषय इस दर्शनशास्त्रमें वर्णित हैं। इसी दर्शनशास्त्रके लोप होनेसे योग और उपासना इन दोनोंकी एकता सिद्ध करनेके विषयमें उन्नत ज्ञानियोंको भी विमोहित होते हुए देखा गया है।

सप्तम ज्ञानभूमिका अन्तिम दर्शन ब्रह्ममीमांसा है उसको वेदान्त कहा जाता है। उसका अति उत्तम भाष्य श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्य प्रणीत पाया जाता है, किन्तु इतने दिनोंतक दैवीमी-मांसा दर्शनके लुप्त अवस्थामें रहनेसे और उपासकसम्प्रदायोंके अद्वैतवादको द्वैतवादमें परिणत करनेकी चेष्टा करनेसे वेदान्त-विचारमें अनेक असुविधाएँ उत्पन्न हुई हैं। यदि मध्यमीमांसा बीचके समयमें विलुप्त न होती तो द्वैत और अद्वैतवादका विरोध कदापि संघटित न होता।

न्यायदर्शनका जो आर्ष भाष्य मिलता है वह अतीव विस्तृत है ही। वैशेषिकदर्शनका विस्तृत भाष्य संस्कृतमें प्रणीत होरहा है। योगदर्शनका विस्तृत भाष्य पूर्व लिखित रीतिका प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश 'विद्यारत्नाकर' नामक संस्कृत मासिक पत्रमें प्रकाशित हुआ है।

सांख्यदर्शनका संस्कृतभाष्यभी पूज्यपाद महर्षिगणके मतके अनुसार प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश उक्त पत्रमें प्रका-शित भी हुआ है, इस भाष्यको पढ़कर शिक्षित-मण्डली विस्मित

हुई है और सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है यह सबही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। कर्ममीमांसादर्शन सभाष्य संस्कृत-भाषामें शीघ्र प्रकाशित होगा। दैवीमीमांसा दर्शन अर्थात् मध्यमी-मांसादर्शनका भाष्य सम्पूर्ण होगया है और उसके तीनपाद सभाष्य संस्कृतभाषामें उक्त पत्रिकामें प्रकाशित होचुके हैं। वेदान्तदर्शनका समन्वय भाष्य भी संस्कृतमें प्रकाशित होगा। प्राचीन आर्य्यगणका मत ठीक ठीक उद्धृत करके और अन्यान्य-निम्नज्ञानभूमियोंके अधिकारोंको उन समस्त दर्शनोक्त ज्ञानभूमियोंके ठीक ठीक विज्ञानके अनुसार प्रतिपादन करके इस वेदान्त-भाष्यको सर्वाङ्गसुन्दर करनेकी चेष्टा की जायगी। इन सात प्रकारके दर्शनशास्त्रोंका ठीक-ठीक प्रचार और इनकी यथाविधि शिक्षा देनेके अर्थ इन सातों दर्शनोंके, संस्कृतभाष्य प्रणयनका कार्य्य बहुत कुछ अग्रसर होगया है। इस समय हिन्दीभाषाके पाठकवर्गके अर्थ यह सब दर्शन ग्रन्थ सरलहिन्दी भाषामें विस्तृत भाष्यके साथ क्रमशः प्रकाशित करनेकी पूरी इच्छा है।

हमारे सुहृद्गणमेंसे अनेकोंने परामर्श दिया है कि ज्ञानभूमि-के क्रमके अनुसार पहले न्याय और वैशेषिकादि दर्शन प्रकाशित होना उचित है; किन्तु हमने विचार करके देखा है कि जब इससे पहले ही से ये दर्शन हिन्दीमें सामान्य रूपसे प्रचारित हैं तब इनका विस्तृत भाष्यके साथ प्रचार यद्यपि आवश्यक है तथापि पहलेही इनको प्रकाश करनेसे पाठकोंका तादृश चित्तविनोद नहीं होगा, विशेषतः योगदर्शन सर्वअधिकारियोंका सुदृढ़ और सब दर्शनोंसे अविरुद्ध होनेसे उसी दर्शनके श्रीमहामण्डलद्वारा निर्मित संस्कृत-भाष्यका विशुद्ध हिन्दी अनुवादग्रन्थ यह प्रकाशित किया गया है।

उपर्युक्त सात वैदिकदर्शनग्रन्थ प्रकाशनके साथ-साथ हम योगके क्रियासिद्धांशसम्बन्धीय पाँच ग्रन्थ हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित करनेकी इच्छा करते हैं, जिनमेंसे मन्त्रयोगसंहिताका

हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो चुका है। उपासनाकी मूलभित्ति-रूप योगका क्रियासिद्धांश चार भागोंमें विभक्त है, यथाः—मन्त्र-योग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारों प्रणालियोंके अलग-अलग अङ्ग, अलग-अलग ध्यान और अलग-अलग अधिकार निर्णीत हैं। नाम और रूपके अवलम्बनसे जो साधनप्रणाली निर्णीत हुई है उसको मन्त्रयोग कहते हैं। मन्त्रयोग सोलह अङ्गोंमें विभक्त है और उसके ध्यानको स्थूलध्यान कहते हैं।

स्थूलशरीरकी सहायतासे चित्तवृत्तिके निरोध करनेकी जो प्रणाली है उसको हठयोग कहते हैं। हठयोग सात अङ्गोंमें विभक्त है और हठयोगका ध्यान ज्योतिर्ध्यान नामसे अभिहित होता है।

लययोग और भी अधिक उन्नत अवस्थाका साधन है। जगत्-प्रसविनी कुलकुण्डलिनी शक्ति जो सकल शरीरमें ही विद्यमान है उसी शक्तिको गुरूपदेशानुसार जाग्रत करके और सहस्रारमें लय कर चित्तवृत्तिनिरोध करनेकी जो प्रणाली है उसको लययोग कहते हैं। लययोग नौ अङ्गोंमें विभक्त है और उसके ध्यानका नाम बिन्दुध्यान है।

योगप्रणालियोंमें सर्वश्रेष्ठ योगप्रणालीका नाम राजयोग है। उल्लिखित त्रिविध साधकोंको उन्नत अवस्थामें राजयोगकी सहायता लेनी ही पड़ती है। केवल विचारशक्तिद्वारा चित्तवृत्ति-निरोध करनेकी जो प्रणाली है उसको राजयोग कहते हैं। राजयोग सोलह अङ्गोंमें विभक्त है और उसका ध्यान ब्रह्मध्यान नामसे अभिहित होता है। उपर्युक्त तीन योगप्रणालियोंकी समाधिको सविकल्प समाधि कहते हैं किन्तु राजयोगकी समाधि ही निर्विकल्प समाधि है।

उपर्युक्त चार प्रकारकी योगप्रणालीके अङ्ग और उपाङ्ग, वेद, आर्षसंहिता, पुराण एवं तन्त्रादिमें अनेक स्थानोंमें ही देख पड़ते हैं; किन्तु अधिकारानुसार इन प्रत्येककी क्रियाएं अलग-अलग

और यथाक्रम किसी ग्रन्थमें भी नहीं मिलती हैं। प्राचीन समयमें गुरु और शिष्य-सम्प्रदायका अधिकार उन्नत था इसीसे ही इस प्रकार साधनविभागकी आवश्यकता नहीं थी; किन्तु वर्त्तमान समयमें इन चारों साधनप्रणालियोंके अलग-अलग सिद्धान्तग्रन्थ न मिलनेसे योगी और उपासक सम्प्रदायोंमें घोर विप्लव उपस्थित हुआ है।

हमने मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, ये चार सिद्धान्त ग्रन्थ पाये हैं। इनमें प्रत्येक साधन-प्रणाली विस्तृत और सुन्दररूपसे वर्णित है। इन चारों ग्रन्थोंके अतिरिक्त गुरुलोग इनके अवलम्बनसे शिष्योंको किस प्रकार शिक्षा देवें इस विषयका योगप्रवेशिका नामक और एक ग्रन्थ है। उक्त पांचों ग्रंथ प्रायः 'विद्यारत्नाकर' नामक संस्कृत मासिक पत्रमें प्रकाशित किये हैं और क्रमशः हिन्दी अनुवादके साथ उनको प्रकाशित करेंगे।

उपर्युक्त सात दर्शनग्रन्थ और पांच योगग्रन्थ हिन्दीभाषामें प्रकाशित होनेसे हिन्दीके दार्शनिक जगत्‌की उन्नतिके विषयमें एक असाधारण परिवर्तन संसाधित होगा इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

श्री १०८ पूज्यपाद गुरुमहाराजकी आज्ञानुसार अन्य ग्रन्थोंके समान इस ग्रन्थका भी स्वत्वाधिकार दीन दरिद्रोंके पालन-पोषणार्थ श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णादानभण्डारको दिया जाता है।

विजयादशमी
संवत् १९७७ विक्रमी } दयानन्द

ओं नमः परमात्मने ।

योगदर्शन

भूमिका

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एकरूप हैं, पूर्ण-ज्ञानरूप वे सदा निष्क्रिय और सृष्टिसे अतीत हैं, न तो उनको किसी प्रकारकी क्रिया स्पर्श कर सकती है, न उसमें कोई क्लेशोंकी सम्भावना है, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालमें वे सदा एक रूपसे ही वर्त्तमान हैं। इच्छा-अनिच्छा-रूप इच्छासे उन्हींकी इच्छामयी शक्ति द्वारा यह संसार उत्पन्न होता है, वर्त्तमान रहता है और पुनः उन्हींमें लयको प्राप्त हो जाता है। सृष्टिकी उत्पत्ति और सृष्टिकी स्थितिकी अवस्थामें वे सर्व्वशक्तिमान् परमात्मा अपने जिस अंश अथवा जिस भावमें सृष्टिको धारण करते हैं, उनकी उस सृष्टिकी ऐश्वर्य्यताके कारण उनकी उस अवस्थाका नाम ईश्वर है और जब सृष्टि नहीं रहती अथवा जिस अवस्थामें सृष्टि नहीं है, उनकी उस निष्क्रिय और प्रशान्त अवस्थाका नाम ब्रह्म है। 'अहं ममेतिवत्' अर्थात् मैं और मेरी शक्ति ऐसा कहनेमें जिस प्रकार शक्तिमान् और शक्तिमें भेद नहीं रहता, ठीक ऐसे ही ब्रह्म और त्रिगुणमयी शक्तिमें पूज्यपाद महर्षियोंने कोई भी भेद नहीं है—ऐसा प्रमाणित किया है। संक्षेपसे यही समझना उचित है कि निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मभावमें ब्रह्मशक्ति छिपी हुई अर्थात् साम्यावस्थामें

रहती है और ईश्वरभाव अर्थात् सगुण ब्रह्मभावमें वही ब्रह्मशक्ति अपने त्रिगुणरूपको धारण करके प्रकट हो जाती है। लीलामय भगवान्की लीलामयी शक्तिके द्वारा जो संसार उत्पन्न हुआ है, सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की सर्वशक्तिमयी इच्छारूपिणी उस महाशक्तिका नाम ही महाविद्या, प्रकृति और शक्ति है। जब सृष्टिक्रिया आरम्भ हुई अर्थात् निष्क्रियरूप शान्त अवस्थामें जब क्रियारूप सृष्टि हुई, तो यह विचारनेके योग्य है कि जहां क्रियारूप कम्पन हुआ और जिस कारणरूपिणी शक्तिसे कम्पन हुआ, इनकी दो स्वतंत्र सत्ताएँ हुईं, सृष्टिकर्त्ता, की जिनकी इच्छासे सृष्टिरूप क्रिया हुई, उनका नाम ईश्वर और उनकी इच्छारूपिणी शक्तिका नाम प्रकृति है। * जैसे समुद्रमें तरङ्ग उठनेसे समुद्रकी और तरङ्गोंकी स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर-रूप समुद्र और जीव-रूप तरङ्गोंकी स्वतंत्र सत्ता हुई। गंभीर, प्रशान्त समुद्र-रूपी ईश्वरकी सत्तामें तो कोई भी भेद नहीं पड़ा, परन्तु अविद्या-के कारण प्रत्येक तरङ्गने अपनी स्वतंत्र सत्ता मान ली। अविद्याके कारण जीवरूपी चैतन्यने जो अपनी स्वतंत्र सत्ता अनुभव करके, अहंकारके वशीभूत होकर स्वतंत्र केन्द्र स्थापन कर लिया, सो अल्पज्ञरूपी स्वतंत्र स्वतंत्र केन्द्र ही जीवका जीवत्व है। सर्वशक्तिमान् भगवान्के अधीन विद्यारूपिणी महाशक्ति रहकर सदा सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया किया करती हैं परन्तु जीव-अवस्थामें इससे विरुद्ध बात बनी अर्थात् जीवमोहकारिणी अविद्याका प्रभाव जीव-

---

* प्रणव यहींकि कार्य्यसे सम्बन्ध रखता है, जहां कोई कार्य्य है वहां अवश्य कम्पन होगा, जहां कोई कम्पन है वहां अवश्य कोई शब्द होगा; सृष्टिके आदिकारणरूप कार्य्यकी ध्वनि ही ओंकार है; योगी जब इस साम्यावस्था-प्रकृतिमें मन ले जाता है तब ही वह प्रणवध्वनि श्रवण करनेका अधिकारी हो सकता है।

पर हुआ और जीव-रूपी चैतन्य अविद्याके अधीन होकर सृष्टिक्रिया में फँस गया। अब जीवरूपी चैतन्य अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा। प्रकृति त्रिगुणमयी है। सत्त्व, रज और तम-ये तीन गुण हैं। अब जीव फँसकर अपने आपको त्रिगुणमय समझने लगा। जीवके इस फँसानेका कारण अनादि अविद्या है और अविद्याके कारणसे ही जीवने अल्पज्ञताको प्राप्त होकर अहंकारके वशीभूत हो अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापन कर ली, इसी अवस्थाका नाम जीव है। जीव और ईश्वरमें भेद इस प्रकारसे है कि अविद्याके द्वारा दवा हुआ जीव कहाता है और विद्याको सम्पूर्ण रूपसे अपने अधीन बनाये रखनेसे वही ईश्वर कहाता है अर्थात् प्रकृतिके जो अधीन हो वह जीव और जिसके अधीन सदा प्रकृति रहती है वही ईश्वर है।

सर्वशक्तिमान् परमात्माने जब अपनी इच्छा-अनिच्छा-रूप इच्छासे विद्या-रूपिणी अपनी महाशक्तिके द्वारा इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि आरम्भ की तो, प्रथम आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति की; यही पञ्चतत्त्व कहाये और इन्हींसे सारे संसारकी सृष्टि बनी। प्रकृति त्रिगुणमयी है और आदिकारणरूपी अनादि-प्रकृतिसे ही इन पाँचों तत्त्वोंकी सृष्टि हुई है इस कारण ये भी त्रिगुणात्मक हैं। इन पाँचों भूतोंके मिले हुए सत्त्व-अंशसे अन्तःकरण और रज-अंशसे पञ्च प्राण उत्पन्न हुए। अन्तःकरणमें चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार हैं; जिनमेंसे चित्त और अहंकार दोनोंको मन और बुद्धिका अन्तर्विभाग समझना उचित है अर्थात् चित्त, मनका अन्तर्विभाग और अहंकार, बुद्धिका अन्तर्विभाग है; अन्ततः मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका एकत्व-सम्बन्ध अन्तःकरण है। अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक होनेके कारण सूक्ष्मदर्शी योगियोंने अन्तःकरणके चार विभागोंको इस

प्रकारसे माना है। यथा:-सत्त्वगुणसे बुद्धि, रजोगुणसे मन और तमोगुणसे चित्त और अहंकार प्रकट होते हैं। इस कारण योगदर्शन चित्तरूपी अन्तःकरणके तीन ही अंग मानता है, यथा—मन, बुद्धि और अहंकार। इन पाँचों भूतोंमें जो प्रत्येकका गुण है वही तन्मत्राएँ कहाती हैं अर्थात् आकाशका शब्द, वायुका स्पर्श, अग्नि-का रूप, जलका रस और पृथिवीका गन्ध; पाँचों तत्त्वोंके ये पाँचों गुण पञ्च-तन्मात्राएँ हैं। इन पाँचों तन्मात्राओंसे सृष्टिकी सहायतामें विस्तारको प्राप्त होकर पञ्च-ज्ञान-इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं अर्थात् शब्दसे श्रोत्र, स्पर्शसे त्वक्, रूपसे चक्षु, रससे जिह्वा और गन्धसे घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हुईं, ये ही पाँचों पञ्च-ज्ञान-इद्रियाँ कहाईं। प्रत्येक तत्त्वके स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्त्वगुणसे पाँचों ज्ञान-इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं, ऐसा समझना उचित है। इन्हीं पाँचों तत्त्वोंके स्वतन्त्र स्वतन्त्र रजोगुणसे पाँच कर्म्म-इन्द्रियाँ प्रकट हुईं अर्थात् आकाशके रज-अंशसे वाक्, वायुके रज-अंशसे पाणि, तेजके रज-अंशसे पाद, जलके रज-अंशसे उपस्थ और पृथिवीके रज-अंशसे पायु उत्पन्न हुए और ये ही पाँचों पाँच कर्म्म-इन्द्रियाँ कहाईं। इन्हीं पाँचों भूतोंके विस्तारसे सृष्टि उत्पन्न हुई। जब ये भूतगण अलग अलग सूक्ष्मावस्थामें होते हैं तब ये ही अगोचर रहकर अपंचीकृत महाभूत कहाते हैं और जब ये ही पाँचों भूत आपसमें मिल जुलकर स्थूलताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनमें तब आधा तो अपना अंश होता है और आधा और चारों भूतोंका अंश होता है। इस प्रकारसे ये पाँचों भूत स्थूलताको प्राप्त होकर दृष्टिगोचर होते हुए पञ्चीकृत महाभूत कहाते हैं।

वेद और वेद-सम्मत सब शास्त्र एकवाक्य होकर यही कहते हैं कि परमात्मा ब्रह्म अर्थात् पुरुष और त्रिगुणमयी माया अर्थात् प्रकृति—इन दोनोंकी इच्छा और मेलसे ही सृष्टि उत्पन्न हुई है।

चाहे कोई शास्त्र एक प्रकार वर्णन करे और चाहे दूसरा शास्त्र दूसरा प्रकार वर्णन करे; परन्तु सबोंका आशय एक ही है; सबोंने ही सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म पुरुषको निष्क्रिय और स्वतन्त्र माना है और त्रिगुणमयी प्रकृतिको ही सृष्टिका कारण माना है। सांख्य-दर्शनने सृष्टिकी कारणरूपा प्रकृतिको चौवीस तत्त्वोंमें वर्णन किया है और उसी प्रकृतिके विस्तारको वेदान्तदर्शनने पञ्चकोष करके वर्णन किया है; जैसे सांख्यशास्त्रने चौबीस तत्त्वोंसे उपराम होनेका नाम मुक्ति लिखा है, वैसे ही पञ्चकोषोंसे अलग होनेका नाम वेदान्त-शास्त्रने ब्रह्मसद्भाव कहा है, बात सब शास्त्रोंकी एक ही है; लक्ष्य सबोंका एक ही है; परन्तु केवल साधनविभाग अर्थात् मुक्तिपदपर पहुँचनेका उपाय सब शास्त्रोंने स्वतन्त्र स्वतन्त्र रीतिसे वर्णन किया है। प्रथम जब जीव-रूपी चैतन्य अविद्यामें फँसकर अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा, तब कारण-शरीर बन गया और अन्तःकरण, पञ्चप्राणसहित पञ्चज्ञान-इन्द्रिय और पञ्चकर्म-इन्द्रियां मिलकर सूक्ष्मशरीर कहाया और पञ्चीकरण विधिके अनुसार सूक्ष्म पञ्च तत्त्वोंसे उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश नामक स्थूल पञ्चभूतोंके द्वारा स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। यह स्थूल-शरीर जीवके देह-पातके पश्चात् यहीं पड़ा रहता है और सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। स्थूल-शरीर केवल सूक्ष्म-शरीरका विस्तारमात्र है; जीव जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ कर्म भोगता है और जो कुछ कर्म्म भविष्यत्में भोगनेके अर्थ होंगे. उनका संस्कार संग्रह करता है; वह सब सूक्ष्म-शरीर द्वारा अन्तःकरणमें ही करता है। जब तक अविद्याकी स्थिति है, तब तक जीवरूपी चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण माने हुए है, जब तक उसका मानना है तब तक उस अन्तःकरणके काममें उसका फँसना भी रहेगा और जब तक यह

भ्रममूलक सम्बन्ध रहेगा तब तक नाना सुखदुःख-रूपी कर्मोंमें फँसता हुआ जीव आवागमनरूपी चक्र-पथमें भ्रमता रहेगा।

" योग " शब्दका अर्थ जोड़ना है अर्थात् जीवरूप चैतन्य जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा परब्रह्मसे भिन्न हो रहा है, उसकी इस भिन्नताको दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर जहांसे निकला था वहीं पुनः पहुँचा देनेका नाम योग है: अर्थात् जीवात्माको परमात्मामें जोड़नेका नाम योग है। इस प्रकार जीवको मुक्तिपदमें पहुँचानेके अर्थ वेदों और शास्त्रोंमें जितने प्रकारके साधन वर्णन किये गये हैं, वे सब चार विभागोंमें विभक्त हैं, यथा—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मंत्रका जप और शास्त्रोक्त किसी रूपका ध्यान करते करते चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम मंत्रयोग है, शारीरिक क्रियाद्वारा चित्त-वृत्तिका निरोध करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम हठयोग है, षट्चक्रके भेद द्वारा बहिर्मुखी शक्तिको ब्रह्माण्डमें लय करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम लययोग है और केवल बुद्धिकी सहायतासे ब्रह्मविद्या-विचार द्वारा चित्तवृत्तियोंसे उपराम होकर मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम राजयोग है *। जिस मूलभित्तिपर ये चारों साधन-मार्ग स्थित हैं उसका विवरण सातों दर्शन पुष्ट करते हैं, उन दर्शनोंमेंसे योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनने साधन-मार्गके क्रिया-सिद्धांशको भली-भांति सार्वभौम दृष्टिसे वर्णन किया है। सूत्रकार महर्षिने अपने दर्शनग्रन्थको चार भागोंमें विभक्त किया हैं; प्रथम भागमें योग अर्थात् समाधिका वर्णन किया है, द्वितीय भागमें योगके अनुकूल और योगके प्रतिकूल गुणों और क्रियाओंका वर्णन किया

* इन चार प्रकारके साधनोंका विस्तारित विवरण स्वतन्त्र स्वतन्त्र चार योगसंहिताओंमें द्रष्टव्य है।

है, तृतीयमें योगविभूतियोंका वर्णन किया है और चतुर्थ भागमें कैवल्य अर्थात् योग-साधनके लक्ष्यका वर्णन किया है।

सृष्टिकी क्रियासे लयकी क्रिया विपरीत है अर्थात् अनुलोमसे सृष्टि होती है और विलोमसे लय होता है। सृष्टिके समय ईश्वरसे प्रकृति, प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंतत्त्व, अहंतत्त्वसे मन और तदनन्तर पञ्चतन्मात्राएँ अर्थात् आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी और तत्पश्चात इनके ही विस्तारसे समस्त संसार उत्पन्न हुआ है; परन्तु लय होते समय इससे विपरीत होगा अर्थात् संसारका भावान्तर होकर पृथिवी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, और आकाशकी तन्मात्रा मनमें, मन अहंतत्त्वमें, अहंतत्त्व महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृतिके ईश्वरमें लय होनेपर ब्रह्मभावकी प्राप्ति होगी। योगशास्त्रमें यही सिद्ध किया गया है कि अन्तःकरण ही सृष्टि और लय करनेका कारण-स्थल हैं; अन्तःकरण-वृत्तिके साथ बहिर्जगत्का सम्बन्ध होनेसे सृष्टिका विस्तार होता है, वैसे ही अन्तःकरण-वृत्तियोंके निरोध करनेसे लयरूपी मुक्तिपदको प्राप्ति होती है। अब विचारना उचित है कि सृष्टिमें अन्तःकरणकी कौन कौनसी वृत्तियां रहती हैं और योगशास्त्रोक्त मुक्तिपदके प्राप्त करनेके अर्थ उन वृत्तियोंमें किस किस प्रकारका फेरबदल होता है। सत्, असत् अर्थात पाप, पुण्यके विचारसे वृत्तियोंके दो भेद हैं, यथा—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्तियाँ वे कहाती हैं कि जिनके द्वारा जीव दुःखदायक पाप संग्रह करता है, यथा—काम, क्रोध, हिंसा, अहंकार और द्वेष आदि और अक्लिष्ट वृत्तियां वे कहाती हैं जिनसे जीव सुखदायक पुण्य संग्रह करता है, यथा—दया, मैत्री, सरलता, क्षमा और शीलता आदि। जैसे सत्, असत् भेदसे अन्तःकरणकी वृत्तियोंके दो भेद हैं, वैसे ही गुणभेदसे अन्तःकरणकी पांच

भूमियाँ या अवस्थाएँ हैं प्रथम, तमोगुणकी भूमि वह है कि जिस समय मनमें चैतन्य अर्थात् ज्ञानका भाग बहुत कम हो और मन अपने ही स्वभावसे नाचता हुआ कहींसे कहीं अपने आप ही उन्मत्त हुआ फिरता हो, जैसे बे-लगामका घोड़ा; मनकी उस अवस्थाका नाम मूढ़ है। दूसरी, रजोगुणकी भूमि वह कहाती है कि जब मन किसी विशेष लक्ष्यके अवलम्बनसे बुद्धि-युक्त होकर सत्, असत् विचारमें प्रवृत्त होता है अर्थात् और कहीं न भटककर एक ही काममें लगा रहता है, मनकी इस अवस्थाका नाम क्षिप्त है और तीसरी, सत्त्वगुणकी भूमि वह कहाती है कि जब अन्तःकरण इन सब वृत्तियोंसे अलग होकर ठहर जाता है अर्थात् न उसमें मनकी उन्मत्तता ही रहती है और न बुद्धिका विचार ही रहता है, इस शून्य अवस्थाका नाम विक्षिप्त है; यह विक्षिप्त भूमि जीवमें बहुत थोडी देरके लिये कभी कभी हुआ करती है। मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त अन्तःकरणकी स्वाभाविक भूमियां हैं अर्थात् जिस अन्तःकरणमें जो गुण अधिक होगा उसमें उसी प्रकारकी भूमि अधिक हुआ करेगी; तामसी अर्थात् आलसी पुरुषोंमें मूढ़ भूमि, राजसी अर्थात् कर्मठ पुरुषोंमें क्षिप्तभूमि और साधुगणमें विक्षिप्त-भूमिकी स्थिति अधिक हुआ करती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तिसे मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त भूमियोंका एक ही सम्बन्ध है अर्थात् सत्, असत्के भेदसे सत्त्व और तमोगुण—ये ही दोनों प्रधान हैं, बीचका रजोगुण एक सहायक-मात्र है अर्थात् रजोगुण जब तमोगुणकी ओर चलने लगता है, उस समय अन्तःकरणमें क्लिष्ट अर्थात् पापजनक वृत्तियोंका उदय होता है, उसी प्रकार रजोगुण जब सत्त्वगुणकी ओर चलने लगता है तभी अन्तःकरणमें अक्लिष्ट अर्थात् पुण्यजनक वृत्तियोंका उदय हुआ करता है। योगशास्त्र यही सिद्ध करता है कि जब मूढ़,

क्षिप्त और विक्षिप्तभूमियोंमें पाप और पुण्यजनक कोई भी वृत्तियाँ अन्तःकरणमें न उठीं तो, उस वृत्तिशून्य निरुद्ध अवस्थासे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकारसे मुक्तिपदकी साधकरूपी निरुद्ध-अवस्थाके लाभ करनेके अर्थ योगशास्त्रने एक पंचम अवस्था बताई है, जिसका नाम एकाग्र है; यह एकाग्र अवस्था साधकगणमें ही उत्पन्न हो सकती है। जब अन्तःकरणमें केवल ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् लक्ष्य और ध्यान करनेकी क्रिया— इन तीनोंके अतिरिक्त और कुछ भी अनुभव न रहे, अन्तःकरणकी उस स्थिर अवस्थाका नाम एकाग्र है। इसी प्रकार इस एकाग्रभूमि-की दृढ़ता होजानेसे शनैः शनैः अन्तःकरणमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका नाश होकर वह निरुद्ध अवस्थाको प्राप्त हो जायगा, अन्तःकरणके निरुद्ध-अवस्थामें वृत्तिशून्य होनेसे उसकी निर्मलताके कारण जीव भगवत्-साक्षात्कार करके मुक्त हो जायगा। इस प्रकार जीवकी स्वाभाविक त्रिगुणमयी वृत्तियोंको एकाग्रतारूप योग-साधनसे दबाकर, निरुद्ध-अवस्थामें पहुँचकर, योग-क्रिया द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अन्तःकरण जब बहिर्मुख होकर तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी सहायतासे किसी विषयमें लग जाता है, तभी वह उस विषयके रूपको धारण करनेसे विषयवत् होकर विषयमें फँस जाया करता है, परन्तु जब एकाग्रताके साधनसे अन्तःकरणकी चंचलता दूर हो जायगी, तो वह पुनः बहिर्मुख हो ही नहीं सकेगा, तत्पश्चात् जब अन्तःकरणकी पूर्ण स्थिरता होनेसे निरुद्ध-भावका उदय होगा, तभी वह आत्मसाक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जायगा। इसी एकाग्र—भूमिकी वृद्धि करते करते निरुद्ध-भूमिमें पहुँचजानेको ही योग कहते हैं।

जैसे पक्षी एक पंख द्वारा नहीं उड़ सकता अर्थात् जब तक उसके दोनों पंख कार्य्यकारी न हों तब तक उड़नेकी शक्ति नहीं

होगी, उसी प्रकार साधकमें जब तक साधन और वैराग्यरूपी दो पंख न हों, तब तक वह मुक्तिरूपी स्थानमें गमन नहीं कर सकेगा। प्रकृति परिवर्तनशील है, इस कारण उससे बना हुआ यह संसार क्षणभंगुर है, चाहे यह लोक हो चाहे परलोक, चाहे नरभूमि हो चाहे सुरभूमि, सभी तीन गुणोंके परिवर्तनके कारण क्षणभंगुर हैं ऐसा विचार करके जब साधकका अन्तःकरण इस संसारके सब प्रकारके सुख और स्वर्गादि पारलौकिक सुखको अनित्य अर्थात् मिथ्या समझकर उस ओरसे मुंह फेर लेता है, तब वह विषय-रागरहित अवस्था ही वैराग्य कहाती है। शास्त्रकारोंने इस वैराग्य-के चार भेद लिखे हैं। जब विवेकरूपी सात्त्विक बुद्धिके उदयसे साधक यह विचारने लगता है कि यह सब मायाका खेल झूठा है, अब इससे बचकर मुक्तिपदकी ओर चलना चाहिये, तब वैराग्यकी प्रथम अवस्था समझी जाती है, वैराग्यकी दूसरी अवस्था वह कहाती है कि जिस समय विवेकी व्यक्ति विषयोंकी क्षण-भङ्गुरता और विषयका दोष विचार द्वारा निश्चय करके विषयभोगसे बचनेके लिये यत्न करने लगा हो। पुनः जब यह वैराग्यबुद्धि दृढ़ होकर साधकका अन्तःकरण सब पदार्थोंको ही दुःखमय देखने लगता है, अर्थात् जैसे बलपूर्व्वक विषपान करनेमें जीवको अतिक्लेश अनुभव होता है, वैसे ही जब सब सुख ही साधक-को दुःखमय विषतुल्य भान होने लगते हैं, तब ही वह वैराग्यकी उन्नतअवस्था तृतीय अवस्था है, इस तृतीय अवस्थामें विषयोंकी स्थूलसेवा एकबार ही लय होजानेपर भी विषयोंका मानसिक संस्कार शेष रह जाता है। चौथी दशा उससे आगे है। सर्वश्रेष्ठ परवैराग्यकी अवस्था वह कहाती है कि जिस समय साधक वैराग्यसाधनसे ऐसी पूर्णताको प्राप्त हो गया हो कि उस समय उसके अन्तःकरणने एकबार ही संसारसे मुंह फेर लिया हो, वह

वैराग्यकी सर्वश्रेष्ठ अवस्था चौथी अवस्था है। जब परवैराग्यके उदय होनेसे अन्तःकरण पूर्णरूपेण इच्छाशून्य होजाता है, तव वह संसारकी ओर देखता ही नहीं। योग-पथमें अग्रसर होते हुए महात्मागणको नाना प्रकारकी दिव्य ऐसी सिद्धियोंकी प्राप्ति हुआ करती है, जिनके द्वारा योगी चाहे जो कुछ कर सकता है, यह परवैराग्यकी ही शक्ति है कि जिससे साधक पुनः सिद्धिरूप विषयोंमें नहीं फँसते। इस कारण वैराग्यकी पूर्णावस्था परवैराग्य और साधनकी पूर्णावस्था अन्तःकरणकी निरुद्धता इन दोनोंका एक ही लक्षण है। इस प्रकार क्लिष्टरूपी पापजनक वृत्तियोंको शनैः शनैः अक्लिष्टरूपी पुण्यजनक वृत्तियोंसे दवाना उचित है और पुनः वैराग्य—अभ्याससे अक्लिष्ट वृत्तियों तकको दवाकर इच्छारहित होनेसे मुक्तिपदकी प्राप्ति हो सकती है।

योगशास्त्रने साधन और वैराग्ययुक्त पुरुषार्थके आठ भेद किये हैं और वे ही योगके आठ अग कहाते हैं; यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, ईश्वर-विश्वास और लोभका त्यागना, ये यम कहाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये नियम कहाते हैं। इस प्रकार यम और नियम द्वारा जब अन्तः-करणकी वृत्ति शुद्ध हो जाती है तभी साधक योग-मार्गमें अग्रसर होता है। आसन उन शारीरिक क्रियाओंका नाम है कि जिनके द्वारा शरीर और मन दोनों प्रसन्न रहते हैं; अर्थात् जिस सुगम रीतिमें बैठनेसे योग-साधन ठीक बनता हो। रेचक, पूरक और कुंभक द्वारा शनैः शनैः प्राणवायुपर आधिपत्य जमानेका नाम प्राणायामक्रिया है; अर्थात् मनसे वायुका साक्षात् सम्बन्ध है इस कारण प्राणवायु वशीभूत होनेसे मन आप ही वशीभूत हो जाता है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगोंको सकोड़ लेता है

उसी प्रकार विषयोंसे इन्द्रियोंको सकोड़ लेनेका नाम प्रत्याहार है। पञ्चतत्त्वादि सूक्ष्म विषयोंमें मनको ठहरानेका नाम धारणा है; अर्थात् धारणा-अभ्यासके समय योगी अन्तर्जगत्‌में भ्रमण करने लगता है। भगवत्‌रूपको ध्यान करनेका नाम ध्यान है अर्थात् ध्यानावस्थामें ध्यानकी सहायतासे ध्याता और ध्येयका ज्ञान रहता है; यही द्वैत-अवस्था ध्यानकी है। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन साधन-क्रियाओं द्वारा जब साधक एक ही पदार्थ-विशेषमें युक्त हो तो साधककी उस अवस्थाको संयम कहते हैं, यह संयम-क्रिया सविकल्प समाधिमें हुआ करती है। यह संयम-साधनकी ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षिगण त्रिकालदर्शी हुआ करते थे। यह उस संयम-साधनकी ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षिगणने विना बहिश्चेष्टाके केवल संयमसे ही युक्त होकर नाना शारीरविज्ञान एवं ज्योतिष आदि नाना बहिर्विज्ञानोंका आविष्कार किया था। संयमसम्बन्धीय इन साधनोंका वर्णन विभूतिपादमें आया है। समाधि उस अवस्थाका नाम है कि जब ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनोंकी स्वतंत्र सत्ता मिटकर एक रूप हो जाय और सिवाय परमात्माके और दूसरा भाव न रहे। इस प्रकारसें यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चारों बहिर्जगत्‌के साधन हैं, और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान ओर समाधि ये चारों अन्तर्जगत्‌के साधन हैं; इस प्रकार सुकौशलपूर्ण योगके आठ अङ्गोंका साधन करते करते साधक शनैः शनैः अन्तःकरणको निरुद्ध करता हुआ कैवल्यरूपी मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है।

पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिकृत "योगदर्शन" सकल प्रकारके साधनोंकी सार्वभौम भित्ति है; अर्थात् साधक चाहे किसी प्रकार-का हो, चाहे वह मंत्रयोगका अधिकारी हो, चाहे वह हठयोगका अधिकारी हो, चाहे वह लययोगका अधिकारी हो, चाहे वह

राजयोगका अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी, चाहे भोगी हो चाहे त्यागी, योगशास्त्र सब प्रकारके जीवोंके लिये कल्याण-पथ दिखा चुका है। चार प्रकारके योगसाधनमार्ग और नाना प्रकारके साम्प्रदायिक-साधनमार्ग और भक्तिसाधनादि सब इसी योगशास्त्रकी प्रदर्शित भित्तिपर स्थित हैं। अष्टांगयोगके अतिरिक्त और भी कई प्रकारसे योगकी प्राप्ति हो सकती है, इसका वर्णन भी योगसूत्रोंमें भलीभांति आ चुका है। जीव-हितकारी महर्षिजीने यह प्रमाणित कर दिया है कि अष्टांगयोग ही सीधा और साधारण पथ है; परन्तु इसके अतिरिक्त असाधारण मार्गमें ईश्वरभक्तिका अभ्यास, प्रणव आदि मंत्रोंका जप, प्राणायाम-साधन, पञ्चतन्मात्रारूपी दिव्य विषयोंमें मनका लयसाधन करना ज्योतिः आदि भगवत्‌रूपका ध्यान, मनकी शून्यता-अभ्यास और अपने इच्छा-अनुसार शुद्ध मूर्तियोंमें मन लगाकर ध्यान करनेसे भी शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र हो जाता है और इस प्रकार एकाग्र होता हुआ निरुद्ध अवस्थाको प्राप्त करके जीव मुक्तिपदको पहुँच सकता है। चाहे कोई किधरसे चले योगशास्त्रकी बताई हुई एकाग्र-भूमिसे निरुद्ध-भूमिमें पहुँचनेका नाम ही साधन है।

योगशास्त्रने समाधिके दो भेद किये हैं; यथा—सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधिमें साधकका अन्तःकरण निरुद्ध हो जानेसे वह भगवत्‌साक्षात्कार करने लगता है, परन्तु दर्शन करना तब बना रहता है अर्थात् समाधिकी इस पूर्व अवस्थामें जीवको आत्म-साक्षात्कार तो हो जाता है, परन्तु द्वैतका भेद बना रहता है। निर्विकल्प समाधि वह कहाती है जहाँ प्रकृतिका पूर्णरूपेण ही लोप होकर जीव और ब्रह्मकी एकताका स्थापन हो जाय, अर्थात् उस समय एक अद्वितीय सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्माके सिवाय और कोई दूसरा भान न रहे।

यही योगमार्गका कैवल्यरूपी मुक्तिपद कहाता है, इस स्थानपर आकर वेदोक्त सब मत एक हो जाते हैं, यही वेदान्तका ब्रह्म-सद्भाव है, यही भक्तिमार्गकी पराभक्ति है, यही और-और दर्शनोंकी अत्यन्त दुःख-निवृत्ति है और यही वेदोक्त आत्म-साक्षात्कार है। इसी अवस्थामें जीवके जीवत्वका नाश हो जाता है, वह जहाँसे आया था वहीं पहुँच जाता है, जो था वही हो जाता है। अनादिकालसे उत्पन्न हुई और अनन्तकाल तक रहनेवाली यह सृष्टिक्रिया यदि उस समय भी रहेगी, तो वह जीव कि जिसने योग-साधनरूपी पुरुषार्थ किया था, योग-साधनसे मुक्त हो जायगा और उसके मुक्त होनेके कारण उसके अंशकी प्रकृति महाप्रकृतिमें लय हो जायगी। वह आकाश पतित, पुनरावृत्तिको प्राप्त हुए वारिबिंदुकी तरह परमात्मारूपी महासमुद्रमें लय हो जायगा। यह वाक्यातीत, मनके अगोचर मुक्तावस्था ही योगसाधनका लक्ष्य है।

ज्ञानभूमियोंके सप्तभेदानुसार वैदिक दर्शनशास्त्रसमूह भी सप्तधा विभक्त हैं। तदनुसार महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनके द्वारा स्वकीय ज्ञानभूमि प्रकाशित होनेपर भी इसमें विशेषता यह है कि अन्य किसी दर्शनकी ज्ञानभूमिके साथ योगदर्शनका विरोध नहीं है। प्रायः एक दर्शन स्वकीय ज्ञानभूमिकी दृढ़तासम्पादनार्थ अन्य-ज्ञानभूमिपर कटाक्ष करता है और यद्यपि इस प्रकार परकीय दूषण और स्वकीय मण्डनद्वारा ज्ञानभूमिके तारतम्यानुसार दार्शनिक बोधशैलीकी पुष्टि ही होती है तथापि योगदर्शनमें इस प्रकार खण्डन-मण्डन प्रणालीका लवलेश नहीं है। यह इस परमोपयोगी दर्शनकी समदर्शिता और सर्वहितकारिताका श्रेष्ठ निदर्शन है।

योगदर्शनके विज्ञानके साथ सांख्यदर्शनविज्ञानका घनिष्ठ सम्बन्ध है। योगदर्शनविज्ञान वैदिक काण्डत्रयप्रतिपादक मीमांसा-त्रयका परम सहायक है और यौगिक क्रियासमूहका मूलरूप

है। इसके द्वारा सकल प्रकारकी उपासनाओंमें विशेष सहायता प्राप्त होती है।

अन्य दर्शनोंसे योगदर्शनकी यह और एक विशेषता है कि इसमें दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय केवल दो प्रकारके कर्म ही माने गये हैं जिससे पुरुषार्थवादियोंके लिये यह दर्शन विशेष उपकारी है। इस दर्शनके मतानुसार योगी पुरुषार्थके प्रभावसे सभी कुछ कर सकता है। अन्य दर्शनोंके अनुसार मुमुक्षु साधक, धीरे-धीरे अधिकारानुकूल उन्नतिपथमें अग्रसर होता है, परन्तु योगदर्शन स्वकीय अलौकिक योगशक्ति द्वारा सभीको सब प्रकारके अधिकार प्रदानमें समर्थ होता है, यही अन्यदर्शनोंसे इसकी विशेषता है। किसी दर्शनकी भूमिमें ईश्वरका पता ही नहीं लगता है, अन्य कोई दर्शन केवल दूर ही से अनुमान करके ईश्वरका गुणगान करता है, परन्तु योगदर्शनकी यह परम महिमा है कि इसके द्वारा योगी ईश्वरराज्यकी अणिमादि विभूतिपर्यन्त प्राप्त कर लिया करते हैं। इस दर्शनकी और भी एक विशेषता यह है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनोंमें विचारकी सहायतासे मुमुक्षुको क्रमशः अध्यात्मपथमें अग्रसर किया जाता है, योगदर्शनमें उसका अवलम्बन तो किया ही गया है, अधिकन्तु पुरुषार्थ-प्रधान साधनोंका भी प्रयोग साथ साथ होनेसे और साधनक्रियाओं-से उत्पन्न प्रत्यक्ष फलोंकी भी प्राप्ति इसमें होनेसे योगदर्शनपथमें विचरणशील मुमुक्षुजनोंके हृदयमें श्रद्धा तथा विश्वासकी दृढ़ता सदा ही बनी रहती है और इसकी ज्ञानभूमिके प्रति परम प्रीति-का सञ्चार साधकके हृदयमें सदा ही होता रहता है, जिससे अध्यात्मज्ञानोन्नति और स्वरूपस्थिति उसके लिये बहुत ही सहज हो जाती है।

योगदर्शनमें चित्त और अन्तःकरण शब्दको पर्यायवाचक

करके वर्णन किया गया है। स्मृतिमें भी लिखा है—

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा अन्तःकरणमेव च।
प्रज्ञा संविच्चितिर्मेधा पूर्वंद्धिस्मृतिचञ्चलाः।
पर्यायवाचकाः शब्दा मनसः परिकीर्तिताः॥

मन, महान्, मति, ब्रह्मा, अन्तःकरण, प्रज्ञा, संवित्, चित्त, मेधा आदि शब्द पर्यायवाचक हैं। इसी चित्त अर्थात् अन्तःकरण-को यमनियमादि साधारण उपाय अथवा ईश्वरप्रणिधान, अभिमत ध्यानादि असाधारण उपाय, किसीकी भी सहायतासे निरुद्धकर देने पर पुरुष प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होकर स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाता है, यही इस दर्शनका सार सिद्धान्त है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनोंकी भूमियोंको अतिक्रमण करके साधक योगदर्शनकी भूमिको प्राप्त करता है। योगदर्शन और सांख्यदर्शनकी भूमि प्रायः एक ही प्रकारकी है। केवल इतना ही भेद है कि सांख्यकारने स्पष्टरूपसे पच्चीस तत्त्वोंको माना है और योगदर्शनने छब्बीस तत्त्वोंको माना है। योगदर्शनमतानुसार वह छब्बीसवां तत्त्व ईश्वर है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सांख्यदर्शनकारने ईश्वरको माना ही नहीं, प्रत्युत् उन्होंने 'ईश्वरासिद्धेः' इस सूत्रके द्वारा ईश्वरके अस्तित्वका स्वीकार ही किया है। केवल इतनी ही बात है कि सांख्यदर्शनमें लौकिक पुरुषार्थके द्वारा ईश्वर असिद्ध है परन्तु यौगिक अलौकिक पुरुषार्थ द्वारा ईश्वर सिद्ध है ऐसा ही कहा है। सांख्यदर्शनभूमिमें अलौकिक पुरुषार्थका प्रयोजन नहीं है इसलिए इस भूमिमें ईश्वर माननेकी आवश्यकता ही नहीं है और योगदर्शन अलौकिक योगशक्तिका पक्षपाती है इसलिए योगदर्शनभूमिमें ईश्वर अङ्गीकृत है। यही दोनों दर्शनभूमियोंकी एकता और प्रभेद है। यदि सांख्यदर्शनमें ईश्वर अङ्गीकृत एकबारगी ही न होते तो "ईश्वरासिद्धेः" अर्थात्

ईश्वर असिद्ध है ऐसा सूत्र न होकर "ईश्वराभावात्" अर्थात् ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा सूत्र होता। अतः सांख्य और योग दोनों दर्शन ही आस्तिक हैं इसमें सन्देह नहीं।

इस हिन्दी-भाष्यमें श्रीभगवान् वेदव्यासकृत योगदर्शनभाष्य-की ही व्याख्यारीतिका अवलम्बन किया गया है। केवल व्यासकृत भाष्य अतिसंक्षिप्त और दुर्बोध्य है इसलिए उसीके विज्ञानको ही विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अन्यान्य टीकाकार तथा वृत्तिकारोंके भी सिद्धान्त जो व्यासभाष्यके ही अनुकूल हैं, वे ही इसमें कहीं कहीं सन्निवेशित किये गये हैं। आशा है इस हिन्दीभाष्यके पठन द्वारा जिज्ञासुगण परितृप्ति लाभ कर सकेंगे।

योगदर्शन

समाधिपाद

अब योग विषयका अनुशासन कहा जाता है ॥१॥

"अथ" शब्द माङ्गलिक है अर्थात् विघ्नविनाश और निर्विघ्न-परिसमाप्तिरूप मंगलके अर्थ "अथ" शब्दका प्रयोग होता है। स्मृतिमें भी लिखा है—

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

पूर्वकालमें ओंकार और अथ, ये दोनों शब्द ब्रह्माजीके कण्ठ भेद करके निकले थे इसलिये ये दोनों ही माङ्गलिक हैं। 'अथ' शब्दका प्रयोग अधिकारार्थमें भी होता है अर्थात् तत्त्व-ज्ञान-प्रकाशके लिये अधिकारनिर्णयकी अपेक्षा रहती है इसलिये अधि-कारार्थक अथ शब्द प्रयुक्त होता है। तृतीयतः अथ शब्दका 'आनन्तर्य' अर्थमें भी प्रयोग होता है अर्थात् राजानुशासन और शब्दानुशासनके अनन्तरही योगानुशासन होता है, यही— 'आनन्तर्य' अथ शब्दके द्वारा प्रकट किया गया है। प्रकृति त्रिगुणमयी होनेसे मनुष्योंकी बुद्धि भी तीन प्रकारकी होती है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है--

---

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

जिस बुद्धिके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्ष यथावत् परिज्ञात होता है वही बुद्धि सात्त्विक है। जिस बुद्धिके द्वारा धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य यथावत् परिज्ञात नही होता है वह बुद्धि राजसिक है। तमसावृत जो बुद्धि धर्ममें अधर्म और अधर्ममें धर्म दिखावे तथा सकल विषयोंमें ही विपरीत ज्ञान उत्पन्न करे वही बुद्धि तामसिक है। तामसिक बुद्धिपर आवरण अधिक होने से राजदण्ड और समाजदण्डके द्वारा ऐसी बुद्धि न्यायपथमें प्रवर्तित की जाती है। राजसिक बुद्धि संशययुक्त होनेसे वेद और आचार्यके उपदेशोंसे सन्देहोंका निराकरण किया जाता है। अतः तामसिक और राजसिक अधिकारोंके लिये राजानुशासन और शब्दानुशासन हितकर है; किन्तु सात्त्विक बुद्धि सर्वथा मलिनता मुक्त और स्वच्छ होनेसे उसके लिये योगानुशासन ही हितकर होगा। सात्त्विकबुद्धि-सम्पन्न साधक गुरूपदिष्ट अष्टाङ्गयोगके साधन द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करके स्वरूपसाक्षात्कार अनायास ही कर सकेंगे। अतः 'अथ' शब्दका अधिकारानुसार आनन्तर्य अर्थमें प्रयोग युक्तियुक्त है। समाधिवाचक युज् धातुसे बननेके कारण 'योग' शब्दका अर्थ समाधि है और समाधि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकारकी होनेसे तटस्थभूमिसे लेकर स्वरूपभूमिपर्यन्त चित्तका समस्त परिणाम ही योगशब्दवाच्य है। 'अनुशासन' शब्दका अर्थ आज्ञा है अर्थात् अधिकारि-

निर्णयानन्तर योगकी आज्ञा की जाती है यही इसका अर्थ है। जितने दर्शनशास्त्र हैं वे सब वेदार्थके समझानेके अर्थ दर्शन अर्थात् नेत्ररूप हैं। प्रत्येक दर्शन-शास्त्रने वेदके आशयके एकएक दिक्‌को वर्णन किया है; उसी नियमके अनुसार महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन योगमार्गका प्रकाशक है; अर्थात् पूज्यपाद महर्षि कुछ इस दर्शनके सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं परन्तु वेदके योग-अंशके प्रकाशक हैं; इस कारण महर्षिजीने 'अनुशासन' शब्दका प्रयोग किया है। द्वितीयतः योगशास्त्र सार्व्वभौममत युक्त है इस कारणसे भी अनुशासन शब्दका प्रयोग प्रथम सूत्रमें किया गया है। तात्पर्य यह है कि तामसिक बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये राजानुशासन और राजसिक बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये शब्दानुशासन विहित होनेसे केवल सात्त्विकवुद्धिसम्पन्न उन्नत मनुष्योंके लिये योगानुशासनका विज्ञान प्रारम्भ किया गया। यही प्रथम सूत्रके कहनेका उद्देश्य है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त अनुशिष्यमाण योग क्या वस्तु है ?

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है ॥ २ ॥

'चित्त' शब्दसे यहाँ अन्तःकरणसे अभिप्राय है, इस अन्तःकरणकी वृत्तियोंका प्रतिलोमविधिके अनुसार स्वकारणमें लय हो जानेका नाम योग है। अन्तःकरणकी भूमियोंके भेदानुसार यह लय दो प्रकारसे होते हैं—एक त्रिपुटिके सूक्ष्म अस्तित्वके साथ सम्प्रज्ञात समाधि दशामें और दूसरा त्रिपुटिके पूर्ण विलय होनेसे असम्प्रज्ञात समाधि दशामें। योगाचार्योंने अन्तःकरणकी पाँच भूमियाँ बताई हैं। यथा मूढ़; क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जब अन्तःकरण सत् असत् विचारहीन हो आलस्य, विस्मृति आदिके वश रहकर कुछसे कुछ करता रहता है, अर्थात्

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

जिस प्रकार बे-लगामका घोड़ा या आलसी मनुष्यका चित्त उन्मत्त हो कहींसे कहीं भागता रहता है; उसी प्रकार जब चित्त चंचल हो अपने आप नाचता रहता है तो चित्तकी इस प्रकारकी तमोमूलक प्रवृत्ति मूढ़भूमिका लक्षण है। दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है, यह भूमि रजोगुणकी है; अर्थात् जब मन किसी एक कार्य्यमें लगकर बुद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है, जैसे लगामका घोड़ा या विचार-वान् वा किसी कर्ममें तत्पर पुरुषके चित्तकी अवस्था होती है, वह क्षिप्तभूमि है। क्षिप्तसे विशेषतायुक्त तीसरी भूमिका नाम विक्षिप्त है, यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होती है, अर्थात् जब अन्तःकरण कभी-कभी सुख और दुःख, विचार और आलस्य, तमोगुण और रजोगुणकी वृत्तिसे अलग होकर सूना हो जाता है वह सत्त्वगुणकी भूमि है, इस भूमिकी प्राप्ति सांसारिक मनुष्योंमें बहुत थोड़ी देरके लिये कभी-कभी हुआ करती है। अन्तःकरणकी यह तीन प्रकारकी भूमियाँ सब मनुष्योंमें गुणोंके भेदसे साधारण रीतिपर हुआ करती हैं और अपने अपने गुणानुसार न्यूनाधिक होती हैं। इन तीनों से जब मनुष्यका चित्त अलग होकर ठहर जाय अर्थात् किसी प्रकारकी वृत्ति ही न उठे वही अवस्था चित्तकी निरुद्ध भूमिकी कहाती है और यही योगका लक्ष्य है और इस ही निरुद्ध भूमिके प्राप्त करने-के अर्थ जो उपाय शास्त्रोंमें कहे गये हैं अर्थात् चित्तकी स्वाभाविक वृत्तियोंसे अलग एक नयी प्रकारकी जो भूमि है, जो श्रीगुरु महाराजके उपदेश द्वारा साधन करनेसे ही होती है, उस भूमिको एकाग्र भूमि कहते हैं। जब चित्तमें ध्याता, ध्यान और ध्येय इन पदार्थोंके अतिरिक्त चौथा पदार्थ और कुछ भी नहीं रहता, तब ध्यानके द्वारा ध्येय पदार्थमें ही ध्याताका लक्ष्य जम जानेसे इस भूमिका उदय होता है। इस प्रकारसे मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त,

यह अन्तःकरणकी तीन साधारण भूमियां तथा एकाग्र और निरुद्ध यह दो असाधारण भूमियां मिलकर अन्तःकरणकी पांच भूमियां कहाती हैं, प्रथम तीन भूमियां तो सब जीवगणमें ही हुआ करती हैं किन्तु शेष दो भूमियां केवल योगानुशासनके अधिकारी साधक-गणमें ही हो सकती हैं। एकाग्र भूमिमें जब साधन करते करते ध्याता अर्थात् साधक सिद्ध अवस्थामें पहुँच जाता है तब ही उसके चित्तकी ध्याता ध्यान ध्येय रूपी तीन अवस्थायें एक हो जाती हैं। एकाग्र भूमिके साधनोंका अभ्यास करते-करते योगी क्रमशः तटस्थ अधिकारसे स्वरूपके अधिकारमें पहुँचने लगता है, अर्थात् एकाग्र दशामें त्रिपुटि रहती है, परन्तु क्रमशः साधनकी उन्नतिसे निरुद्धभूमिमें पहुँचकर त्रिपुटि और तटस्थज्ञानका लय हो जाता है। उसी अन्तिम निरुद्ध भूमिमें क्रमशः समाधिकी पूर्णता प्राप्त होजाती है और वही निरुद्ध-अवस्था योगका लक्ष्य है। निरुद्धभूमिका उदय होकर योगीको प्रथमतः सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्राप्ति होती है जिसमें त्रिपुटिकी विलयदशा होने पर भी उसकी अतिसूक्ष्म सत्ता अवश्य ही बनी रहती है। इसके अनन्तर जब त्रिपुटिकी वह भी सूक्ष्मतम सत्ता एकबार ही नष्ट होकर विकल्परहित स्वरूपावस्थाकी स्थिति होजातो है तब उस अवस्थाको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्थामें संस्कार-लेश तक न रहनेसे इसको निर्वीज भी कहते हैं और इसमें विवेकका उदय होनेसे उसकी 'धर्ममेघ' संज्ञा भी होती है। यही चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग है॥ २॥

चित्त वृत्तिनिरोधसे क्या होता है?

तब द्रष्टा (पुरुष) अपने स्वरूप में अवस्थान करता है ॥३॥

वह अन्तःकरण ही है कि जिसके साथ पुरुष अर्थात् चैतन्यका

तदा द्रष्टुस्स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

सम्बन्ध होनेसे पुरुष अपने आपको अन्तःकरणवत् मानने लगता है और यह मान लेना ही बन्धनका हेतु है। इस अन्तःकरणके तीन भेद हैं; यथा-मन, बुद्धि और अहंकार। जब अन्तःकरण एक विषयसे दूसरे विषयमें लगातार दौड़ता रहता है और कोई अपना एक लक्ष्य स्थापन नहीं करता तो अन्तःकरणके उस भेदको मन कहते हैं; जब वह मन किसी एक पदार्थ-विशेषमें ठहर जाता है और ज्ञानकी सहायतासे सत् असत्के विचारमें लग जाता है तब अन्तःकरणकी वह प्रकाशमान अवस्था बुद्धि कहाती है; अहंकार अन्तःकरणके उस भावको कहते हैं कि जिस भावसे अन्तःकरण अपने आपको एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगता है, अन्तःकरणमें उस अहंतत्त्वके, जिसकी उत्पत्तिसे चैतन्य अविद्यामें फँसा था, विस्तारका नाम ही अहंकार है; अहंकार सब समय अन्तःकरणमें वर्त्तमान रहता है इस कारणसे ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र अन्तःकरण स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे सब समय सृष्टिक्रिया कर रहे हैं। इन्हीं तीन—मन, बुद्धि, अहंकार रूप अन्तःकरण * के चंचल प्रभावसे ही पूर्ण ज्ञानरूप चैतन्य अपने स्वरूपको अनुभव नहीं कर सकते हैं। पुरुष वास्तवमें नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है क्योंकि बन्धन यदि पुरुषका स्वाभाविक धर्म होता तो स्वाभाविक धर्मके यावद्द्रव्यभावित्व होनेसे पुरुषकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती है। प्रकृतिके द्वारा पुरुषका केवल औपचारिक बन्धनमात्र है; अर्थात्

* मतान्तरमें अन्तःकरणके चार भेद बताये गये हैं। यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। उसमेंसे चित्तको संस्कारोंका आश्रय कहा गया है। चित्त-गत संस्कार ही स्मृतिका उदय करके जीवको कर्मचक्रमें आवर्त्तन करता है ऐसा उन मतोंका सिद्धान्त है। परन्तु इस दर्शनमें चित्तको मनका ही अन्तर्भाव कहनेसे इसका पृथक् निर्देश नहीं किया गया।

जिस प्रकार जवाकुसुमके सामने स्फटिकके रहनेसे स्फटिकमें जवाकुसुमका लौहित्य उपचरित होता है उसीप्रकार प्रकृतिके सामने रहनेसे पुरुषमें प्रकृतिजन्य आभिमानिक बन्धन-मात्र होता है। जब योग-साधनसे अन्तःकरणकी सब वृत्तियाँ ठहर जाती हैं तब केवल द्रष्टारूप अर्थात् साक्षीरूप जो चैतन्य हैं वे ही अपने स्वरूपमें रह जाते हैं। पूर्ण ज्ञान-रूपी चैतन्यके प्रभावसे ही अन्तःकरण कर्म्म कर सकता है, क्योंकि वह चैतन्य ही की शक्ति है कि जिससे जड़पदार्थ अन्तःकरण चैतन्यमान हो रहा है, और पूर्व्व कहे हुए सत्त्व रज और तमकी वृत्तियोंके साथ नाना प्रकारके कर्म कर रहा है; अब योग-साधनमें जब अन्तःकरणका निरोध हो जायगा और उसमें वृत्ति ही नहीं उठेगी तो उस चैतन्यरूपी पुरुषको फँसानेवाला भी कोई नहीं रहेगा; तब आप ही वे चैतन्य अपने रूपको प्राप्त हो जायँगे। अर्थात् दर्पणपर जब तक नाना प्रकारके रंगोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था तब तक वह यही समझ रहा था कि मैं उस ही रंगका पदार्थ हूँ, परन्तु साधन द्वारा उन सब रंगोंका नाश कर दिया जायेगा तो आप ही दर्पण अपने पूर्वरूपको प्राप्त हो जायगा। इसके उदाहरणमें तरंग और जलाशयकी गतिको विचार सकते हैं अर्थात् जब तक जलाशयोंमें तरंग उठा करते हैं तब तक मनुष्य उसमें अपना मुँह नहीं देख सकता; परन्तु जलाशयके तरंगोंके शान्त हो जानेपर शान्त जलाशयमें दर्शक अपना मुख भलीभाँति दर्शन कर सकता है। इसी प्रकार नाना प्रकारके वृत्तियुक्त अन्तःकरणका निरोध होनेसे केवल द्रष्टारूप चैतन्य ही रह जायँगे और इस अवस्थाकी प्राप्ति ही योगसाधनका लक्ष्य है; और इस प्रकारसे वे सच्चिदानन्दरूपी चैतन्य जब अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं वही मुक्ति कहाती है ॥ ३ ॥

स्वरूपमें अवस्था न होने से पुरुषकी क्या दशा होती है ?

यदि ऐसा न हो तो वे वृत्तिके रूपको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

"यदि ऐसा न हो" इससे यह तात्पर्य्य है कि यदि योगसाधन-से चैतन्यको निज स्वरूपकी प्राप्ति न हो जैसा कि पूर्वसूत्रमें कह चुके हैं तो वे चैतन्य अन्तःकरणकी वृत्तिके साथ वृत्तिके रूपको धारण कर लेते हैं। इस वर्णनका तात्पर्य यह है कि वृतिचाञ्चल्य-अवस्थामें जीवकी क्या दशा होती है? वृत्तियोंके रूपको ही तब वह जीव प्राप्त होजाता है। यही जीवकी बन्धन दशा है। सब प्रकारके जीवोंमें यही वृत्तिसारूप्यकी दशा बनी रहती है। विज्ञान-वित् योगियोंके विचारमें सब जीव ही वृत्तियोंकी समष्टिके एक पुतलेमात्र हैं। अब इस सूत्रमें इतना विचार करनेके योग्य है कि किस प्रकारसे चैतन्य वृत्तियोंके साथ मिल जाते हैं? अविद्याके कारण मोहयुक्त होकर चैतन्य पहले अपने आपको अन्तःकरण करके मानने लगे और जब अन्तःकरणका सम्बन्ध तन्मात्रा और इन्द्रियों-के द्वारा किसी विषयमें हुआ तो वे अन्तःकरणमें फँसे हुए पुरुष इन सुख दुःखरूपी वृत्तियोंमें फँसकर अपने आपको उसका कर्त्ता और भोक्ता समझने लगते हैं, यथा—यदि किसी पुरुषकी दृष्टिमें कोई अतिमनोहर पदार्थ आवे तो उस पुरुषके अन्तःकरणमें उस पदार्थका चित्र तन्मात्रा और इन्द्रियोंके द्वारा पहुँचकर उस अन्तः-करणको प्रफुल्लित करने लगता है, परन्तु उस शरीरमें स्थित चैतन्य भी अपने आपको अन्तःकरण करके मान रहे हैं, इस कारण इस सुन्दर विषयसे अन्तःकरणको सुख होनेसे उस चैतन्यने अपने आपको सुखी करके जाना है और इस भूलसे ही जीवरूपी चैतन्य सदा फँसा रहता है। यहाँ पर शान्तघोरमूढस्वभाव वृत्तियोंके साथ पुरुषका संयोग कबसे हुआ ऐसा प्रश्न उठाकर श्रीभगवान्

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

वेदव्यासजीने अपने योगदर्शनभाष्यमें कहा है कि अविद्या और वासनाका विस्तार बीजाङ्कुरवत् अनादि होनेके कारण नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव पुरुषके साथ बन्धनकारिणी प्रकृतिका अनादि सम्बन्ध ही समझना चाहिये। इसी अनादि अविद्याके संयोगसे ही मुक्तस्वभाव पुरुष भी प्रकृतिगत सुख-दुःखादिको अपनेमें आरोपित करके व्युत्थानदशामें वृत्तिरूप होजाते हैं यही पुरुषका औपचारिक बन्धन है ॥ ४ ॥

अब जीवबन्धनकारिणी वृत्तियोंके भेद बताये जाते हैं :-

पञ्चावयव वृत्तियोंके क्लिष्ट और अक्लिष्ट ये दो भेद होते हैं ॥ ५ ॥

अन्तःकरणके चाञ्चल्यमूलक परिणाम-विशेषको ही वृत्ति कहते हैं हैं। यदि त्रिगुणभेदसे अन्तःकरणकी वृत्तियां अनन्त हैं परन्तु सूक्ष्म विचार करनेसे उन सबोंको पांच अवयवमें हो विभक्त कर सकते हैं। यथा-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प आदि जो कि आगेके सूत्रमें बताया गया है। ये सभी वृत्तियां दो प्रकारकी हैं, यथा— क्लिष्ट और अक्लिष्ट, क्लिष्ट वृत्ति उन पापजनक वृत्तियोंको कहते हैं कि जिनसे अन्तःकरणको दुःख पहुँचता हो, यथा—हिंसा, द्वेष, क्रोध आदि। और अक्लिष्ट वृत्तियां उन पुण्यजनक वृत्तियोंका नाम है कि जिनसे अन्तःकरणको सुख पहुँचता हो, यथा—वैराग्य, दया और सरलता आदि। परन्तु इन दोनोंमें विचार इतना ही है कि जब क्लिष्ट वृत्ति उठती हो तो अक्लिष्ट वृत्ति दब जायगी, और जब अक्लिष्ट वृत्ति उठती हो तो क्लिष्ट वृत्ति दब जायगी, इस कारण जिन मनुष्योंमें क्लिष्ट वृत्तियां अधिक हैं वे ही पापी मनुष्य कहाते हैं। यह संसार द्वन्द्वमूलक है—ज्ञान और

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

अज्ञान, दिवा और रात्रि, राग और द्वेष, सुख और दुःख आदि इस द्वन्द्वके प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। इसी स्वाभाविक कारणसे अन्तःकरणमें सत्त्वप्रधान भाव और तमःप्रधान भाव इन दोनोंका रहना भी स्वतः सिद्ध है। जब जलाशयरूपी अन्तःकरणकी तरङ्गरूपी वृत्तियां लहराती हुई सत्त्वभावकी ओर चलती हैं तभी वे अक्लिष्ट हो जाती हैं, उससे पुण्य होता है और जब वे तरङ्गरूपी वृत्तियां तमोभावकी ओर तरङ्गायित होती हैं तब उन्हींको क्लिष्ट कहते हैं। क्लिष्ट वृत्तिद्वारा पाप होता है। इन्हीं दोनोंका फल स्वर्ग और नरक प्राप्ति है। नरकमें दुःखभोग और स्वर्गमें सुखभोग होता है। योगकी लक्ष्यरूपी मुक्ति इन दोनोंसे अतीत है। इसी कारण मुक्तिके पथमें जब जाना पड़ेगा तो अक्लिष्ट-वृत्तियोंसे क्लिष्ट-वृत्तियोंको दबाना पड़ेगा और सब प्रकारकी वृत्तियोंको अर्थात् अक्लिष्ट वृत्तियों तक को भी परवैराग्यसे दबाना पड़ेगा, जिसका विवरण आगे सूत्रोंमें आवेगा ॥ ५ ॥

वृत्तियोंके पञ्चावयव क्या क्या हैं ?

वृत्तियोंके प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पञ्चावयव हैं ॥ ६ ॥

अन्तःकरणकी अनन्त वृत्तियोंका सूक्ष्म दृष्टिसे विभाग करनेसे पाँच प्रकारोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। अन्तःकरणमें उदीयमान अगणित क्लिष्टाक्लिष्टजातीय वृत्तियोंका यही संक्षेपतः पञ्चावयव विभाग है। यह संसार द्वन्द्वमूलक होनेसे और सृष्टिके आदि कारणमें पुरुष और प्रकृतिरूपी द्वैत विद्यमान रहनेसे जड़चेतनात्मक और ज्ञानाज्ञानात्मक भावमूलक दशाको अवलम्बन करके ही अन्तःकरणरूपी

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

जलाशयमें तरङ्गरूपी चित्तवृत्तियां प्रकट होती हैं। उन वृत्तियोंको दो दशाएँ होती हैं—एक कारणरूपी दशा और एक कार्यरूपी दशा। कार्य अवस्थामें वृत्तियाँ अनेक रूपको धारण कर लेती हैं इसी कारण शास्त्रोक्त अन्तःकरणकी वृत्तियाँ अनेक हैं। यथा— हिंसा, द्वेष आदि अनन्त पापजनक वृत्तियाँ और प्रेम दया आदि आनन्द पुण्यजनक वृत्तियाँ हैं। परन्तु कारण अवस्थामें पाञ्चभौतिक अन्तःकरण पाँच ही कारणवृत्ति उत्पन्न करता है, जिनके पृथक् लक्षण आगे सूत्रोंमें किये जायँगे॥ ६॥

अब इन पञ्चावयवोंमेंसे प्रथम अवयव प्रमाणका लक्षण कहा जाता है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं॥ ७॥

यथार्थज्ञानको प्रमा कहते हैं, प्रमाका जो करण है अर्थात् यथार्थ ज्ञानसिद्धिके लिये जो साधकरूप है उनका नाम प्रमाण है। मीमांसा—दर्शनने छः प्रकारका प्रमाण माना है। यथा— प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि और अर्थापत्ति। इसी प्रकारकी न्याय-दर्शनने केवल प्रमाण करनेमें चार ही प्रकारकी वृत्तियोंकी सहायता ली है, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, और उपमान। परन्तु सांख्य और योगदर्शनने प्रमाणके अर्थ केवल इस सूत्रमें कही हुई तीन वृत्तियोंको ही स्वीकार किया है। विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि, और दर्शन—कर्त्ताओंने जो चार अथवा छः प्रकारसे प्रमाणको सिद्ध किया है वे और कुछ नहीं हैं केवल इन तीन प्रकारोंके ही विस्तारमात्र हैं। वेदार्थके प्रमाण करनेके निमित्तही सप्त दर्शनोंका जन्म है, परन्तु सातों दर्शनोंने वेदार्थ-प्रमाण करनेकी गति तीन अवलम्बन

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ७॥

की है, यथा—उत्तरमीमांसा दैवीमीमांसा और पूर्व्वमीमांसाकी गति एकरूप है, न्याय और वैशेषिककी गति एकरूप है और सांख्य और पातञ्जलकी गति एकरूप है, प्रत्येक विभागके दर्शन एक एक ही पथपर चले हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण उसको कहते हैं कि जब ज्ञान—इन्द्रियोंके साथ किसी वस्तुका प्रत्यक्ष अर्थात् व्यवधान-रहित सम्बन्ध पड़े और ज्ञान-इन्द्रियगण उस वस्तुका साक्षात् अनुभव प्राप्त करें, यथा—नेत्रोंके सामने दीपककी ज्वाला। अनुमानादि प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक ही होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणोंसे श्रेष्ठ है और इसीलिये इसका प्रथम निर्देश किया गया है। अनुमान प्रमाण उसको कहते हैं कि जब किसी वस्तुका पूर्व्व ज्ञान हो और उस वस्तुके लक्षणोंका भी ज्ञान हो, पुनः बिना उस वस्तुके देखे केवल उसके लक्षणोंके देखनेसे ही उस वस्तुका अनुमानसे प्रमाण करलिया जाय, यथा—दूरवर्ती पर्व्वतमें धूम्रको देखकर अग्निका प्रमाण करना। और आगम प्रमाण उसको कहते हैं कि आप्त अर्थात् भ्रम-रहित सत्-पदार्थके जाननेवाले पुरुष जो सत्-वार्त्ता उपदेश करें उन्हीं सत्-वाक्योंको प्रमाण मान लेना। आगमप्रमाणसे प्रायः वेदका प्रमाण ही सिद्ध होता है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रणीत हैं, इस कारण अभ्रान्त हैं। योगदर्शन यही स्वीकार करता है कि केवल इन तीन प्रकारके ज्ञानसे ही पदार्थका प्रमाण-ज्ञान प्राप्त होता है। पञ्चावयव वृत्तियोंमेंसे प्रमाणवृत्तिकी इस प्रकार महिमा सिद्ध होनेपर भी प्रमेयके सम्बन्धसे ही प्रमाणज्ञान होनेके कारण तटस्थ ज्ञानकोटिमें ही प्रमाणका अन्तर्भाव है। अतः तटस्थ-दशासे अतीत होकर स्वस्वरूपमें पुरुषकी प्रतिष्ठा लाभकेलिये प्रमाण-वृत्तिका भी निरोध करना अत्यावश्यकीय होगा इसमें सन्देह नहीं॥ ७॥

अब द्वितीयावयव विपर्य्ययका लक्षण किया जाता है :—

किसी पदार्थके यथार्थरूपसे विरुद्ध मिथ्या ज्ञानको विपर्य्यय कहते हैं ॥ ८ ॥

जिस प्रकार कभी मार्ग चलते हुए मनुष्यको रात्रिमें रज्जु देखकर सर्पका भ्रम-ज्ञान होता है, जिस प्रकार मृगको मरीचिका-भ्रम होता है और जिस प्रकार सीपके देखनेसे रजतका भ्रम होता है, इसी प्रकारके भ्रम-पूर्ण ज्ञानको विपर्य्यय कहते हैं। सन्देह-पूर्ण-ज्ञानको भी विपर्य्यय-ज्ञान समझना उचित है; क्योंकि यह ज्ञान भी भ्रमशून्य नहीं है। प्रमाण-ज्ञानसे विपर्य्यय-ज्ञानका खंडन होजाता है। 'अतद्रूपप्रतिष्ठित' शब्दका अर्थ यह है कि जिस वस्तुका वास्तविक जो स्वरूप हो उससे विरुद्ध अथवा सन्देहयुक्त भावमें उसका अनुभव होना। यथा—एक चन्द्रमें द्विचन्द्रदर्शन अथवा आत्मा है कि अनात्मा है, सुख है कि दुःख है, इस प्रकार सन्देह। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने इस प्रकार मिथ्या ज्ञानको पञ्चपर्वमें विभक्त किया है। यथा–तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र। पुराणमें भी लिखा है:—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र, अविद्याके ये पञ्च पर्व हैं। समस्त क्लेशोंके मूलस्वरूप अनित्याशुचिदुःखादिमें विपरीत ज्ञानमूलक अविद्याको तम कहते हैं। बुद्धि प्रतिविम्बित चैतन्यका प्रकृतिसङ्गवशात् अपनेको प्रकृतिसे अभिन्न माननारूप अस्मिता ही मोह है। संयमादिसाधनशून्य होनेपर भी सभी मेरा सुखकर होजाय इस प्रकार रागको महामोह कहते हैं। दुःखके

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

अनेक कारण विद्यमान रहने पर भी 'मुझे दुःख न हो' इस प्रकार द्वेषमूलक विपर्ययभावको तामिस्र कहते हैं और जीव शरीर अनित्य होनेपर भी 'मेरी मृत्यु न हो' इस प्रकार सबमें होनेवाले मरणत्रासरूप अभिनिवेशको अन्धतामिस्र कहते हैं। इस प्रकार पञ्चपर्वमें विभक्त विपर्ययज्ञानसे अनेक मिथ्याज्ञान उत्पन्न होकर पुरुषको संसारचक्रमें विघूर्णित करते हैं। अतः पुरुषकी स्वरूप-प्रतिष्ठाके लिये विपर्यय-ज्ञानका निरोध अवश्य कर्त्तव्य है ॥ ८ ॥

तदनन्तर तृतीयावयव विकल्प-वृत्तिका लक्षण किया जाता है:-

यथार्थभावशून्य केवल शब्दज्ञानमात्रसे निश्चय-परावृत्तिको विकल्प कहते हैं ॥ ९ ॥

किसी पदार्थको सुनकर उस पदार्थकी सत्यता और असत्यता पर विना बुद्धि जमाये जैसा सुना वैसा ही मान लेनेको विकल्प कहते हैं। यथा—संसार कहता है कि "प्रातःकाल सूर्य्य निकलते हैं और सन्ध्याको छिप जाते हैं" इस बातको सुनकर सूर्य्यके निकलने और छिपनेको स्वीकार कर लेना ही विकल्पज्ञान हुआ; क्योंकि वास्तवमें सूर्य्यदेव न तो निकलते और न छिपते हैं, पृथिवी-की चालसे ही ऐसा दर्शन होता है। अब प्रश्न यह होता है कि जब विकल्पवृत्तिके साथ शाब्दज्ञानका सम्बन्ध है, तो इसको प्रमाणवृत्तिके अन्तर्गत क्यों न माना जाय अथवा यथार्थ सत्ता-शून्य होनेसे विपर्यय वृत्तिसे ही क्यों इसकी पृथकता मानी जाय? इसका उत्तर यह है कि विकल्पवृत्तिके साथ शाब्दज्ञानका सम्बन्ध रहनेपर भी शशश्रृङ्गकी तरह यथार्थभावशून्य होनेके कारण यथार्थज्ञानमूलक प्रमाणवृत्तिकी कोटिमें विकल्पका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। द्वितीयतः विकल्पवृत्तिके मिथ्याज्ञानरूप होनेपर

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

भी शाब्दज्ञानके साथ इसका सम्बन्ध रहनेके कारण शाब्दज्ञानके सम्पर्कसे शून्य विपर्ययवृत्तसे इसकी पृथक्ता अवश्य सिद्ध है। अतः उल्लिखित लक्षणयुक्त विकल्पवृत्ति, प्रमाण और विपर्यय दोनों वृत्तियोंसे ही भिन्न तृतीय वृत्ति है। यह विकल्पज्ञान भी प्रमाण-ज्ञानसे नष्ट होजाता है और तदनन्तर समस्त वृत्तियोंके निरोधसे पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठा होती है॥ ९॥

तदनन्तर चतुर्थावयव निद्रावृत्तिका लक्षण किया जाता है:—

प्रमाणादि वृत्तियोंके अभावके कारणको अवलम्बन करके जिस वृत्तिका उदय होता है उसे निद्रा कहते हैं॥१०॥

अन्तःकरणकी प्रमाण, विपर्ययादि वृत्तियां तब ही तक जाग्रत् रह सकती हैं जब तक मनके साथ विषयरूप अवलम्बन बना रहे; परन्तु जब अन्तःकरणमें तमोगुणके अधिक बढ़जानेसे उल्लिखित-वृत्तियां अवलम्बनसे हट आती हैं; तब उनके अभावके प्रत्यय अर्थात् कारणरूप तमोगुणको आश्रय करके जिस वृत्तिका उदय होता है उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि निद्रा-वस्थामें विषयसम्बन्धका अभाव होनेपर भी निद्राको वृत्ति क्यों कहा गया है। इसके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यास-जीने कहा है कि निद्रान्तमें "सुखमहमस्वाप्सं, प्रसन्नं मे मनः, दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनः, मूढोऽहमस्वाप्सं, क्लान्तं मे मनः" अर्थात् मैं सुखसे सोया था मेरा चित्त प्रसन्न है, मैं दुःखसे सोया था मेरा चित्त दुःखी है, मैं मूढभावसे सोया था मेरा चित्त क्लान्त है, इस प्रकार त्रिगुणतारतम्यानुसार तीन प्रकारकी स्मृति निद्रावस्थामें अनुभवको सूचित करती है, अतः निद्रावस्थामें अनुभवका अस्तित्व रहनेसे निद्रा वृत्ति है। परन्तु निद्रामें जो

अभावप्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

स्वप्न अवस्था हो जाती है वह यथार्थ निद्रा नहीं है, स्वप्न अवस्था जागने और सोनेके बीचकी एक ऐसी अवस्था है कि जिसमें, जाग्रत् अवस्थाकी प्रमाण, विपर्य्यय और विकल्प इन तीनों प्रकारकी वृत्तियोंका अनुभव अन्तःकरणके गुणभेदसे हुआ करता है; और इसी प्रकार स्वप्न भी मनुष्योंको तीन प्रकारके हुआ करते हैं; यथा-सात्त्विक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और तामसिक स्वप्न। जो सच्चे स्वप्न हैं अर्थात् जिनका फल सच्चा होता है वह सात्त्विक स्वप्न कहलाते हैं और वही स्वप्नकी उत्तम अवस्था है; और इसी का वर्णन शकुन आदि शास्त्रोंमें पाया जाता है। जिस समय स्वप्न अवस्थामें रजोगुण अधिक हो उस समय जाग्रदशामें देखे हुए पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं और यह अवस्था ही स्वप्नकी मध्यम अवस्था है; और जब स्वप्नमें तमोगुणकी प्रधानता अधिक होती है तो कुछसे कुछ विचित्र स्वप्न दिखाई देते हैं; प्रायः विषयी जीवको ऐसे स्वप्न ही अधिक आते हैं और यही स्वप्नकी अधम अवस्था है। दर्शनकर्ता महर्षिजीका यही तात्पर्य्य है कि स्वप्नावस्था प्रमाण, विपर्य्यय और विकल्प इन तीनों वृत्तियोंसे रहित नहीं है, परन्तु निद्रावस्था एक स्वतन्त्र वृत्ति है, जिसमें यह तीनों वृत्तियाँ नहीं होतीं। अब इसमें पुनः यह प्रश्न हो सकता है कि जब निद्रारूपी वृत्तिके उदय होनेपर प्रमाण, विपर्यादि वृत्तियोंका अभाव होकर अन्तःकरण विषयभावरहित हो एकाग्रता-को प्राप्त करता है और जब श्रुतिमें भी यह लिखा है कि "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्येतं ब्रह्मलोकम्" अर्थात् सुषुप्तिके समय समस्त जीव नित्य ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मानन्दका उपभोग करते हैं तो निद्रावृत्तिको समाधिका बाधक क्यों कहा जाय? इसका उत्तर यह है कि निद्रावस्थामें अन्तःकरण विषयज्ञानरहित होकर स्वकारणमें लय हो जाने पर भी वह लय अविद्याबहुल तमोगुणके

द्वारा है, अतः इस प्रकार अविद्या-सहित लयके द्वारा विवेक-परिपाकरूप समाधिजनित स्वरूपस्थिति नहीं प्राप्त हो सकती है और यही कारण है कि जीव सुषुप्तिदशामें नित्य ब्रह्मलोकमें जाने पर भी वहाँसे नित्य लौट आता है और पूर्ववत् विषयी ही बना रहता है। श्रुतिमें भी कहा है "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति" अर्थात् सुषुप्तिके समय समस्त वैषयिक वृत्तियोंके विलीन होने पर जीव तमोगुणमें आच्छन्न होकर ब्रह्मानन्द-का उपभोग करता है। अतः निद्रावृत्तिके उदय होनेसे अन्तःकरण की एकाग्रता रहनेपर भी उससे आत्यन्तिक एकाग्रता और दुःख-नाश नहीं होता है। इसलिये पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठाके लिए निद्रा-वृत्तिका भी निरोध करना उचित है ॥१०॥

तदनन्तर पञ्चमावयव स्मृतिका लक्षण किया जाता है :—

अनुभव किये हुए पदार्थोंको अन्तःकरणसे न हटने देनेको स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

प्रमाण, विपर्यय और विकल्प यह तीनों जाग्रत् अवस्थाकी वृत्तियाँ हैं और जब ये तीनों वृत्तियाँ अन्तःकरणमें नहीं उठतीं उसी समयका नाम निद्रा है, परन्तु स्मृति इन चारों अवस्थाओंको स्मरण रखनेवाली वृत्ति है, अर्थात् इन चारों अवस्थाओंके प्राप्त होनेमें अन्तःकरणको जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभव हुआ था उसको अपना अनुभव मानकर थामे रहना और अन्तःकरणसे हटने न देनेका ही नाम स्मृति है, अर्थात् अन्तःकरणमें जो कुछ अनुभव हुआ करते हैं उन सबोंके संस्कारोंको स्मरण रखनेका नाम स्मृति है। जाग्रत्स्वप्न भेदसे स्मृति दो भागमें विभक्त है। यथा—अभा-वितस्मर्त्तव्या और भावितस्मर्त्तव्या, प्रमाण, विपर्यय और विकल्प

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

वृत्तिके द्वारा उत्पन्न विषय-संस्कारोंकी जो जाग्रद्दशागत स्मृति है उसीको अभावितस्मर्त्तव्या कहते हैं और जाग्रद्दशागत विषयोंके स्वप्नमें उद्‌बुद्ध होनेसे तज्जन्य जो स्मृति है उसको भावितस्मर्त्तव्या कहते हैं। सुषुप्तिकालमें प्रमाण, विपर्यय और विकल्प वृत्तिके न रहनेपर भी निद्रावृत्तिके समय 'सुखसे सोनेका' जो अनुभव अन्तः-करणमें स्थित रहकर जाग्रद्दशामें उद्‌बुद्ध होता है वही निद्रावृत्तिकृत स्मृति है। अनुभवसे स्मृतिका यह प्रभेद है कि अनुभव अज्ञात विषयका होता है, परन्तु स्मृति केवल ज्ञातविषयकी ही होती है। इसीलिये सूत्रमें 'असम्प्रमोष' शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रमाण, विपर्यय आदि ये समस्त वृत्ति ही सुख दुःख मोहोत्पादक होनेसे क्लेशोंके अन्तर्गत हैं, अतः पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठाके लिये इनका निरोध करना अत्यावश्यक है॥ ११॥

वृत्तियोंका वर्णन करके अब उनके निरोधका उपाय बताया जाता है:—

अभ्यास और वैराग्यसे इनका निरोध होता है ॥१२॥

पूर्व सूत्रोंद्वारा महर्षि सूत्रकारने अन्तःकरणकी अनन्त वृत्तियोंके पांच विभाग करके वर्णन किये हैं; अब उन वृत्तियोंके निरुद्ध करनेका उपाय बताते हैं। यह पूर्वलिखित सब प्रकारकी वृत्तियां अर्थात् जो कुछ वृत्तियां अन्तःकरणमें उठती हों, वे सब सत्त्व, रज, तमोगुण भेदसे अथवा राग, द्वेष और मोहके भेदसे उठा करती हैं; इस कारण जब किसी प्रकारकी भी वृत्ति अन्तः-करणमें न उठे वही योग वा मुक्तिका लक्ष्य है और यह अवस्था साधन और वैराग्यसे ही प्राप्त होसकती है। यदि च साधन-अभ्यास और वैराग्य-अभ्यास करते समय मोहका अर्थात् तमो-

---

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

गुणका तो नाश होजाता है, परन्तु, रजोमिश्रित सत्त्वगुण तब तक वर्तमान ही रहता है जब तक कि साधन अथवा वैराग्यपूर्ण अवस्थाको न पहुँचे अर्थात् जबतक अन्तःकरणकी वृत्तियां पूर्णरूपेण निरुद्ध होकर कैवल्यकी प्राप्ति न होजाय। महर्षियोंने साधन और वैराग्यको इस प्रकारसे वर्णन किया है कि अन्तःकरणरूपी जल-प्रवाहके दो पथ हैं, एक नदी कैवल्यरूपी ऊँचे पहाड़से निकलकर विवेकरूपी भूमिमें बहती हुई परम कल्याणरूपी सागरमें जा मिलती है और दूसरी नदी संसाररूपी पर्वतसे निकल अज्ञानरूपी भूमिमें बहती हुई अधर्म्मरूपी समुद्रमें जा गिरती है, जल तो उतना ही है परन्तु धारायें दो हैं, जब तक संसारके पहाड़की नदी बहती रहेंगी तब तक कैवल्य-पहाड़की नदी आप ही सूखी रहेगी परन्तु वैराग्य-रूपीबान्धसे संसाररूपी नदीके प्रवाहको जितना रोका जायगा और साधन द्वारा उस जलका स्रोत जितना कैवल्यपर्वतकी नदीकी ओर प्रवाहित किया जायगा उतनी ही कैवल्यपर्वतकी नदी अति-वेगसे विवेकभूमिमें बहती हुई कल्याणसागरमें मिलकर जीवको परम कल्याण प्रदान करेगी, इस रूपकसे यह तात्पर्य है कि चित्त-वृत्तिके प्रवाहको यदि तमकी ओर प्रवाहित किया जाय तो क्रमशः जड़त्व अर्थात् अधोगतिकी प्राप्ति होगी, परन्तु यदि उसी चित्त-वृत्ति प्रवाहको केवल सत्त्वकी ओर बहाया जाय तो अन्ततः परम ज्ञानरूपी "कैवल्यपद" की प्राप्ति हो जाती है। वेदोंने ऐसा भी कहा है कि जैसे एक पंख द्वारा पक्षी नहीं उड़ सकता परन्तु दोनों परोंसे एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जा सकता है, इसी प्रकार केवल साधन या केवल वैराग्यसे जीव मुक्तिपथमें नहीं चल सकता, वैराग्यसे तो संसारके बन्धनको ढीला करता जाता है और साधनसे मुक्तिकी ओर बढ़ता जाता है, जब तक बहिर्ब-न्धन शिथिल न हो तब तक वह अन्तरकी ओर चल नहीं सकता

और यदि वन्धन शिथिल भी होजाय तो भी जब तक चलनेकी शक्ति न हो तब तक अन्तर्की ओर अग्रसर नहीं होसकता। इस कारण चित्तवृत्ति निरोधरूपी मुक्तिके प्राप्त करनेमें वैराग्य और साधन दोनोंकी ही आवश्यकता है। यथा—श्री गीतोपनिषद्में "अभ्यासेन तु कौन्तेन वैराग्येण च गृह्यते" अर्थात् अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी सहायतासे चित्तवृत्तिनिरोध होता है। इन दोनोंमें से वैराग्यकी आवश्यकता प्रथम है। क्योंकि जब तक विषयदोष-दर्शनरूप वैराग्य द्वारा चित्तकी बहिर्मुखीनता नष्ट न होगी, तब तक उसकी अन्तर्मुखीनताको अभ्यास द्वारा स्थिर करना असम्भव होगा। अतः वैराग्य द्वारा अन्तःकरणको विषयसे हटाकर पश्चात् अभ्यास द्वारा निरोधभूमिमें उसको पहुँचाना ही योगसाधनका लक्ष्य है ॥ १२ ॥

वह अभ्यास क्या वस्तु है ?

वहाँ अर्थात् स्वरूपमें स्थिर रहनेके लिये यत्न करना ही अभ्यास है ॥ १३ ॥

वे सत्चित्आनन्दरूपी परमात्मा निश्चल हैं, परन्तु अन्तःकरण सदा ही चंचल रहनेके कारण उनके भावको ग्रहण नहीं करसकता, किन्तु जब शनैः शनैः अभ्यासद्वारा अन्तःकरण निर्वात-प्रदीपकी नाईं ठहर जाय तब ही उनका प्रकाश प्रकाशित होजाता है। साधन ऐसे शनैः शनैः अभ्यासको कहते हैं कि जब अन्तःकरण बल उत्साह और यत्नपूर्वक उन्हीं परमाराध्य परमेश्वरकी ओर लगता रहे। गांठका लगाना और गांठका खोलना यह दोनों कर्म ही हैं, अर्थात् गाँठ लगानारूप कर्म और गाँठ खोलनारूप कर्म दोनोंमें हाथ हिलाना ही पड़ता है, परन्तु गाँठ लगानारूप कर्म्मसे पदार्थ फँस

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

जाता है और गाँठ खोलनारूप कर्मसे बँधा हुआ पदार्थ खुल जाता है, इसी प्रकार जीवके स्वाभाविक-कर्म और साधन-कर्म दोनों कर्म ही हैं, परन्तु त्रिगुणद्वारा कराये हुए जीवके स्वाभाविक कर्ममें तो जीव फँसता हुआ आवागमनरूप भूल भुलइय्याँमेंसे निकल नहीं सकता, और वेद-विहित साधन-कर्म द्वारा साधक मुक्तिमार्ग-में अग्रसर होता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त होजाता है, इस मुक्तिपद अर्थात् योगके लक्ष्य पदार्थको प्राप्त करनेके लिये जो कुछ सुकौशल-पूर्ण कर्म किया जाय उसीका नाम अभ्यास है। वे अभ्यासकर्म या साधनकर्म अधिकारभेदसे अनेक प्रकारके होसकते हैं। सोपान-द्वारा ऊपर छतपर चढ़ते समय चाहे चढ़नेवाला किसी सोपान पर उपस्थित हो, वह व्यक्ति छतपर चढ़ रहा है ऐसा ही मानना पड़ेगा, अवश्य सोपानोंके क्रममें परम्पराभेद होगा, ठीक उसी प्रकार साधनके सुकौशलपूर्ण क्रियाओंमें परम्पराभूमि और अधि-कारभेद अवश्य रहता है, परन्तु स्वरूप उपलब्धिकी भूमिकी ओर अग्रसर करनेवाले जितने कर्म होंगे वे सब साधन कहलाएँगे। इस विज्ञानको अवलम्बन करके सनातन कर्ममें अनेक अधिकारभेद और साधनभेद निर्णीत हुए हैं ॥ १३ ॥

अभ्यासकी दृढ़ता कैसे होती है ?

दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार अर्थात् श्रद्धा ब्रह्मचर्य विद्यादिके द्वारा सेवित होनेपर अभ्यासकी-भूमि दृढ़ होती है ॥ १४ ॥

नियमित अभ्यास स्वभावमें परिणत होजाता है, इसी कारण जब तक साधनमें दृढ़ता न होगी तब तक वह पूर्ण फलदायक न होगा, क्योंकि दृढ़ता पूर्वक साधन करनेसे नियम बनेगा और नियम

स तु दीर्घकालनैरंतर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

पूर्वक अभ्यास करनेसे वह स्वाभाविक होजायगा। शास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है कि प्रथम सदाचारोंका साधन करके मनुष्य मनुष्यत्व लाभ करता है, पुनः वर्ण और आश्रम-धर्मका अभ्यास करता हुआ उन्नत ज्ञान-भूमिमें पहुँच जाता है, और जब ज्ञानकी प्राप्ति-से सत् असत् अर्थात् ब्रह्म और सृष्टि इन दोनोंका ज्ञान हो जाता है, तबही वह सृष्टिके फंदेसे छूटकर मुक्त होना चाहता है, और तत्पश्चात् श्रीमद्गुरुजी महाराजकी कृपासे अष्टांग-योग मूलक मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग आदि नानाप्रकारके साधन द्वारा चित्तवृत्तियोंको निरोध करता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है, इसी कारण साधनमें दीर्घकालकी आवश्यकता है और नियमित अभ्याससे ही जीवकी प्रकृति पलट सकती है, अर्थात् उसकी बहिर्द्दष्टि छूटकर अन्तर्द्दष्टि होजाती है, परन्तु यदि नियमित अभ्यास न हो और उसका अभ्यास मध्य मध्यमें खंडित होजाता हो तो उस अभ्याससे उसकी प्रकृति बदल नहीं सकती, क्योंकि उसकी दृष्टि जब ही अन्तर्‌से बहिर्मुख होगी तबही वह फिर पूर्ववत् फँस जायगा, इसकारण जो कुछ साधन किया जाय वह निरन्तर अर्थात् अखण्डितरूपसे किया जाय तब ही फलदायक होगा और जब तक शास्त्र, गुरुवाक्य और साधनमें साधककी श्रद्धा नहीं होगी तब तक वह कदापि उस साधनको नियमित कर नहीं सकेगा इस कारण श्रद्धाकी भी अतीव आवश्यकता है। शास्त्रोंमें श्रद्धा तीन प्रकारकी कहीं गई है। यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासान्तु लक्षणं विप्राः ! शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥

प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा ।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥

अर्थात् जीवोंके प्रकृतिभेदानुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। विशुद्धज्ञानमूलक श्रद्धा सात्त्विक है, प्रवृत्ति और विज्ञानमूलक श्रद्धा राजसिक है और विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक है। इनमेंसे सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ कही गयी है। इसकारण चित्तवृत्ति-निरोधकरणार्थ अभ्यासकी दृढ़ता सम्पादनकेलिये श्रद्धाके साथ दीर्घ कालव्यापी निरन्तर साधनकी परमावश्यकता है ॥ १४ ॥

अब चित्तवृत्तिनिरोधके लिये अनुष्ठेय दूसरे उपायका लक्षण बताया जाता है—

दृष्ट (इहलौकिक) और आनुश्रविक (पारलौकिक) विषयोंके प्रति वितृष्ण पुरुषकी जो वशीकार-संज्ञा है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

दृष्ट अर्थात् ऐहलौकिक सुख वे हैं कि जिनको जीव अपनी ज्ञान-इन्द्रियोंसे अनुभव करके उनमें फँसकर उनके पानेकी इच्छा करता रहता है; यथा—पुत्र कलत्र आदिका सुख, धन ऐश्वर्यका सुख और नाना प्रकारके क्षणभंगुर वैषयिक सुख। और आनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक सुख वे कहाते हैं कि जिनका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और जिनका भोग इस शरीरके त्याग करनेपर प्राप्त होनेकी आशा है; यथा-स्वर्गादि लोकके नाना प्रकारके दिव्य सुख। क्या इहलोक, क्या परलोक, क्या इहलोकका सुख, क्या परलोकका सुख, सब ही माया-रचित हैं और सब

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

ही क्षणभंगुर हैं; इस कारण जब विचारदृष्टिके उदय होनेसे इन दोनों प्रकारके सुखोंकी कुछ भी इच्छा नहीं रहती और अन्तःकरण उस ओरसे मुख फेर लेता है तब ही मुमुक्षुके चित्तमें वशीकार-संज्ञा अर्थात् ये सब विषय मेरे वश्य हैं, मैं इनके वश नहीं हूँ इस प्रकारके भावका उदय होता है जिसको वैराग्य कहते हैं। योगाचार्योंने वैराग्य-भूमिमें क्रमोन्नतिकी चार अवस्थायें बतायी हैं। यथा—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। इस जगत्‌में सार क्या है और असार क्या है, गुरु और शास्त्रकी सहायतासे इसके जाननेके लिए जो यत्न है वही चित्तकी यतमान अवस्था है। चित्तमें जितने दोष पहले थे उनमेंसे इतने नष्ट हो गये हैं और इतने बाकी हैं इस प्रकारके विवेचनको व्यतिरेक अवस्था कहते हैं। विषरूप विषयमें दुःखज्ञान द्वारा इन्द्रियोंकी अप्रवृत्ति होनेपर भी अन्तःकरणमें जो विषय तृष्णाकी स्थितिकी अवस्था है उसे एकेन्द्रिय अवस्था कहते हैं। और अन्तमें अन्तःकरणसे भी विषय-तृष्णाका नाश होनेसे चित्तकी जो अवस्था होती है उसे ही वशीकार अवस्था कहते हैं। इन चार अवस्थाओंके अनुसार योगशास्त्रमें वैराग्यके भी चार भेद बताये गये हैं। यथा—मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य, अधिमात्र-वैराग्य और परवैराग्य। जब विवेकवान् व्यक्तिके विवेकयुक्त अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंका दोष अनुभवमें आने लगता है, अन्तःकरणकी उस वैराग्यवृत्तिको मृदु-वैराग्य कहते हैं। इसके अनन्तर जब विवेकभूमिमें अग्रसर साधकके अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंके प्रति अरुचि होने लगती है, विवेकी साधककी उस उन्नततर दशाका नाम मध्यवैराग्य है। वैराग्यकी तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब विषयभोगमें विवेकीको प्रत्यक्ष दुःख प्रतीत होने लगे,

दुःखदायी पदार्थोंमें चित्तकी आसक्ति होना असम्भव है अतः विषयोंका दुःखदायी भाव जब साधकके अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित हो जाता है जिससे विषयका स्वतः ही सम्बन्ध त्याग हो जाता है, वैराग्यकी उस उन्नततम अवस्थाका नाम अधिमात्र-वैराग्य है। इस दशामें स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा विषयमें अनासक्ति रहने पर भी अन्तःकरणका सूक्ष्म संस्कार रह जाता है और जब ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयमात्रसे योगयुक्त साधकका अन्तःकरण एक बार ही संस्कारशून्य होकर मुख फेर लेता है अन्तःकरणकी उस सर्वश्रेष्ठ अवस्थाका नाम परवैराग्य है। पूर्वकथित अन्तःकरणकी चार भूमिके साथ इन चार प्रकारके वैराग्यका, समन्वय करनेसे यह सिद्धान्त होता है कि यतमान-अवस्थासे मृदु वैराग्य, व्यतिरेक अवस्थासे मध्यवैराग्य, एकेन्द्रिय अवस्थासे अधिमात्र-वैराग्य और वशीकार अवस्थासे परवैराग्यका सम्बन्ध है। यही चतुर्धा विभक्त वैराग्यका लक्षण है ॥ १५ ॥

अब परवैराग्यका विशेष कारण बताया जाता है—

परवैराग्य वह है जिसमें पुरुषका प्रकाश होजानेसे प्रकृति-के गुणोंमें पूर्णरूपेण अरुचि हो जाती है ॥ १६ ॥

प्रकृतिके तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं, परन्तु पुरुष इनसे निर्लिप्त अर्थात् तीनों गुणोंसे अलग है। जब अन्तःकरण बाहरकी ओरसे मुख फेर लेता है तब उसमें पुरुषका प्रकाश होने लगता है और तब उसको पुनः बाहरकी ओर अर्थात् प्रकृतिके गुणोंकी ओर देखनेकी इच्छा ही नहीं होती; ज्ञानका उदय होते ही उसको जब यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि प्रकृति ही दुःखरूपी

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

सृष्टिका कारण है और यह शुद्ध मुक्त पूर्ण-ज्ञानरूपी अवस्था उससे अलग है, और जो कुछ यथार्थ सुख है वह इसी अवस्थामें है, तब फिर वह अन्तःकरण कैसे पुनः प्रकृतिके गुणोंकी इच्छा कर सकता है। जब तक ऐसा ज्ञान पूर्णताको प्राप्त नहीं होता अर्थात् जब अन्तःकरणकी दृष्टि बाहरसे भीतरकी ओर फिर तो गई हो परन्तु कभी-कभी वह पूर्व अभ्याससे बाहरकी ओर दृष्टि डाला करता है उस अवस्थाका नाम अपरवैराग्य है, परन्तु जब यह ज्ञानरूपी अवस्था पूर्णताको प्राप्त होजाती है अर्थात् उस ज्ञानकी निर्विघ्न स्थिति होजाती है तब ही उसका नाम परवैराग्य है। यही वैराग्यकी चरम सीमा है ॥ १६ ॥

अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्ति-निरोधानन्तर योगीको जो अवस्था प्राप्त होती है सो बताया जाता है:—

सम्प्रज्ञात समाधि वह कहाती है जिसमें वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिताका भाव रहता हो ॥ १७ ॥

अब समाधिका वर्णन किया जाता है; वह समाधि दो प्रकारकी है। यथा-सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, अथवा सविकल्प और निर्विकल्प। निर्विकल्प अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि जो कि उत्तम है उसका वर्णन आगेके सूत्रोंमें किया जावेगा, परन्तु इस सूत्रद्वारा सम्प्रज्ञात अर्थात् सविकल्प समाधिका वर्णन किया जाता है। सविकल्प समाधिमें ज्ञाता अर्थात् देखनेवाला, ज्ञान अर्थात् अनुभवकी शक्ति और ज्ञेय अर्थात् लक्ष्यवस्तु परमात्मा इन तीनोंका ही भान रहता है; और इस अवस्थामें जब वितर्क रहे तो वह वितर्कानुगत अवस्था कहाती है, जब विचार रहे तो वह विचारनुगत अवस्था कहाती है, जब आनन्द रहे तो वह आनन्दा-

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

नुगत अवस्था कहाती है और जब अस्मिता रहे तो वह अस्मितानुगत अवस्था कहाती है। यथा योगशास्त्रमें कहा है—

समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥

समाधि-भूमिमें प्रथमतः वितर्कावस्था प्राप्त होती है। तदनन्तर क्रमशः विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। सम्प्रज्ञात-समाधिमें यदि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु अन्तःकरण उनसे निर्बीज नहीं होता अर्थात् तब अन्तःकरणका भान सूक्ष्मरूपसे रहता है और इसही कारण ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानकी स्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्ता भी रहती है। यह दृश्यमान सृष्टि प्रकृतिसे रचित है जिसको वेदान्तदर्शनने माया और सांख्यदर्शनने प्रकृति कह कर वर्णन किया है, चाहे किसी रीति पर वर्णन किया हो अर्थात् वेदान्तने उसको पञ्चकोष करके वर्णन किया हो और सांख्यने उसे चौबीस तत्त्व करके वर्णन किया हो, परन्तु सबका यही सिद्धान्त है कि इस स्थूल जगत्को कर्त्री प्रकृति है और पुरुष अर्थात् परमात्मा उससे भिन्न हैं, जब ऐसा विचार किया जाय कि सृष्टि कैसे हुई अर्थात् स्थूलसृष्टिके विचारको भली भाँति विचार करते-करते जब सृष्टिसे भिन्न परमात्माका अनुभव हो जाता है; अर्थात् समाधिमें स्थित होते समय सृष्टिकी उत्पत्ति और सृष्टिकी स्थितिमें बुद्धिको लेजाकर पुनः सृष्टिसे भिन्न जो परमात्मा हैं उनके विचारमें प्रवृत्त होना ही वितर्कानुगत अवस्था है; अर्थात् स्थूलसे कारण अन्वेषण करते-करते सूक्ष्ममें आजानेको वितर्क कहते हैं; इस कारण वितर्क अवस्थामें वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता चारों अवस्थाएँ रहती हैं। और केवल सूक्ष्म विचारको

ही विचार कहते हैं, इस अवस्थामें बहिर्विषय अर्थात् स्थूल विषय-की धारणा नहीं रहती अर्थात् सूक्ष्मरूपेण केवल ज्ञाता अर्थात् जीव, ज्ञान अर्थात् जाननेकी शक्ति और ज्ञेय अर्थात् परमात्मा इन तीनों-काही विचार रहता है; इस अवस्थामें विचार, आनन्द और अस्मिता यह तीनों रहती हैं और इसी अवस्थाको विचारानुगत अवस्था कहते हैं। तीसरी अवस्था आनन्दकी है; इसमें विचार-रहित आनन्दका अनुभव होता है; अर्थात् इस अवस्थामें आनन्द और अस्मिता केवल ये दोनों ही रहते हैं, यह ऊपरकी दोनों अवस्थाओंसे ऊँची अवस्था है और इसका ही नाम आनन्दानुगत अवस्था है और चतुर्थ अवस्था वह कहाती है कि जिसमें अस्मिताज्ञान ही रहे अर्थात् केवल अपनी स्थितिके भानके अतिरिक्त और किसी अवस्थाका बोध न रहे, यह अवस्था पूर्वलिखित तीनों अवस्थाओंसे बढ़ कर है, इसी अवस्थाको अस्मितानुगत अवस्था कहते हैं। आनन्दानुगत अवस्था और उसके बादकी अस्मितानुगत अवस्था इन दोनोंको समझानेके लिये अध्यात्मतत्त्वका कुछ रहस्य समझाए बिना ये दो अवस्थाएँ समझमें नहीं आवेंगी। आत्माका स्वरूप तीन भावोंसे पूर्ण है। वे ही सत्, चित्, आनन्द कहाते हैं। इसी कारण ब्रह्मपदको सच्चिदानन्दमय कहते हैं। इन तीनों भावोंमें सत् और चित् ये दोनों भाव स्वप्रकाश हैं। इसी कारण जगत्में भी जड़ और चेतन दो भाव प्रकट हैं। परन्तु आनन्दभाव इन दोनोंमें व्याप्त होनेसे इन दोनोंकी सहायतासे प्रकट होता है। इसी कारण वेदके उपासनाकाण्डने आनन्दके विकासको ही जगत्सृष्टिका कारण बताया है। चित्की सहायतासे सत्में अथवा सत्की सहायतासे चित्में आनन्दका प्राकट्य होता है। इसी कारण विषयानन्द और ब्रह्मानन्द उभय आनन्दही आत्माके आनन्द हैं इसको भी दर्शनशास्त्रने सिद्ध किया है।

अतः आनन्दानुगत अवस्थामें अस्मितानुगत अवस्थासे चित्तवृत्ति-की सूक्ष्मताकी अपेक्षाकृत कमी रहती है। वस्तुतस्तु सविकल्प-समाधिमें केवल आनन्दका अनुभव होते समय सत् और चित्का पार्थक्य अधिक बना रहता है। आगेकी अस्मितानुगत अवस्थामें ये दोनों पृथक्ताएँ उतनी नहीं रहती हैं। कदाचित् अस्मितानुगत अवस्थाके विचारमें जिज्ञासुगणके हृदयमें शंका उत्पन्न हो कि जब इस अवस्थामें केवल "अस्मिता" की ही स्थिति है तो इस अवस्था-में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनोंकी संभावना कहाँ? इसके समाधानार्थ कहा जाता है कि यद्यपि कार्यतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप नहीं दिखाई देता तथापि कारणरूपेण बीजमें वृक्ष-की नाई उन तीनोंकी स्थिति रहती है और सूक्ष्म विचारसे उनका अनुभव भी होता है। ये चारों अवस्थाएँ ही सम्प्रज्ञात-समाधिकी अवस्थायें हैं और इसके पश्चात्की अवस्थाको असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं जिसका वर्णन आगे आवेगा ॥ १७ ॥

चित्तवृत्तिनिरोधानन्तर प्राप्य द्वितीय अवस्थाका लक्षण बताया जाता है—

विराम प्रत्यय अर्थात् वृत्तियोंसे उपराम होनेके कारणरूप वैराग्यकी और अभ्यासकी पूर्णता द्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियाँ पूर्णरूपेण निरुद्ध होजानेसे केवल भृष्टबीज-वत् संस्कारशेषयुक्त जो दूसरी अवस्था है उसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥१८॥

पूर्वलिखित सम्प्रज्ञात-समाधिमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका कुछ सूक्ष्म विचार रहता है, परन्तु इस सूत्रलिखित असम्प्रज्ञात

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

समाधिमें उन तीनों अवस्थाओंका नाश होकर केवल पूर्णज्ञान-रूप चैतन्य ही रह जाते हैं। अभ्यास और वैराग्यका वर्णन करते समय महर्षि सूत्रकार यह प्रकाशित कर चुके हैं कि अभ्यासकी पूर्णता और पर-वैराग्यके द्वारा अन्तःकरण सम्पूर्णरूपेण ही बहिर्जगत् अर्थात् सृष्टिकी ओरसे मुख फेर लेता है; बहिर्जगत् अर्थात् इन्द्रियोंके विषय ही अन्तःकरणमें वृत्तिरूप चञ्चलता उत्पन्न किया करते थे, अब अन्तःकरणके उनकी ओरसे पूर्णरूपेण मुख फेर लेनेसे वृत्तियाँ उठेंगी ही नहीं अर्थात् वृत्तिरूप तरङ्गोंका पूर्णरूपसे नाश हो जायगा; तब अभ्यास और परवैराग्यकी जो पूर्ण अवस्था है उससेही असम्प्रज्ञात-समाधिका उदय होगा, अर्थात् इस अवस्थामें किसी प्रकारकी वृत्तिका लेशमात्र भी नहीं रहता और चैतन्य सबसे पृथक् होकर अपने रूपको प्राप्त हो जाते हैं। और इसी अवस्थाको निर्बीज कहते हैं, इसको ही योगकी पूर्ण अवस्था कहते हैं, इसकोही निर्विकल्प-समाधि कहते हैं, यही वेदान्तका ब्रह्मसद्भाव है, भक्ति-मार्गकी पराभक्ति है, और इसही अवस्थाको कैवल्य करके वर्णन किया है। यथा—स्मृतियों में कहा है—

परं ज्ञानं परं सांख्यं परं कर्मविरागता।
पराभक्तिः समाधिश्च योगपर्यायवाचकाः॥
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥

परमज्ञान, सांख्ययोग, परवैराग्य, पराभक्ति, और समाधि ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। पराभक्ति, परवैराग्य और परज्ञान एकही पदार्थ हैं क्योंकि ज्ञानमें ही सबका पर्यवसान है। इस असम्प्रज्ञात समाधिप्राप्त योगीके शास्त्रोंमें दो भेद वर्णन किये जाते हैं। दोनों ऐसी सूक्ष्म अवस्था है कि जो साधारण-बुद्धिगम्य नहीं हो सकती; योगिगणही तद्भावमें विभोर होकर इन अवस्थाओंका

विचार कर सकते हैं। परन्तु बहिर्लक्षणोंसे इन दोनोंका ऐसे विचार हो सकता है कि जब योगकी चरम सीमापर पहुँचकर असम्प्रज्ञात समाधि-रूढ़ पुरुष आत्माराम होजाय अर्थात् बहिर्जगत् से अपना कुछ सम्बन्ध न रखकर उन्मत्त, स्तब्ध और निष्क्रिय हो जाय तब ही उस महापुरुषकी उस अवस्थाका नाम ब्रह्मकोटि है। और जब योगी अपनी पूर्ण अवस्थाको प्राप्त करके असम्प्रज्ञात-समाधि-रूढ़ होकर सर्वशक्तिमान् जगदीश्वरकी इच्छासे लोकोपकारी कार्य्योंमें प्रवृत्त होते हैं जैसे कि निष्कामव्रतधारी संसार-उपकारकारी पूज्यपाद पूर्वकालीन महर्षिगण किया करते थे, तो योगीकी उस अवस्थाका नाम ईशकोटि है। चलती हुई वायु भी वायु है और जो अचल अर्थात् स्थिर वायु है वह भी वायु ही है, उसी प्रकार निष्क्रिय महात्मा और संसार-उपकारी कार्योंमें क्रियावान् महात्मा ये दोनों ही सिद्ध महापुरुष हैं, किन्तु केवल इनमें बाह्यलक्षणमें भेद होगा। इन अवस्थाओंसे ऐसा भी समझा जा सकता है कि ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्तयोगिगणसे इस संसारके कोई भी उपकार होनेकी सम्भावना नहीं रहती है; परन्तु भूतकाल-में जो कुछ संसारका उपकार हुआ है, वर्त्तमान कालमें कुछ उपकार हो रहा है और भविष्यत्में जो कुछ उपकार होगा वह ईशकोटिके जीवन्मुक्त योगिगणसे ही होगा। यथा-स्मृतियोंमें—

परहंसस्य प्रारब्ध-कर्मवैचित्र्यदर्शनात्।
ईशकोटिर्ब्रह्मकोटिरिति द्वे नामनी श्रुते।
परहंसो ब्रह्मकोटेर्मूकस्तब्धो जडस्तथा॥
उन्मत्तो बालचेष्टश्च न जगत्तेन लाभवत्।
परहंसस्त्वीशकोटेः परां काष्ठां गतोऽनिशम्॥
निष्कामस्य व्रतस्यात्र जगज्जन्मादिशक्तिमज्-
जगदीशप्रतिनिधिर्भूत्वा तत्कर्मसंरतः॥

जगद्धितार्थं विप्रर्षे ! एवं विद्धीशरूपिणम् ॥

प्रारब्ध वैचित्र्यसे ईशकोटि और ब्रह्मकोटि नामक दो तरहकी परमहंस दशा होती है। ब्रह्मकोटिका जीवन्मुक्त मूक, स्तब्ध, जड़, उन्मत्त और बालकोंकी तरह चेष्टा करनेवाला होता है। उससे जगत्को कोई लाभ नहीं पहुँचता। ईशकोटिकी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ परमहंस दिन रात जगज्जन्मादि-शक्तिशाली भगवान्का प्रतिनिधि होकर निष्कामव्रत ग्रहण कर परोपकार कार्यों में लगा रहता है। ऐसे ईशस्वरूप जीवन्मुक्तोंकी उत्पत्ति जगत्के कल्याणार्थही हुआ करती है ऐसा समझना चाहिये। योगकी चरमसीमा अर्थात् प्रधान-लक्ष्य जो असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प-समाधि है और जिसको इस सूत्रने वृत्तियोंके नाशरूप-संस्कारावशेष करके वर्णन किया है उससे तात्पर्य्य यही है कि सोनेमें मिला हुआ सीसा आगपर रखनेसे सोनेके मैलको जलाकर उस मैलके साथ आप भी जल जाता है वैसेही निरोध-संस्कारसे चित्त-वृत्तियोंका पूर्णरूपेण निरोध अर्थात् नाश करके वह निरोध-संस्कार आप भी नाश हो जाता है; अर्थात् पीछे कोई संस्कार शेष नहीं रहता; और अन्तमें वही निर्लिप्त सच्चिदानन्दरूप परमात्मा ही शेष रह जाते हैं। इसी प्रकारसे वे समाधिस्थ महात्मा अपने शरीरसे जो कुछ काम करते हैं अन्तःकरण वासनारहित हो जानेसे उनके किये हुए कर्मों के संस्कार फिर उस अन्तःकरणमें नहीं लगते। उनकी व्युत्थान दशाके सभी संस्कार भ्रष्टबीजवत् हो जाते हैं। उस अवस्थामें उनका कर्म करना, न करना, उनका शरीर रहना, न रहना, एकही समान है। यही असम्प्रज्ञातसमाधियोगकी चरम सीमा और साधनका एकमात्र लक्ष्य है॥ १८॥

अब असम्प्रज्ञात समाधिके पथको विघ्नरहित करनेके लिये सम्प्रज्ञात समाधिपथमें प्राप्त विघ्नोंका वर्णन किया जाता है—

देहाध्यासशून्य होकर महत्तत्त्वादि विकारमें लय तथा अव्यक्त प्रकृतिमें लय होनेसे भवप्रत्यय अर्थात् संसारका कारणरूप समाधि-विघ्न होता है ॥ १९ ॥

पूर्व सूत्रमें महर्षि सूत्रकार समाधियोंके दो भेद वर्णन करके अब उसके पथको निर्विघ्न करनेके लिये उसके विघ्नोंका वर्णन कर रहे हैं, अर्थात् कैवल्यपथमें अग्रसर होते हुए पुरुषार्थभेदसे समाधिस्थ साधक जिन विघ्नोंको प्राप्त होसकते हैं उनका विस्तारित वर्णन कर रहे हैं। जो योगिगण योगके लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधिकी पूर्णावस्थाकी ओर चलते हुए बीचमें अटक जाते हैं; और यद्यपि वे इन्द्रिय आदिको जय करके विषय-वैराग्य-युक्त हो जाते हैं तथापि अन्तःकरणके निरोधरूप संस्कारकी सहायतासे या तो देहाध्यासशून्य होकर महत्तत्त्वादि प्रकृतिविकारमें लीन हो जाते हैं या अपने निर्मल अन्तःकरण द्वारा मोक्षके आनन्दके समान अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्यके आभास सुखको भोगते रहते हैं, अर्थात् प्रकृतिमें लय होकर शुद्ध प्रकृति द्वारा कैवल्य सुखके अनुरूप सुखमें मग्न रहने लगते हैं। ये दोनों लयावस्था ही भवप्रत्यय अर्थात् संसारकी कारणरूप योगविघ्नकारी अवस्था है। इन दोनों अवस्थाओंमें प्रकृतिकी सूक्ष्मावस्थाके अन्तर्गत स्थिति रहनेसे प्रकृतिके पुनर्विस्तारकी सम्भावना रहती है, अर्थात् पुनः अपनी पूर्वावस्थाको वह अन्तःकरण प्राप्त हो सकता है। अतः इस अवस्थाको मोक्ष-साधनका विघ्न समझना उचित है, इस कारण मुमुक्षुगणके लिये अहितकारी है। ऊपर लिखित दो प्रकारके विघ्न

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

जो भवप्रत्यय-दशामें हो सकते हैं उनको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये यह प्रकट करना उचित है कि योगी जब योगकी प्रथम सात भूमियोंको अतिक्रम करके आठवीं समाधिभूमिमें पहुँचता है उस समय यदि उसके साधनका वेग और वैराग्यकी तीव्रता पूर्ण न हो तो वह योगी या तो देहाध्यासरहित होकर महत्तत्त्वादि सूक्ष्मविकारोंमें फँसा रहता है अथवा कारणप्रकृतिमें लय होकर अन्तःकरण प्रतिविम्बित चेतनको ही आत्माका स्वरूप समझ कर तृप्त हो जाता है। सुतरां इस प्रकारके विघ्न सामने आजाने पर वह योगी साधनकी तीव्रता और परवैराग्यके अभावके कारण उन्नत समाधिभूमिमें पहुँच कर भी अटक जाता है; उस समय उसका कैवल्यपथमें अग्रसर होना रुक जाता है। योगके चार क्रिया सिद्धांश, यथा—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग, इनकी साधन-प्रणालीकी पर्यालोचना करके योगाचार्योंने यही सिद्धान्त निश्चय किया है कि आत्मतत्त्वानुसन्धानपूर्ण राजयोगके विना अन्य तीन प्रकारकी साधन प्रणालियोंमें कभी कभी ऐसे विघ्न उत्पन्न हुआ करते हैं। राजयोगमें तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश साथ ही साथ होजानेसे इस प्रकारके विघ्नोंकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग इन तीनोंमें बहिःसाधनोंका अधिक सम्बन्ध रहनेके कारण इन योगोंके द्वारा प्राप्त सम्प्रज्ञात-समाधि दशामें ऐसे विघ्नोंके प्राप्त होनेकी सम्भावना अधिक रहती है। मन्त्रयोगमें रूप और मन्त्रकी अद्वैततासे समाधिकी प्राप्ति होनेके कारण इसमें महत्तत्त्वादि विकारमें लय होकर रहनेकी सम्भावना अधिक रहती है। उसी प्रकार हठयोगकी समाधि वायुनिरोध द्वारा होनेके कारण और लययोगकी समाधि नाद और बिन्दुकी अद्वैतताके द्वारा होनेके कारण उन दोनोंमें ही सूक्ष्मप्रकृतिकी सहायतासे प्रतिबिम्बित आत्म-

स्वरूपमें लय होकर फँस जानेकी सम्भावना है। इसी कारण हठयोगियोंमें जडसमाधिरूप नानाप्रकारके योगविघ्न प्रकट हुआ करते हैं। इस सूत्रसे तात्पर्य यह है कि कैवल्याभिलाषी योगी अपने साधनकी दृढ़ता और परवैराग्यकी पूर्णतापर पूरा ध्यान रखकर इस भवप्रत्यय दशामें अटक न जाय। अतः असम्प्रज्ञात समाधिकी पूर्णावस्था कैवल्यपदको जो प्राप्त करना चाहें वे अवश्य करके इस अवस्थाका त्याग करें, नहीं तो बीचमें अटक कर पुनः फंस जानेकी सम्भावना है॥ १९॥

विघ्नरहित दूसरी अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं—

उपर्युक्त विघ्नोंसे बचनेवाले योगीको असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्ति श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक होती है॥ २०॥

पूर्व सूत्रमें भवप्रत्यय-अवस्थाका वर्णन करके अब महर्षि-सूत्रकार उपायप्रत्यय-अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं। दृढ़ विश्वाससे जो किसी पदार्थमें एक प्रकारकी प्रीति होती है उसे श्रद्धा कहते हैं जिसका विस्तृत वर्णन पहले कर चुके हैं। जब योगमें श्रद्धा दृढ़ हो जाती है तब ही उसके प्राप्त करनेमें योगीका उत्साह दृढ़ हो जाता है जिसको वीर्य कहते हैं। उत्साहयुक्त साधन करते-करते जैसा-जैसा साधक ब्रह्मानन्दपथमें अग्रसर हो जाता है वैसे ही उत्तरोत्तर आनन्दवृद्धिकी जो स्मृति है उसीको स्मृति कहते हैं। और उस स्मृतिके स्थिर होजानेसे अन्तःकरण केवल आनन्दमय हो जाता है, इसको ही इस सूत्रमें समाधि कही गई है। इस प्रकार श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और समाधिकी सहायतासे अन्तःकरण पूर्णा-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ २०॥

नन्दमय प्रकाशको जब प्राप्त हो जाता है, उस पूर्णज्ञान अवस्था-को शास्त्रोंमें प्रज्ञा कहा गया है और जब यही प्रज्ञा-अवस्था स्थिर हो जाती है तब ही असम्प्रज्ञात समाधि हो सकती है। उस असम्प्रज्ञातरूप निर्विकल्प समाधिके प्राप्त होते ही योगिराज जीवन्मुक्त हो जाता है। उस दशामें उस योगिराजका अन्तःकरण प्रज्ञासे रहित कदापि नहीं होता। उसकी अद्वैतस्थिति सदा बनी रहती है। अतः पूर्वसूत्र-कथित विघ्नोंको न आने देकर साधनकी तीव्रता और परवैराग्यके अवलम्बनसे योगिराज जब श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञाकी सहायतासे अपने मार्गको विघ्नरहित सरल रखकर कृतकृत्य हो जाता है वही दूसरी श्रेष्ठ अवस्था है। इसी अनवरोध सीधे पथका नाम उपायप्रत्यय-अवस्था है, जिसमें प्रथमसे ही वैराग्यका सम्बन्ध रहता है और शेषमें वैराग्यकी पूर्णावस्था अर्थात् परवैराग्यकी सहायतासे साधक प्रज्ञाको प्राप्त कर कैवल्यपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

विघ्नरहित सरलपथमें चलते हुए समाधिसिद्धिका लाभ करनेके लिये उपाय बताया जाता है—

जिनके उपाय तीव्र संवेगके साथ होते हैं उनको समाधि समीप है ॥ २१ ॥

समाधि प्राप्त करनेके उपाय पूर्वसूत्रोंमें कह आये हैं; अर्थात पूर्वसूत्रकथित जो साधनक्रम है उससे ही असम्प्रज्ञात समाधिकी पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सकती है; परन्तु उन उपायोंका वेग जिस साधकमें जितना अधिक हो उतना ही वह साधक शीघ्र समाधि-पदको पहुँच सकता है। वैराग्यसे जितना विषयबन्धन शिथिल हो जाता है उतना ही साधन-उपायोंका संवेग अर्थात् समाधिकी

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

ओरका आकर्षण उस साधकमें बढ़ जाता है। इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकारका यही तात्पर्य है कि साधकमें संवेगका स्रोत तीव्र ही होना उचित है; और तबही वह नाना प्रकारकी रोकोंसे बचकर शीघ्र ही साधनके लक्ष्य असम्प्रज्ञातयोगको प्राप्त कर सकेगा। प्रथमसे ही यदि योगीका परवैराग्यकी ओर लक्ष्य हो और साथ ही साथ साधनसहायक श्रद्धा वीर्य आदिका वेग भी तीव्रतम हो तो योगिराजको भवप्रत्ययसम्बन्धीय विघ्नोंकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती और न सिद्धियोंमें फँस कर अटक जानेकी सम्भावना रहती है। उसका पथ सरल और निष्कण्टक हो जाता है ॥ २१ ॥

संवेगके भेद बताये जाते हैं—

मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय, ये संवेगके तीन भेद हैं जिनके अनुसार भी समाधि-लाभका तारतम्य होता है ॥ २२ ॥

साधन-उपायके संवेगरूपी स्रोत-वेगके विचारसे तीन विभाग किये गये हैं; अर्थात् जब पूर्व-लिखित चार उपायोंका वेग मृदु हो तो वह मृदूपाय संवेग कहलाता है; यदि मध्य हो अर्थात् मृदुसे अधिक हो तो उसका नाम मध्योपाय संवेग है; और यदि उन उपायोंका संवेग अतितीव्र हो तो उसका नाम अधिमात्रोपाय संवेग होगा और ये ही तीन मृदु आदि प्रत्येकके भेदसे नवधा विभक्त होते हैं। यथा–मृदुमृदूपाय, मृदुमध्योपाय, मृदुतीव्रोपाय; मध्यमृदूपाय, मध्यमध्योपाय, मध्यतीव्रोपाय; अधिमात्रमृदूपाय, अधिमात्रमध्योपाय और अधिमात्रतीव्रोपाय। इन नौमेंसे शेष कथित अवस्था अर्थात् अधिमात्रतीव्रोपाय संवेग ही सबसे

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ है और इसके ही उदय होनेसे साधक शीघ्र अपने लक्ष्यस्थल कैवल्यपदको पहुँच जाता है। यह सूत्र अभ्यासवैराग्यद्वारा समाधि प्राप्त करनेके साधारण उपायका शेष सूत्र है। इसके विज्ञानका यही तात्पर्य है कि योगिराज मृदु और मध्य संवेगका आश्रय न लेवे और अधिमात्रसंवेगका आश्रय लेकर अपने योगमार्गको निष्कण्टक और सरल रखें ॥ २२ ॥

इन उपायोंके अतिरिक्त समाधि-प्राप्तिके लिये सुगम अन्य उपायोंका वर्णन किया जाता है—

अथवा ईश्वरप्रणिधानसे आसन्नतम समाधिका लाभ होता है ॥ २३ ॥

महर्षि सूत्रकार पहिले चित्त-वृत्तिनिरोधरूप योगके साधारण उपायसे मुक्तिपदके लाभ करनेका उपाय वर्णन करके अब उसके और भी उपायोंका वर्णन करते हैं; अर्थात् उनका यही तात्पर्य है कि अष्टाङ्ग-योगरूप साधारण साधनोंसे चित्त-वृत्ति-निरोध होकर मुक्ति तो हुआ ही करती है, किन्तु ईश्वर-भक्ति जिसका कि वर्णन इस सूत्रमें किया जायगा, एवं और भी कई प्रकारके साधन जिनका वर्णन परसूत्रोंमें किया जायगा उनसे भी समाधिसिद्धिरूप कैवल्यपदकी प्राप्ति हो सकती है। इस सूत्रमें केवल ईश्वर-प्रणिधानसे समाधि प्राप्त करनेका वर्णन किया गया है। प्रणिधान शब्दका अर्थ भक्ति और भक्तिपूर्वक परमगुरु ईश्वरमें सर्वकर्म समर्पण है; भक्ति-मार्गके प्रधान आचार्य्य देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य और महर्षि अङ्गिराने भक्तिके ऐसे लक्षण वर्णन किये हैं कि ईश्वरके प्रति पूर्ण अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। जब साधकके चित्तमें ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाय कि, इस सृष्टिमें

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

जो कुछ होता है उसके करनेवाले एकमात्र सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही हैं; जो कुछ होता है होने दो, ऐसा विचार करके जब वह भक्तिमान् साधक ईश्वरके ध्यान करनेमें ही मग्न रहता है और सृष्टिकी ओरसे मुख फेरकर परमात्माकी ओर देखता हुआ उनके ही सर्वशक्तिमय गुणातीत गुणोंको स्मरण करता हुआ उन के ही प्रेममें मग्न हो जाता है तब ही वह भक्ति, ईश्वर-भक्ति कहाती है। अहंकार ही जीवको कर्म्मसे बाँधता रहता है, क्योंकि जीव सदा अपनी योग्यता पर भरोसा करके ऐसा मानने लगता है कि मैं अपने पुरुषार्थसे अमुक दुःखकी निवृत्ति और अमुक सुखकी प्राप्ति करूँगा; इस अहंकारसे ही जीव त्रितापदुःखरूपी बन्धनको प्राप्त होता है; परन्तु जब जीवमें ईश्वर-भक्तिका उदय होता है और वह ईश्वरमें भक्ति-युक्त होकर ईश्वरपर ही पूर्ण भरोसा करने लगता है, सत् असत् विषयोंको छोड़कर ईश्वर-प्रणिधानमें ही मग्न रहता है तब अपने आपही उसके हृदयका तमरूपी अहंकार मिट जाता है, और उसके सब विषय-वासना-रूपी बन्धन शिथिल हो जाते हैं, और इसी प्रकार ईश्वर-प्रणिधानसे चित्त-वृत्तिनिरोध होकर, ईश्वरका ध्यान करते-करते वह साधक समाधि-पदको प्राप्त कर लेता है। इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकारने भक्ति-मार्गका सम्बन्ध योगसे दिखाया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि कैसे भक्तगण भक्तिमार्गके साधनसे कैवल्यरूपी परमानन्द-पदको प्राप्त कर सकते हैं। उपासनाकाण्ड जो वेदके काण्डत्रयके मध्यवर्त्ती होनेके कारण कैवल्य-प्राप्तिका प्रधान सहायक है, उस उपासनाकाण्डकी मीमांसा दैवीमीमांसा दर्शनके साथ योगदर्शनका समन्वय इस सूत्र द्वारा भलीभांति हो रहा है। उपासनाकेलिये ईश्वरभक्ति प्राणरूप और योग अङ्गरूप है। इसी कारण भगवद्-भक्तिका सम्बन्ध इतनी दृढ़ताके साथ इस दर्शन-सिद्धान्तमें

आया है। अधिकारके भेदसे भगवद्भक्ति दो प्रकारकी होती है, यथा—गौणी-भक्ति और पराभक्ति। पराभक्तिकी प्राप्तिके लिये शरीर और मनद्वारा जो प्रथम साधन किया जाता है वह गौणी-भक्ति कहाती है, गौणी भक्तिके भी दो भेद हैं। यथा-वैधी और रागात्मिका। गुरु-आज्ञाके अधीन होकर विधि साध्यमाना जो भक्ति है, वह वैधी भक्ति कहाती है और भक्तिभावके प्रधान प्रधान रसोंका आस्वादन करके जब भक्त उक्त भक्तिरसोंमेंसे अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार किसी एक भावमें निमग्न रहने लगे तो भक्तिरससागरमें निमज्जन उन्मज्जन करानेवाली उस भक्तिका नाम रागात्मिका है। उपासना-सम्बन्धीय दर्शन-शास्त्रमें ये सब भक्तिके भेद भली प्रकार प्रकट हैं और इस प्रकारको गौणी-भक्तिके साधनसे जब साधक उन्नत भूमिको प्राप्त होकर भगवत्-प्रेममें तन्मय हो स्वरूपसाक्षात्कार कर लेता है वही अवस्था पराभक्तिकी है, पराभक्ति और निर्विकल्प समाधि एकही अवस्था है ॥ २३ ॥

अब ईश्वरके लक्षण कहे जाते हैं—

जिनमें क्लेश, कर्म्म, कर्म्मफल और संस्कारोंका सम्बन्ध नहीं है वे ही पुरुषविशेष ईश्वर हैं ॥ २४ ॥

अविद्यासे उत्पन्न हुआ जो विषय-बन्धन है, उसके कारण राग और द्वेषकी सहायतासे जो चित्तकी विकलता रहती है उसका ही नाम क्लेश है। इन क्लेशोंका वर्णन पीछे सूत्रोंमें आवेगा। जो वेदविहित कर्म्म अथवा वेद-निषिद्ध कर्म्म मन और शरीर द्वारा किये जाते हैं और जो शुभकारी होनेसे पुण्य और अशुभकारी होनेसे पाप कहलाते हैं उनहीका नाम कर्म्म है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

उनही किये हुए कर्म्मोंसे जब फलकी उत्पत्ति होती हैं अर्थात् अच्छे कर्मोंसे सुख और बुरे कर्म्मोंसे दुःखकी उत्पत्ति होकर जीव भोगने लगता है उसका ही नाम विपाक अर्थात् कर्मफल है। और कर्मोंका जो संस्कार अन्तःकरणमें रहता है जिससे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है उसही वासनाके मूलकारणका नाम आशय अर्थात् संस्कार है। यह क्लेश, कर्म्म-विपाक अर्थात् कर्म्मफल और आशय अर्थात् संस्कार जिनमें न हो वेही ईश्वर हैं; अर्थात् जीवमें तो ये चारों वस्तुएँ संलग्न हैं परन्तु सर्वशक्तिमान् ईश्वर इनसे रहित हैं। अविद्याके कारण जीव अपने आपको कर्त्ता मानकर (स्वच्छ स्फटिक मणि पर लाल रंगका प्रतिविम्व पड़नेसे जैसे वह स्फटिकमणि रक्तवर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार प्रकृतिके किये हुए कर्मोंको वह निर्लिप्त पुरुष अपना कर्म समझने लगता है) और इसही अविद्यारूपी मूलके वशीभूत होकर वह प्रकृतिके कर्म्मोंसे नाना दुःखोंमें फंसा रहता है यही अविद्या जीवके जीवत्वका कारण है। परन्तु पूर्ण प्रकाशवान्, पूर्ण ज्ञानवान्, पूर्ण-शक्तिमान्, निर्लिप्त ईश्वर अविद्यारूपी अन्धकारसे रहित होनेके कारण उनमें जीवके दोष अर्थात् क्लेश, कर्म्म, विपाक और आशयरूप बन्धन नहीं है; सर्वव्यापक ईश्वर सबमें हैं, विराट्-रूपी ईश्वरमें समस्त संसार है; अर्थात् वे सबमें हैं और उनमें ही सब हैं परन्तु वे सबसे निर्लिप्त हैं। उनकी ही शक्तिसे संसारका समस्त कार्य चल रहा है, उनकी ही आज्ञासे एक परमाणु भी नियमसे विरुद्ध इधर-उधर नहीं हिल सकता; परन्तु वे पूर्णशक्ति-धारी होनेके कारण और उनके अधीन पूर्णज्ञानरूप विद्या रहनेके कारण वे सबसे निर्लिप्त हैं। बहुतेरे श्रेष्ठपुरुष प्रथम जीव अवस्थामें रहकर पुनः साधन द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए मुक्त हो जाते हैं; परन्तु ईश्वरकी अवस्था उस प्रकारकी नहीं है; अर्थात्

ईश्वरमें बन्धनका और अल्प ज्ञानका लेशमात्र नहीं, वे परमात्मा परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें एक रूपही हैं, वे सदा पूर्ण ऐश्वर्य्यवान् हैं, उनकी ऐश्वर्यताका कभी न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता, इसही कारण वे इस संसारके उत्पत्ति, स्थिति और लयकर्त्ता और जीवके रूपसे भिन्न ही हैं। इस सूत्रमें ईश्वरको पुरुषविशेष इसलिये कहा गया है कि सांख्योक्त पुरुष स्वरूपतः नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव होनेपर भी प्रकृतिके सम्पर्कसे उनपर कर्तृत्व भोक्तृत्वका अभिमान द्वारा औपचारिक बन्धनसम्बन्ध होजाता है परन्तु ईश्वरमें इस प्रकार प्रकृतिकी ओरसे कोई भी बन्धनका आभास तक नहीं प्राप्त होता है। इसलिये ईश्वर सदा ही क्लेश कर्मादि बन्धन सम्बन्धसे मुक्त हैं और इसीलिये सांख्यीय-पुरुषसे विशेषताके कारण ईश्वर पुरुष-विशेष हैं। सांख्यप्रवचनका बहु पुरुषवाद प्रत्येक शरीरमें अनुमेय पुरुषभावसे सिद्ध है और योगप्रवचनका एक अद्वितीय पुरुषविशेष इस भावसे विभिन्न होनेके कारण पुरुष-विशेषके योग्य ही है। प्रत्येक जीवपिण्डमें कूटस्थ चैतन्यरूपसे बहुपुरुषका दर्शन लौकिक प्रत्यक्ष गम्य है और सब स्थानोंमें अनुस्यूत एक अद्वैतरूपसे व्यापक पुरुषविशेषका अनुभव यौगिक अलौकिक प्रत्यक्षगम्य है। इसी कारण पुरुषविशेष शब्दको पूज्यपाद महर्षिने व्यवहृत किया है॥ २४॥

उनका दूसरा लक्षण, यथा—

उनमें अर्थात् ईश्वरमें सम्पूर्ण ज्ञानका बीज वर्त्तमान है॥२५॥

जो पदार्थ घटता बढ़ता है अर्थात् जिस पदार्थकी छुटाई बड़ाई है उसकी अवधि अवश्य होगी, जीवमें जो ज्ञान-अंश प्रतीत होता

तत्र निरतिशयं-सर्वज्ञबीजम्॥२५॥

है वह जीवके अन्तःकरणकी चंचलताके तारतम्यसे न्यूनाधिक हुआ करता है; अर्थात् विषयोंके सम्बन्धसे ही विषयरूप होकर अन्तःकरण चंचल हुआ करता है। विषयरूप सम्बन्ध जिस अन्तःकरणमें जितना अधिक होगा अन्तःकरणमें चंचलता होनेके कारण उसमें ज्ञानका प्रकाश उतनाही न्यून होगा, और ऐसेही अन्तःकरण में विषयका सम्बन्ध घटनेसे उसकी चंचलता जितनी न्यून होती जायगी उतनाही ज्ञानरूप प्रकाश उस अन्तःकरणमें अधिक होता जायगा। इस कारणसे ही प्रत्येक जीवके अन्तःकरणकी चंचलताके तारतम्यसे उसमें ज्ञान भी न्यूनाधिक हुआ करता है। पूर्व वर्णन-से यह बात सिद्ध हो चुकी कि जीवमें ज्ञानकी छुटाई बड़ाई है। जीवमें अविद्या रहनेके कारण उसका अन्तःकरण एकदेशदर्शी है अर्थात् अविद्याके कारण जीव यही समझ रहा है कि मैं ही ज्ञानरूप हूँ और इस कारण ही उसका अन्तःकरण देशकालसे परिच्छिन्न अर्थात् मिला हुआ है तो ज्ञानकी पूर्णता जीवमें कैसे सम्भव हो सकती है। शक्तिके वशीभूत जीव होजानेसे इस शक्तिका नाम अविद्या हुआ, परन्तु त्रिगुणमयी विद्यारूपिणी महाशक्ति सदा ईश्वरके अधीन रहती हैं इस कारण ईश्वर उनसे निर्लिप्त हैं; प्रकृतिके गुणोंमें फँसकर जीव अल्पज्ञताको प्राप्त हुआ करता है, परन्तु ईश्वरके अधीन सदा विद्यारूपिणी प्रकृति रहनेसे उनकी अवस्थाका परिवर्त्तन होनेकी सम्भावना नहीं; और उनमें पूर्णज्ञानकी पराकाष्ठा है इस कारण वे सदा पूर्णज्ञानरूप ही हैं। अपने ही अन्तःकरणके ज्ञानद्वारा अल्पज्ञानी जीव कितना ही अधिक जान ले परन्तु उसका अन्तःकरण देशकालसे परिच्छिन्न होनेके कारण असम्पूर्ण ही रहेगा; परन्तु ईश्वरका ज्ञान इस भाँति नहीं है, वे सदा निर्लिप्त हैं, इस कारण देश-काल उनका स्पर्श नहीं कर सकता। इस ही कारण वे सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान्

पूर्णज्ञानी परमेश्वर सब जीवोंके मनको जान जाते हैं अर्थात् जो कुछ जाननेके योग्य है वह उनके ज्ञानसे भिन्न नहीं रह सकता; भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालमें एकरूपसे स्थायी वह ईश्वरका पूर्णज्ञान ही ज्ञानकी अवधि अर्थात् ईश्वरीय सर्वज्ञता है ॥२५॥

उनका तीसरा लक्षण यह है—

कालकृत सीमासे रहित होनेसे वे, सब पूर्व-वालोंके गुरु हैं ॥२६॥

अनन्तकालसे आजतक ज्ञानप्रकाशक जो कोई महात्मा जन्मे हैं वे सब ईश्वरविभूति हैं; अर्थात् जो जो महर्षिगण अथवा आचार्य्यगण आजतक शास्त्रोंद्वारा जगत्में ज्ञानज्योति विस्तार और वेदार्थ प्रकाश कर गये हैं उनको अंशरूपेण भगवत्-विभूति कहना उचित है। परन्तु कुछ भी हो अर्थात् महात्मागण कितने ही उन्नत ज्ञानको प्राप्त होगये हों तो भी उनको ईश्वर-विभूति ही समझेंगे और वे सर्वज्ञानमय पूर्ण प्रकाशवान् परमेश्वरके निकट शिष्यरूपसे ही समझे जायँगे; अर्थात् उन महात्मागणने जो कुछ प्रकाश किया है वह उस पूर्ण-ज्योतिर्मय अनन्त किरणधारी सूर्यकी एक एक किरणमात्र ही है; उन्होंने जो कुछ ज्ञान-प्रकाश किया है वह उन परमेश्वरसे ही प्राप्त हुआ है। पूर्वज महर्षिगणका वर्णन करते समय पूर्वापर सम्बन्ध मिलता ही रहेगा अर्थात् सबके गुरुका पता मिल जायगा, इस कारण उनमें कालकी सीमा रही, परन्तु ईश्वरमें वैसा नहीं हो सकता; क्योंकि वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञाता, त्रिकालव्यापी परमेश्वर सबके आदि हैं, और वे तीनों कालमें एक रूपसे ही वर्त्तमान हैं; वे ही सब

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

ज्ञानोंके आकर हैं और वे ही सबके गुरु अर्थात् उपदेष्टा और ज्ञानगुरु हैं ॥ २६ ॥

लक्षणवर्णनानन्तर साधननिर्देशार्थ ईश्वरका वाचक कहा जाता है—

उनका वाचक प्रणव है ॥ २७ ॥

जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसको वाचक कहते हैं और जो जाननेके योग्य है वही वाच्य कहाता है; ईश्वर वाच्य हैं और प्रणव वाचक है; अर्थात् प्रणव द्वारा ईश्वरज्ञान हो सकता है। पिता और पुत्र दोनों एक स्थानपर बैठे रहनेसे यदि कोई उनमेंसे पिता शब्द उच्चारण करे तो ऐसा समझना उचित है कि बोलनेवाला पुत्र है और दूसरा पुरुष पिता है; अर्थात् पिता शब्दरूप वाचकने व्यक्तिरूप पिता अर्थात् वाच्यका बोध कराया। पितापुत्रका सम्बन्ध यदि स्वाभाविक है, परन्तु विचारनेसे यही कहा जा सकेगा कि यह शब्द साङ्केतिक है, परन्तु प्रणव और ईश्वरमें जो सम्बन्ध है वह इस प्रकार केवल सांकेतिक अथवा काल्पनिक नहीं है; इस स्थलमें वाच्य और वाचकका अनादि सम्बन्ध है। शास्त्रोंमें यदि च ऐसा वर्णन बहुत स्थलोंमें देखनेमें आता है कि प्रणवध्वनि केवल चित्त-वृत्ति ठहरा कर सुननेके योग्य है और यथार्थमें उसका उच्चारण मुखसे होना असम्भव है; तथापि गौणरूपेण जो प्रणवमंत्र उच्चारण किया जाता है वह त्रि-अक्षरमय है, अर्थात् अ, उ और म से ओंकाररूपी प्रणव होता है; जिसका अर्थ शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि ये तीनों अक्षर ब्रह्मा, विष्णु और शिव अर्थात् रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके अधिष्ठाता हैं; सर्वशक्तिमान् परमेश्वर जो अपने तीन गुणोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति,

---

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

स्थिति और लय किया करते हैं वह त्रिगुणमयी शक्ति प्रणवमें भी उपस्थित है; और प्रणव ही ईश्वररूप है। प्रणवका वैज्ञानिक कारण यह है कि जहाँ कोई कार्य है वहाँ अवश्य कम्पन है, जहाँ कम्पन होगा वहाँ अवश्य शब्द होगा, जब ईश्वरके विराट्देहमें उनकी इच्छासे सृष्टिरूप कार्य्य हो रहा है तो सूक्ष्मरूपेण उस त्रिगुणात्मक कार्यका शब्द प्रणव है; अर्थात् जिस प्रकार विराट्रूप ही ईश्वरका रूप है, उस ही प्रकार ओंकाररूप वाचकसे ईश्वरका ज्ञान होना सम्भव है। और इसी प्रकार योगाचार्यों ने भी कहा है—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम्।
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा॥
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी।
शब्दश्चोदभवत् तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः॥

कारणरूप विराट् पुरुषसे कार्य्यशब्दरूप प्रणव-ध्वनिका अविमिश्र सम्बन्ध रहनेके कारण और प्रणव-ध्वनिरूप ध्वन्यात्मक शब्दका रूप वर्णात्मक प्रतिशब्द होनेके कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर सम्बन्धसे ईश्वरवाचक होकर प्रणव कहाते हैं। योगाचार्य महर्षियोंका सिद्धान्त यह है कि प्रणव ध्वन्यात्मक है। उसका कोई अङ्ग मुखसे उच्चारण करने योग्य नहीं है। योगी जब अपने अन्तःकरणको भक्ति और योग आदिके द्वारा साम्यावस्था प्रकृतिके निकट पहुँचा सकता है तब ही प्रणवध्वनि उसको उसके अन्तःकरणमें सुनायी देती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके आदि शब्द ईश्वरवाचक प्रणवका वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासनाकाण्डकी सिद्धिके लिये बनाया गया है, उसी वर्णात्मक प्रणवप्रतिशब्दको ओंकार कहते हैं। यही ओंकार अर्थात् वर्णात्मक प्रणव अ, उ, म, के सम्बन्धसे कहा गया है। वही शास्त्रोंमें सत्त्व, रज, तमरूपी त्रिगुणात्मक और ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी

त्रिदेवात्मक शब्द ब्रह्मरूपसे पूजनीय है और इस ही विचारसे ईश्वरमें और प्रणवमें भेद नहीं समझा जाता है और इस ही कारण वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणवमें अनादि और अविमिश्र सम्बन्ध है ॥ २७ ॥

प्रणवसाधनविधि बतायी जाती है—

प्रणवका जप और उसका अर्थ विचारनेसे समाधि होती है ॥ २८ ॥

अब प्रणव-जपकी विधि और उसका फल कह रहे हैं। पूर्व-सूत्रसे यह प्रमाणित हो चुका है कि ईश्वर और प्रणवमें अविमिश्र और अनादि सम्बन्ध है; इस कारण प्रणव जप करते करते अवश्य अन्तःकरणको ईश्वरसाक्षात्कार हो जायगा। यह जप तीन प्रकार का होता है। यथा—वाचनिक, उपांशु और मानसिक; जिस मन्त्रका जप इस रीतिसे किया जाय कि उसकी ध्वनि औरोंके कान-में भी पड़े और अपने भी कानोंमें पड़कर उसके शब्दमें चित्त ठहरे उसका नाम वाचनिक जप है; जो जप इस भाँतिसे किया जाय कि जिसकी सूक्ष्म ध्वनि अपने ही कानोंतक पहुँचती रहे और उससे एकाग्रता स्थापन करे तो उस जपका नाम उपांशु जप है; इसही प्रकार जब जप केवल मनसे ही किया जाय अर्थात् उस शब्दकी सूक्ष्मध्वनि केवल मनहीमें उठे और जिसको मन द्वारा श्रवण करता हुआ मन उस शब्दमें लगा रहे तो इस प्रकारके जपका नाम मानसिक जप है; इन तीन प्रकारके जपोंकी शक्तिका जैसा प्रभाव मन पर पड़ता है उसके तारतम्यसे मानस जपको उत्तम, उपांशु जपको मध्यम और वाचनिक जपको अधम कह सकते हैं। यदि प्रणव और ओंकार दोनों एक ही अर्थवाचक हैं तथापि

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

पूर्वापर अवस्थाभेदसे ध्वन्यात्मक कारणप्रकृतिके शब्दको प्रणव एवं वर्णात्मक प्रतिशब्दको ओंकार कह सकते हैं; इस कारण ध्वन्यात्मक प्रणवका जप केवल मनको साम्यावस्थाके निकट ले जानेसे हो सकता है और केवल वर्णात्मक ओंकारको ही पूर्वकथित तीन रूपसे जप कर सकते हैं। इसीसे दोनों एक ही भावमय होनेपर भी पूर्वापर अवस्थाभेदसे मुख्य और गौण हैं तथापि दोनों ही ईश्वरवाचक प्रतिशब्द हैं। यदि योगी अपनी प्राथमिक क्रियाओंके द्वारा योग्यता लाभ करके तत्पश्चात् मनको साम्यावस्था प्रकृतिके निकट पहुँचानेकी शक्ति प्राप्त करता हुआ प्रणवध्वनिमें अपने मनको लय करनेमें समर्थ हो जाय तो वह स्वतः ही साम्यावस्था प्रकृतिमें लय होता हुआ द्रष्टारूपी परमात्माका साक्षात्कार करनेको समर्थ हो जायगा। क्योंकि यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि जिस प्रकार जलाशयमें तरङ्गोंके शान्त हो जाते ही सूर्यका प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट देखनेमें आता है उसी प्रकार अन्तःकरणके वृत्तिसमूह शान्त होते ही द्रष्टा स्वयं प्रकट हो जाते हैं। अतः प्रणवकी सहायतासे योगीका अन्तःकरण वृत्तिरहित होते ही उसको निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होगी जिससे स्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी। यही ध्वन्यात्मक आदिशब्द ईश्वरवाचक प्रणवके अवलम्बनसे वाच्यरूपी स्वरूपकी उपलब्धिका वैज्ञानिक रहस्य है। वर्णात्मक प्रणवकी सहायतासे परम्परारूपसे क्रमशः यही फल होता है। भावके साथ शब्दका जिस प्रकार सम्बन्ध है शब्दके साथ अक्षरका भी उसी प्रकार सम्बन्ध है, क्योंकि ध्वन्यात्मक शब्दका प्रतिशब्द ही वर्णात्मक शब्द होता है। भेद इतना ही है कि ध्वन्यात्मक शब्द वागिन्द्रियके अतीत है और वर्णात्मक शब्द वागिन्द्रियकी सहायतासे ही कार्यकारी होता है। अतः वर्णात्मक प्रणवकी सहायतासे योगी प्रथम अवस्थामें वाचनिक और उपांशु जप करता हुआ, प्रत्याहार भूमिसे

धारणभूमिमें अग्रसर होता है। उसके बाद मानसिक जपका अधिकार प्राप्त करके ध्यानभूमि और तत्पश्चात् समाधिभूमिमें पहुँचकर ध्वन्यात्मक प्रणवके जपका अधिकार प्राप्त करता हुआ स्वरूपोपलब्धिमें समर्थ होता है। प्रणवकी सहायतासे ये सब अधिकार स्वतः ही प्राप्त होते जाते हैं। जब प्रणवके साथ ईश्वरका अनादि और अविमिश्र सम्बन्ध होना प्रमाणित है तो साधक वाचकरूपी ओंकारका जप करते करते उत्तम अवस्थामें पहुँच कर जब अन्तःकरणको उस वाचकरूपी प्रणवध्वनिमें लय कर देगा तो स्वतः ही उसका अन्तःकरण वाच्यरूपी ईश्वरमें पहुँच जा सकता है। जैसे तैलपायी कीट (भयसे मोहित हो) उस कंचुकी कीटका रूप ध्यान करते करते अन्तमें कंचुकी कीट हो जाता है, उसी प्रकार जीव यदि भवद्गुणस्मरण द्वारा सदा परमेश्वरका ध्यान करता रहे तो स्वतः ही उसकी स्वाभाविक चंचल वृत्तियोंका नाश हो जायगा और वह भगवद्भावको ध्यान करता हुआ मुक्त हो जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी कारणसे योगाचार्योंने प्रणवसे ही अन्यान्यबीजमन्त्रोंकी सृष्टि मानी है। यथा—

साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥

जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसीप्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं, वे ही नानाशब्द उपासनाके अनेक बीजमन्त्र हैं। इसी कारण प्रणवको ऊपर कथित सब बीजमन्त्र अथवा शाखा-पल्लवयुक्त मन्त्रयन्त्रका सेतु करके माना है। यथा—श्रुतिस्मृतिमें—

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः"

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥

प्रणवसे अतिरिक्त जितने बीजमन्त्र हैं, वे सब वैषम्यावस्था प्रकृतिके विशेष विशेष विभागोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं और बीजमन्त्रके अतिरिक्त जो शाखापल्लवयुक्त मन्त्र हैं, वे भावप्रधान होनेसे वैषम्यावस्था प्रकृतिसे उत्पन्न भावराज्यके ही प्रकाशक हैं। अतः उन सबमें देशकाल और भावकी परिच्छिन्नता विद्यमान है, जहाँ देशकालादिकी परिच्छिन्नता है वहाँ पूर्णशक्तिका अभाव तथा सर्वव्यापकताका अभाव है इसमें सन्देह ही क्या ? सेतुकी सहायतासे जिस प्रकार मार्ग सरल और बाधारहित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार देश-कालसे अपरिच्छिन्न पूर्णशक्तिमान् भगवान्का वाचकरूपी पूर्णशक्तिशाली प्रणव अन्य सब बीजमन्त्र तथा शाखापल्लवयुक्त मन्त्रोंके मार्गको सरल और बाधारहित करके उनकी शक्तिको लक्ष्यस्थलपर पहुँचा देता है। अतः प्रणवकी सहायता आत्मसाक्षात्कार करनेकी इच्छा रखनेवाले अधिकारियोंके लिये परम हितकारी है। इन्हीं कारणोंसे महर्षि सूत्रकारका इस सूत्रसे यही तात्पर्य्य है कि वाचकरूपी प्रणवका जप और उसके साथही भगवद्गुणोंका स्मरण करते करते साधक स्वतः ही समाधिस्थ होकर आत्मदर्शन करने लगेगा ॥ २८ ॥

प्रणवसाधनका फल वर्णन किया जाता है—

तब प्रत्यगात्मारूप पुरुषका ज्ञान होता है और विघ्नोंका नाश होजाता है ॥ २९ ॥

तब अर्थात् जब प्रणवके साधनसे जीव अपनी चित्तवृत्तियोंसे

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

उपराम हो जाता है उस समय उसका अन्तःकरण समाधिस्थ हो जाता है। जबतक अन्तःकरण समाधिस्थ न हो तबतक वृत्तियां वहिर्मुख होकर अर्थात् विषयोंसे मिलकर अन्तःकरणको चंचल कर दिया करती हैं, यही चंचलता समाधिका विघ्न है; परन्तु अब जब प्रणवसाधनसे चित्त-वृत्तियाँ ठहरकर अन्तःकरण एकाग्र होकर भगवद्भावमें लय होजाता है तब इन विघ्नोंका नाश आपही हो जाता है और इसही अवस्थामें अन्तःकरण निर्मल होजानेसे उसमें प्रज्ञारूपी यथार्थ ज्ञानका उदय होता है और इसी ज्ञानकी प्राप्तिसे साधक आत्म-साक्षात्कार लाभ करके मुक्त हो सकता है और आगेके सूत्रमें कथित समस्त अन्तरायोंसे भी बच सकता है। यह सूत्र प्रणवजपके द्वारा ईश्वर प्रणिधानका पूर्ण महत्त्व प्रकाशक और निष्कण्टक पथप्रदर्शक है। अन्य प्रकारके जप तथा अन्य-प्रकारके साधनोंमें कदाचित् विघ्नोंकी सम्भावना रह सकती है, तथा उन पथोंमें बाधा विघ्न उत्पन्न होनेका अवसर मिल सकता है। परन्तु प्रणवजपद्वारा ईश्वर प्रणिधानरूपी साधनमें ऐसा होनेकी सम्भावना ही नहीं। ईश्वरके साथ प्रणवका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण एकमात्र प्रणवकी सहायतासे ही योगीका अन्तःकरण श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें बेरोकटोक पहुँच जाता है। सविकल्प समाधियोंमें जो जो विघ्न हो सकते हैं, जिनका वर्णन पहले आ चुका है और वृत्तियों के बार-बार प्रकट होनेसे जो-जो विघ्न हो सकते हैं उनका वर्णन आगे आवेगा; ये सब बातें प्रणवजपकारी ईश्वर भक्तिमान् योगीको बाधाप्रदान नहीं कर सकतीं। अतः इस साधनकी सर्वश्रेष्ठता तथा आस्तिक्यमूलकताका महत्त्व प्रतिपादन किया गया है॥ २९॥

अब पूर्वसूत्रकथित अन्तरायोंका वर्णन किया जाता है—

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व, ये सब चित्तके विक्षेप करने वाले हैं अतः योगके विघ्न हैं ॥३०॥

अब महर्षि सूत्रकार अन्तःकरणके विक्षेपकारक योगसम्बन्धीय अन्तरायोंका वर्णन कर रहे हैं, ये ही सब अन्तःकरणको योगयुक्त होनेसे रोकते हैं, अर्थात् यही साधकको योग-अवस्था प्राप्त करनेमें विघ्नकारी हैं। शरीर और अन्तःकरणका अविमिश्र सम्बन्ध है। संसारमें प्रत्येक मौलिक पदार्थके तीन-तीन और सात सात भेद होते हैं। यथा-प्रकृतिराज्यके सूक्ष्म भावोंमें सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण और सप्तव्याहृति आदि सप्तविभाग। इसी शैलीपर पिण्डरूपी जीवशरीरमें भी वात पित्त कफरूपी त्रिविध प्रकृति और रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा आदि सप्तधातु माने गये हैं। जब तक तीनों प्रकृतिकी समता रहती है और जब तक धातुओंमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता तब तक पिण्डरूपी जीवशरीर प्रकृतिस्थ रहता है और उसमें कोई विकार या रोग उत्पन्न नहीं होने पाता है। परन्तु उनमें वैषम्य उपस्थित होनेसे शरीरमें जो विकार उत्पन्न होता है उसको व्याधि कहते हैं। जब अन्तःकरणकी प्रवृत्ति तामसिक कर्मोंकी ओर रहे और उसकी ऐसी चेष्टा रहे कि जब कर्म करे तो तामसिक कर्म ही करे, नहीं तो कर्मरहित होनेकी प्रवृत्ति दिखावे; अन्तःकरणकी इस प्रकारकी तामसिक वृत्तिका नाम स्त्यान है। जीवमात्रकी स्वाभाविक गति सत्त्व गुणकी ओर

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

है। इसी कारण उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज इस क्रमसे जीव क्रमशः सत्त्वानुगामी होता हुआ अन्तमें सत्त्वगुणकी अधिकारस्थान मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है और मनुष्ययोनिमें क्रमशः सत्त्वगुणको बढ़ाता हुआ अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णावस्थामें मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है। सुतरां मनुष्यमें तमोगुणको बढ़ने देना उसके पुनः पतनका कारण होगा। इस कारण तमोगुणवर्द्धक स्थान योगान्तराय है इसमें सन्देह नहीं। दो पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थमें भी निश्चय बुद्धि न होनेको संशय कहते हैं; अर्थात् जब दो पदार्थोंका विचार करते-करते भ्रमपूर्ण बुद्धि कभी उन दोनोंमेंसे एकको सत्रूपेण ग्रहण करे और पुनः अपने उस विचारको भ्रमपूर्ण समझकर दूसरेको असत् मानने लगे इस प्रकारकी जो चलायमान वृत्ति है उसको ही संशय कहते हैं। समाधिकी पूर्णावस्थाको प्राप्त करनेके जो जो उपाय हैं, अर्थात् जिन उपायों द्वारा साधक शनैः शनैः समाधिस्थ हो सकता है उन उपायोंमें अन्तःकरणके न जमनेको प्रमाद कहते हैं, पूर्व-सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार श्रद्धाको ही योगयुक्त होनेका प्रथम अवलम्बन कह आये हैं, अतः जो वृत्ति इस वृत्तिके विरुद्ध हो अर्थात् जो वृत्ति-योगकी क्रियाओंमें अन्तःकरणके लगानेवाली श्रद्धाकी विरोधिनी और अन्तःकरणकी दृढ़ताका बाधक हो उस हीका नाम प्रमाद समझना उचित है। मनमें और शरीरमें तमोगुण अधिक बढ़ जानेसे जब मन और शरीर कार्य्य करना नहीं चाहते, तमोगुणकी उसी अवस्थाका नाम आलस्य है। अर्थात् तमोगुणके भारीपनके दबावसे जब अन्तःकरण और शरीरमें जड़ता आ जाती है और वे स्फूर्तिहीन होकर परिश्रमसे बचना चाहते हैं, अन्तःकरण और शरीरकी इस अवस्थाको ही आलस्य कहते हैं। अन्तःकरण जब तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी सहायतासे किसी विषय-

में लगकर उस विषयको अपनेमें आरोपित कर आत्माके संग उस विषयका संयोग कर देता है उस अवस्थाको अविरति कहते हैं, अर्थात् आत्मा अविद्याके कारण अपने आपको अन्तःकरण माने हुए है, अन्तःकरणकी स्वाभाविक वृत्ति विषयके साथ मिलकर अपने आपको विषयवत् करती हुई आत्माको मोहित अथवा प्रलोभित करती रहती है, अन्तःकरणकी उस वृत्तिका नाम अवि-रति है। कुछसे कुछ समझ लेनेको भ्रांति कहते हैं, अर्थात् जैसे शुक्तिके देखनेसे रजतका विपर्ययज्ञान होता है, जैसे छाया आदि के देखनेसे प्रेतादिका बोध होता है, इसी प्रकारके विपरीत ज्ञानको भ्रांति कहते हैं। जब अन्तःकरण समाधिकी पूर्ण अवस्थाकी ओर चलते हुए बीचमें अटक जाता है अर्थात् अपनी निर्मलताकी सहायतासे आत्माके आभास सुखको ही आत्माका यथार्थ सुख समझ कर, उसी आभास आनन्दमें मग्न हो रहता है, जैसे कि जड़समाधि आदिमें साधकको हुआ करता है, इसप्रकारकी कैवल्यपदमें विघ्न डालनेवाली अवस्थाको अलब्धभूमिकत्व कहते हैं और जब साधकका अन्तःकरण पूर्ण योगभूमि अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिकी सीमातक पहुँच कर वहाँ बिना ठहरे ही नीचेकी ओर उतर आया करता है, अर्थात् अन्तःकरणमें दृढ़ताका अभाव होनेके कारण वह योगकी प्रधान लक्ष्य निर्विकल्प-समाधि अथवा असम्प्रज्ञात समाधिकी सीमा तक पहुँच तो जाता है परन्तु ठहर नहीं सकता, साधककी इस दुर्बलताको अनवस्थितत्व कहते हैं। इस सूत्रमें लिखे हुए यह नौ विषय अन्तःकरणके विक्षेप करनेवाले हैं अतः योगसाधनके विघ्न हैं, अर्थात् इन समाधिविरोधी गतियोंके कारणसे अन्तःकरण प्रकृतिकी ओर लगा रहता है और उन्हींके कारण योगके प्रधान लक्ष्य कैवल्यपदको प्राप्त नहीं हो सकता। यही योग विघ्न कहाते हैं॥ ३०॥

अब दूसरे प्रकारके गौण योगविघ्नोंका वर्णन किया जाता है—

दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास, यह चित्त-विक्षेपके साथ होते हैं ॥ ३१ ॥

पूर्वसूत्रमें एक प्रकारके योगविघ्नोंका वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार दूसरे प्रकारकी विघ्नकारी वस्तुओंका वर्णन करते हैं; पूर्वकथित अन्तरायसमूह विक्षेपकारक हैं और अब जिनका वर्णन किया जायगा वे विक्षेपके सहायक हैं; दोनों ही योगमें विघ्न करनेवाले हैं, परन्तु पूर्वापरसम्बन्ध होनेके कारण उनको पहले और इनको पीछे वर्णन किया है। दुःख तीन प्रकारका होता है। यथा—आध्यात्मिक दुःख, आधिदैविक दुःख और आधिभौतिक दुःख; आध्यात्मिक अर्थात् अन्तःकरण और शरीरसे जो दुःखकी उत्पत्ति हो उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं, जो दैवात् एकाएक दुःख उत्पन्न हो जिसका कि पूर्वकारण जाननेमें नहीं आता है जैसे महामारीभय, वज्रपात आदि; इस प्रकारके दैवी दुःखको आधिदैविक कहते हैं, और जो दुःख और जीवोंके द्वारा प्राप्त हो, यथा—कुटिल मनुष्य और हिंसक जन्तु आदिसे जो दुःख प्राप्त होता है उसको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। ये ही त्रिविध दुःख हैं। वासनाके पूर्ण न होनेसे इच्छा-भंग होकर जो एक प्रकारका क्षोभ अर्थात् मन और शरीरमें अवसन्नता हुआ करती है उसका नाम दौर्मनस्य है। भय आदि वृत्तियोंके वशीभूत होकर जो मन, शरीर और शरीरके अंगोंका कम्पन उपस्थित होता है उसका नाम अंगमेजयत्व है। प्राण-वायु जो बाहरकी वायुको भीतरकी ओर खींचता है उसको श्वास कहते हैं और प्राण-वायु जो भीतरकी वायुको बाहरको फेंकता है उसका नाम प्रश्वास है।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार त्रिताप, दौर्मनस्य और अंग-मेजयत्व, यह तीनों अन्त:करणविक्षेपके साथ रहते हैं और अधिक विक्षेप करनेमें सहायक होते हैं, उसी प्रकार श्वास प्रश्वास भी अन्त:करणमें विक्षेप करनेमें सहायक हैं, अर्थात् जितना अन्त:करण चंचल होगा उतना ही श्वास, प्रश्वास अधिक-अधिक बहेगा और यह भी प्रमाणित है कि अन्त:करण ठहरते ही प्राण-क्रिया ठहर जायगी, और अन्त:करण जितना चंचल होगा उतना ही प्राणक्रिया रूपी श्वास, प्रश्वास भी अधिक वेगसे धावित होगा। इस कारण इस सूत्रमें कही हुई यह पाँचों वृत्तियाँ सदा अन्त:करणके विक्षेपके सहायक हैं, इसी कारण ईश्वरप्रणिधानके साधनरूप प्रणवजपके अभ्याससे इनको रोककर अन्त:करणका शुद्ध करना साधकके लिए उचित है ॥ ३१ ॥

अन्तराय दूरीकरणार्थ उपायका निर्देश किया जाता है—

विक्षेपकारी योगविघ्नोंकी निवृत्तिके लिए एकतत्त्वका अभ्यास करना उचित है ॥ ३२ ॥

चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधन द्वारा कैवल्यप्राप्तिके प्रधान साधन अभ्यास और वैराग्यका विस्तारित वर्णन करनेके अनन्तर पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने अभ्यास वैराग्यके अतिरिक्त एक साधारण उपाय ईश्वरप्रणिधानका वर्णन किया है। वस्तुतः वैराग्यसहित अष्टाङ्ग योगका अभ्यास कैवल्यप्राप्तिका विशेष साधन है। परन्तु प्रणवजपादि अङ्गसम्वलित ईश्वर प्रणिधान भी कैवल्य-प्राप्तिका साधारण उपाय है। पूर्वविज्ञानके अनुसार इतना तो सिद्ध ही हो चुका है कि अभ्यास वैराग्य और ईश्वरप्रणिधान दोनों ही कैवल्यप्राप्तिके उपाय हैं, अपिच कैवल्यभूमिमें अग्रसर

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

होनेकेलिये जो जो विघ्न उपस्थित हो सकते हैं वे प्रधानतः प्रणवजपसे ही नष्ट हो सकते हैं। परन्तु उसके अतिरिक्त एकतत्त्वके अभ्यासद्वारा भी वे सब विघ्न निवृत्त हो सकते हैं, ऐसा इस सूत्र-का तात्पर्य है। भेद इतना ही है कि प्रणवजप आस्तिक उपाय है और एकतत्त्वाभ्यासादि जिनका वर्णन आगे क्रमशः आवेगा वे सब ईश्वरसम्बन्ध युक्त उपाय नहीं हैं ऐसा कहा जा सकता है। एक-तत्त्वके अभ्याससे अन्तःकरणविक्षेपकारी बाधाओंका नाश हो जायगा। अब प्रश्न यह हुआ कि वह एकतत्त्व क्या है? यदि ऐसा कहा जाय कि अन्तःकरणको एकाग्र करनेसे ही एकतत्त्व-अभ्यास होगा। इसके उत्तरमें यदि कोई कहे कि जब हम अन्तः-करणको नाना विषयोंमें भ्रमण करते हुए देखते हैं तो इससे यही अनुभव होता है कि नाना विषयोंमें भ्रमण करनाही अन्तःकरण-का स्वाभाविक गुण है, इसी कारण उसका किसी ज्ञात अथवा अज्ञात विषयमें ठहरना असम्भव है; क्योंकि नानाविषयरूपी अन्तःकरणका प्रवाह क्षणिक है अर्थात् अन्तःकरणमें एक प्रकारका प्रवाह सदा नहीं रहता; क्षणिक वस्तुमें एकाग्रता कहाँसे आवेगी? परन्तु जब प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि रजोगुणद्वारा जब अन्तः-करणसे काम लिया जाता है तब वह नियमित एक प्रकारके कार्य्यमें ही लगा रहता है, इस हेतु क्षणिक नहीं हो सकता, और जब साधनद्वारा अन्तःकरणको जितनी देर तक चाहें एकाग्र करके रख सकते हैं अर्थात् जब उसका लक्ष्य सिवाय एक पदार्थ-के और कहीं नहीं जाता तो इससे यही सिद्धान्त हुआ कि अन्तः-करणका स्वाभाविक गुण नाना विषयोंमें भ्रमण करना नहीं है; यदि ऐसा होता तो एकाग्रता स्थापन उसमें हो ही नहीं सकती थी और यदि होती तो वह एकाग्र अवस्था उसके अर्थक्लेशका कारण होती। जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण है वहाँ सन्देहका कोई कारण ही

नहीं; इस कारण यह दृढ़ताके साथ निश्चय हुआ कि अन्तःकरण एकाग्र हो सकता है और अन्तःकरणकी एकाग्रतासे ही एकतत्त्व-की प्राप्ति हो सकती है। अब देखना चाहिये कि वह एकतत्त्व क्या है? जब हम कहते हैं कि "हमारा शरीर अच्छा है" तो शरीरका देखनेवाला कोई स्वतन्त्र पदार्थ हुआ, वही स्वतंत्र पदार्थ अन्तःकरण है जो शरीरका अच्छा होना न होना विचार कर रहा है; इसी प्रकार जब हम कहेंगे कि "आज हमारा अन्तःकरण प्रसन्न है" तो अहं पदवाच्य अर्थात् वह पुरुष जो अपने आपको अन्तः-करणसे स्वतंत्र रखकर "हमारा अन्तःकरण" ऐसा कह रहे हैं वे अन्तःकरणसे भी स्वतंत्र सिद्ध हुए। इन दोनों विचारोंसे यही सिद्ध हुआ कि अहंपदवाच्य पुरुष स्वतंत्र है और अन्तःकरण भी स्वतन्त्र है; और अन्तःकरणका और उस पुरुषका निकट सम्बन्ध है; जब यह अन्तःकरण पुरुषकी ओरसे दृष्टि फेर कर नाना विषयोंकी ओर दृष्टि करके उनमें फँस जाता है तब ही वह नाना-रूप धारण कर लेता है; और यही अवस्था अन्तःकरणकी स्वाभाविकी है अर्थात् जब वह बहुरूप धारण कर लेता है तब तो वह अन्तःकरण कहाता है और जब वह एकाग्रता स्थापन करता हुआ पूर्णरूपेण एकाग्र हो जाता है तब वह एकतत्त्व कहाता है। अतः जब अन्तःकरण अपनी बहिर्मुखदशासे उलट कर अपनी विषयवती अनन्तधाराको रोकता हुआ आत्माकी ओर एक धारासे सम्मुखीन होजाय, अन्तःकरणकी उसी दशाको एकतत्त्व कहते हैं। बहिर्मुखीन अन्तःकरण नाना विषयोंके अवलम्बनसे नाना तत्त्वोंको प्राप्त करता है। परन्तु उधरसे बगदा हुआ अन्तःकरण जब आत्मराज्यकी ओर अग्रसर होता है तभी वह एक अद्वैतधारा-से युक्त होकर एकतत्त्व दशाको प्राप्त हो जाता है। शुद्ध अन्तः-करणकी इस दशाको एकतत्त्व कहते हैं। और इस प्रकारकी

एकतत्त्वदशाको प्राप्तकरनेसे ही अन्तःकरण पूर्वकथित विक्षेपोंसे बचकर एकाग्र हो परमानन्दको प्राप्त कर सकता है ॥ ३२ ॥

अब एकतत्त्वप्राप्तिके सहायभूत साधनोंका वर्णन किया जाता है जिनमेंसे प्रथम साधन यह है—

सुखीसे प्रीति, दुःखियों पर दया, पुण्यात्मासे मैत्री और पापीगणसे उदासीनता करनेसे अन्तःकरणकी प्रसन्नता बनी रहती है ॥ ३३ ॥

पूर्व सूत्रमें एकतत्त्व अभ्यासका वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्त्वप्राप्तिकी सहायक वृत्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। यह पहिले ही कह आये हैं कि अक्लिष्ट वृत्तियाँ सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं और क्लिष्ट वृत्तियाँ तमोगुणकी हैं; जिनमेंसे सत्त्वगुणको वृत्तियाँ ज्ञानप्रकाशक और आनन्ददायक हैं, और तमोगुणकी वृत्तियाँ ज्ञाननाशक और क्लेशकारक हैं। सुखी मनुष्यको देखकर तमोगुणी मनुष्योंमें ईर्षारूप क्लिष्टवृत्ति हो सकती है; परन्तु यदि अभ्याससे अन्तःकरणको ऐसा अभ्यसित किया जाय कि सुखी मनुष्यको देखते ही उसमें प्रीतिका संचार हो तो कदापि उस अन्तःकरणके विचलित होनेकी सम्भावना नहीं होगी। इसी प्रकार यदि दुःखी मनुष्यको देखकर साधकके हृदयमें निष्ठुरतारूपी क्लिष्टवृत्ति न होकर प्रथम ही अन्तःकरणमें दयाका उद्रेक हो; पुण्यात्माको देखकर ईर्षा, दम्भ आदि क्लिष्ट वृत्तियाँ न होकर यदि उससे मित्रता स्थापनकी इच्छा हो और पापीगणको देखकर न तो उनके कर्म्मोंका अनुमोदन ही करे और न विरोधी ही बने परन्तु अन्तःकरण उदासीन हो जाय अर्थात् यही विचारने लगे कि "अपने

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

अपने कर्मानुसार जीवकी गति होती है और गुणके अनुसार ही कर्म हुआ करता है, जिसको जो चाहे करने दो हमारे देखनेकी आवश्यकता क्या है" ऐसा विचार करके यदि साधकगण पापकी निन्दा न करके अथवा उससे द्वेष न करके पापीगणसे उदासीन रहें तो साधकका अन्तःकरण कदापि विचलित नहीं होगा; और प्रसन्नताको प्राप्त होता हुआ एकतत्त्वदशाकी ओर अग्रसर होता जायगा। इसी कारण इस सूत्रका यह तात्पर्य है कि सुखीगणको देखकर प्रीति, दुःखीगणको देखकर दया, पुण्यात्मागणको देखकर मैत्री और पापीगणको देखकर उदासीनता लानेसे अन्तःकरण अविचलित रहता है और इसीप्रकार शनैः शनैः एकाग्र होता हुआ एकतत्त्वरूपी ईश्वरभावप्राप्तिकारक भावको प्राप्त करके कैवल्य-भूमिमें अग्रसर हो सकता है॥ ३३॥

द्वितीय साधन यह है—

अथवा प्राणके प्रच्छर्दन और विधारणकी क्रियासे भी एकतत्त्व प्राप्त होता है॥ ३४॥

इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्त्व प्राप्त करनेका दूसरा उपाय वर्णन कर रहे हैं। प्राणक्रियामें जो वायु भीतरकी ओरसे नासिका द्वारा बाहरकी ओर निकलती है उसको प्रच्छर्दन कहते हैं और जो वायु धारण की जाती है उसका नाम विधारण है; इस प्रकारसे प्राणवायुके रेचन तथा धारणअभ्यास द्वारा अन्तःकरणको एकाग्र करके साधक एकतत्त्वको लाभ कर सकता है। पूज्यपाद महर्षिगणका यही मत है और यह प्रामाणिक भी है कि मन, वायु और वीर्य्य तीनों एक ही पदार्थ हैं, अर्थात् मनकारण, वायु सूक्ष्म, वीर्य स्थूल विस्तार है; इन तीनोंमेंसे किसी एकको वशीभूत करनेसे

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

तीनों वशीभूत हो जाते हैं; इस कारण यह प्रमाणित ही है कि जब साधनसे प्राणवायु वशीभूत होकर ठहर जायगा तो मन अर्थात् अन्तःकरण आपही एकतत्त्वको प्राप्त होगा। नासापुटके द्वारा जो प्राणवायु आता जाता रहता है, वह कार्य है और प्राण-शक्ति कारण है, अर्थात् प्राणके चाञ्चल्यहेतु शरीररक्षाकेलिये जो कार्य होता है उसीके फलसे स्थूलशरीरमें स्थूलवायुके आने जानेकी जो शैली है उसीको साधारणतः श्वास प्रश्वास कहते हैं। सुतरां स्थूलवायु कार्य और प्राणशक्ति कारण होनेके कारण जिस शक्ति द्वारा स्थूल श्वास प्रश्वासकी समता उत्पन्न होती है उसीके द्वारा प्राणशक्ति भी स्थिरताको प्राप्त होती है, यह स्वतःसिद्ध है और प्राणशक्ति तथा मनःशक्तिका कार्यकारण सम्बन्ध होनेके कारण प्राणशक्तिके स्थिर होते ही अन्तःकरण स्थिर हो जाता है और अन्तःकरणके स्थिर होते रहनेके साथ ही साथ एकतत्त्वकी प्राप्ति होती है। अब विचारने योग्य विषय यह है कि स्थूल प्राणवायुकी स्वाभाविकता चञ्चलता रोकनेका साधारण उपाय क्या है और वह रुकावट कहाँ और कैसे बन सकती है। जब तक प्राणवायुका आना और जाना समानरूपसे बना रहता है, तब तक प्राणशक्ति और मनका चाञ्चल्य अवश्यम्भावी है। परन्तु प्राणवायुके रोकने-के लिये जो उपाय बन सकते हैं वे सम्भवतः तीन प्रकारके कहे जा सकते हैं। एक तो प्राणवायु जब बाहर निकले तब हो सकता है। दूसरा प्रकार वह कहाता है जब बाहरकी वायु भीतर आवे और तीसरा प्रकार यह हो सकता है कि जब किसी अन्य-कारणविशेषसे श्वास और प्रश्वास इन दोनोंकी स्वाभाविक क्रिया-में भेद पड़ जाता हो। प्राणवायु जब भीतरसे बाहरको निकल जाता है उस समयकी सन्धि प्रथम है। जब बाहरकी वायु भीतर पहुँचकर खिंचनेकी क्रिया बन्द हो जाती है उस समयकी सन्धि—

दूसरी है और तीसरी दशाके उदाहरणमें यह समझने योग्य है कि जिस समय सुषुम्नाका उदय हो जाता है, उस समय स्वभावसे ही श्वास और प्रश्वासकी शक्ति थोड़ी देरके लिये शिथिल हो जाती है। विचारशील व्यक्तिमात्र ही यह अनुभव कर सकते हैं कि जब इडासे पिङ्गला और पिङ्गलासे इडामें प्राणकी गति प्रारम्भ होती है अर्थात् जब वामनासिकासे दक्षिणनासिकामें तथा दक्षिण नासिकासे वाममें प्राणवायुके चलनेकी सन्धि उपस्थित होती है उस सयम थोड़ी देरके लिये श्वास प्रश्वासकी गतिका स्वाभाविक अवरोध हो जाता है। अतः श्वासके वाहर निकल जानेकी सन्धिमें, अथवा श्वासके भीतर आजानेकी सन्धिमें यदि साधक अपने मनको स्थिर करे तो उसके मनमें स्वतः एकतत्त्वका उदय हो सकता है। परन्तु सुषुम्नाके उदय होते समय एकतत्त्वका उदय होना स्वाभाविक है। योगाचार्योंकी सम्मति यह है कि इन तीनों दशाओंमेंसे सुषुम्नामें एकतत्त्वके अभ्यासमें अधिक सुगमता होती है। प्राणवायुके वाहर पहुँचनेपर जो दूसरी अवस्था है उसमें प्राणवायुको स्थिर करके एकतत्त्व प्राप्तिका दूसरा उपाय है। यह उपाय मध्यम हैं। और प्राणवायु जब भीतर पहुँच जाय उस समय प्राणवायुको स्थिर करके एकतत्त्वलाभ करना तीसरा उपाय है। यह उपाय अधम है। सुतरां इन तीनों दशाओंमेंसे किसी दशामें योगी पुरुषार्थ करनेपर सुगमताके साथ एकतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है॥ ३४॥

तृतीय साधन यह है—

अथवा जब दिव्य विषयवाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर उसीमें अन्तःकरण लगे तोभी एकतत्त्वप्राप्ति होती है॥३५॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥ ३५॥

महर्षि सूत्रकार अब एकतत्त्व प्राप्तिका तीसरा उपाय कह रहे हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पाँचों भूतोंसे सृष्टि है; इन पाँचों भूतोंके पाँच विषय हैं, यथा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; स्थूलसे सूक्ष्ममें ले आनेके अर्थ यदि अन्तः-करणको इन भूतोंके स्वाभाविक दिव्य विषयोंमें एक स्थानपर ही लगा रक्खा जाय, तो शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र हो सकता है। इस विषयमें उदाहरण दिया जाता है। यथा—नासिकाके अग्रभागमें अन्तःकरणको संयम करके वहाँके स्वाभाविक दिव्य गन्धमें एकाग्रताका अभ्यास किया जाय, अथवा रसनाके अग्र-भागमें उसी प्रकार रसरूपविषयमें अन्तःकरणके लगानेसे शनैः शनैः एकतत्त्व लाभ हो सकता है। यद्यपि अन्तःकरणके स्थिर करनेके अर्थ ये सब क्रियाएँ स्वाभाविक ही हैं, तथापि इस प्रकार-के क्रिया-साधनमें भी शास्त्र और श्रीगुरु-उपदेशकी आवश्यकता है; क्योंकि अप्रत्यक्ष देशके लाभ करनेमें प्रत्यक्ष साधनकी प्रवृत्ति-की दृढ़ता तब तक कदापि नहीं हो सकती जब तक निश्चय कराने-वाला कोई प्रत्यक्ष उपदेशक न हो; और दृढ़ता ही फल-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। इस कारण जब बिना उपदेशके दृढ़ता नहीं हो सकती तो बिना उपदेशके साधनमें सफलकाम होना भी असम्भव है। इस सूत्रमें जो विषयोंमें मन स्थिर करनेका उपाय वर्णन किया गया है उसीके विचारसे नाना प्रकारके साधन-मार्गोंमें नाना प्रकारकी क्रियाएँ विहित की गई हैं। इस सूत्रका यही आशय है कि स्थूलसे अन्तःकरणको सूक्ष्ममें लाकर तन्मात्रा-रूपी किसी एक भूतके किसी एक विषयमें अन्तःकरणको लय करनेका अभ्यास करनेसे वह शनैः शनैः एकतत्त्व प्राप्त हो जायगा; और इसीप्रकार एकतत्त्व प्राप्त करके साधक क्रमशः परम कल्याणपदको लाभ कर सकेगा। इस विज्ञानका तात्पर्य

यह है कि जीव जिन कारणोंसे विषयमें विमोहित हो विषयवत् हो जाता है, वे कारण यदि न रहें तो अन्तःकरण अपनी स्वाभाविक दशाको प्राप्त होकर एकतत्त्वके अधीन हो जाता है। इस विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे समझानेके लिये विचार करने योग्य है कि जीव विषयमें किस प्रकारसे फँसता है। उदाहरण-रूपसे विचारणीय है कि एक पुरुष यदि किसी स्त्रीरूपी विषयमें बद्ध होगा तो उसका अन्तःकरण रूपतन्मात्राकी सहायतासे दर्शनेन्द्रियके अन्तर्गत होकर स्त्रीरूपी विषयमें तदाकारिताको प्राप्त करेगा। उस समय स्त्रीरूपी विषय चक्षुगोलककी सहायतासे रूपतन्मात्राकेद्वारा अन्तःकरणको निजभावमें आकारित कर लेगा। विषयीके विषयवत् होनेकी यही साधारण शैली है, परन्तु यदि योगयुक्त योगी गुरुकृपासे इस विज्ञानके रहस्यको समझकर अपने अन्तःकरणको विषयतक पहुँचने न दे और केवल इन्द्रियोंकी शुद्ध विषयवती प्रवृत्तिमें ही अपने अन्तःकरणको ठहरा कर विषयदर्शनसे अन्तःकरणको शून्य रक्खे तो अपने आप ही उस योगीका अन्तःकरण अन्तर्मुख होकर आत्माकी ओर एकता-नताको प्राप्त करता हुआ एकतत्त्वका अधिकारी हो जायगा ॥३५॥

चतुर्थ साधन यह है—

अथवा शोकरहित प्रकाशमें युक्त होनेसे भी एकतत्त्व-प्राप्ति होती है ॥ ३६ ॥

एकतत्त्व प्राप्त करनेका अब चतुर्थ उपाय वर्णन किया जाता है। अन्तःकरण जब ज्ञानरूप शुद्ध सत्त्वगुणमें ठहर जाता है अर्थात् साधकको जब गुरु-उपदेश द्वारा निश्चयात्मक ज्ञानप्रकाश-युक्त ज्योतिका दर्शन होने लगता है; जिसका रूप शास्त्रोंमें सूर्य्य,

---

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा और मणिके सदृश वर्णन किया गया है, तो उस शोक-रहित परमानन्दकारी ज्योतिका दर्शन करते-करते उसी ज्योतिमें अन्तःकरणके लय करनेसे भी एकतत्त्व प्राप्ति हो सकती है। शास्त्रों में इस ज्योतिका ऐसा भी वर्णन पाया जाता है कि साम्यावस्था-प्रकृतिका रूप हो ज्योतिर्मय है; वेदोक्त सिद्धगायत्री मन्त्रमें जो ध्यानका वर्णन है वह इसी ज्योतिर्मयी महाविद्यारूपिणी प्रकृतिका रूप है। वैषम्यावस्था प्रकृति उसको कहते हैं कि जब प्रकृतिमें सदा सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके तरंग उठते ही रहें; परन्तु साम्यावस्था-प्रकृति उसका नाम है कि जब यह त्रिगुणमय तरङ्ग शुद्ध सत्त्वगुणमें लय हो जाय; अर्थात् जब कोई तरङ्ग ही न रहे और एकमात्र प्रकाशरूप सत्त्वगुण भासमान रहे; इसी अव-स्थाका नाम साम्यावस्था प्रकृति है; इसी अवस्थाको विद्या अथवा शोकरहित प्रकाश अथवा ज्ञानयुक्त अवस्था कहते हैं; अन्तःकरण जितना ही इस अवस्थाकी ओर बढ़ता जाता है, उतना ही शुद्ध सत्त्वगुणका यह प्रकाश अधिक भासमान होता जाता है। इस सूत्रका यही आशय है कि जब यह ज्योतिदर्शन होने लगे तो उसमें अन्तःकरणको एकाग्र कर देनेसे शनैः शनैः साधक एकतत्त्व-को प्राप्त हो जायगा। ज्योतिर्मय ब्रह्म, महामाया आलिङ्गित सगुण ब्रह्म या परमात्माकी विद्यारूपिणी पराप्रकृतिको ही 'भर्ग' नामसे वेदोक्त गायत्रीमन्त्रमें वर्णन किया गया है। ब्रह्मप्रकृति महामायाके दो भेद हैं। उनके तमोमय स्वरूपको अविद्या और उनके शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपको विद्या कहते हैं। अविद्या अज्ञानमयी होनेके कारण उससे जगत्‌में नानारूप दिखाई देते हैं। परन्तु शुद्ध सत्त्वगुणमयी विद्या ही साम्यावस्था प्रकृति होनेसे उसकी सहायतासे साधक अद्वितीय आत्मस्वरूपकी ओर अग्रसर होता है। यद्यपि उसका सूक्ष्मरूप ज्ञानमय है; परन्तु शोकरहित ज्योति-

ष्मती प्रकृति उसी सत्त्वगुणमयी विद्याका स्थूलरूप है। योगीका अन्तःकरण जब साधनद्वारा तम और रजगुणोंसे रहित होकर सत्त्वगुणमें ठहरने लगता है तो उसमें इस ज्योतिष्मतीका प्रकाश होने लगता है। पहिली दशामें योगीके अन्तःकरणमें वह प्रकाश कभी कभी एकाएक प्रकट हुआ करता है। शनैः शनैः योगी अपने अभ्यासद्वारा इस शोकरहित प्रकाशको अपने अन्तःकरणमें जितना जितना अधिक ठहरानेका प्रयत्न करता है, उतना ही वह ज्योतिर्मय विन्दुरूपमें अधिकतर स्थायी होने लगता है। इस प्रकारसे उस प्रकाशकी सहायतासे अन्तमें योगी समाधिप्राप्तिके कारणरूप एकतत्त्वके प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ३६॥

पञ्चम साधन यह है—

अथवा वीतराग चित्तोंका अवलम्बन होनेसे भी एकतत्त्व प्राप्ति होती है॥ ३७॥

अब इस सूत्र द्वारा एकतत्त्व प्राप्तिका पञ्चम उपाय वर्णन कर रहे हैं। वासनासे रज और तमोगुणकी उत्पत्ति होती है; जहाँ राग नहीं अर्थात् वैराग्ययुक्त अन्तःकरणमें केवल सत्त्वगुण ही बढ़ता जायगा। इस पवित्र भारतभूमिमें वीतराग पुरुषोंका अभाव त्रिकालमें नहीं है; पूर्वकालमें तो अनन्त उदाहरण मिलते हैं यथा—सनक, सनन्दन आदि देवर्षि, श्रीभगवान् वेदव्यास, शुक, आदि ब्रह्मर्षि और जनक आदि राजर्षि; जो भविष्यत्के मुमुक्षुगणके अर्थ अपना सुन्दर चरित्र दृष्टान्तस्वरूप कर गये हैं। उन महात्मागणके विषयराग-रहित अन्तःकरणपर अन्तःकरणको स्थापन करनेसे अन्तःकरण क्रमशः विषय-वैराग्ययुक्त होकर अन्तमें एकाग्रताको प्राप्त करता हुआ एकतत्त्व प्राप्त कर लेता है। अथवा

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

ऐसा भी कह सकते हैं कि साधक यदि क्रमशः विषय-रागरहित अवस्थाको प्राप्त करके पूर्ण वैराग्यकी भूमिपर पहुँच जाय तोभी योगी एकतत्त्वकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है। मनुष्यका अन्तःकरण, वृत्ति और इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयके रूपको धारण करता हुआ उसमें फँस जाता है। यही समाधिमें विघ्न डालनेवाली अवस्था है। वैराग्यकी पूर्णावस्थामें विषयका स्वरूप योगीके अन्तःकरणको फँसा नहीं सकता। उस विषयरागरहित अवस्थामें योगीके विषयकी ओरसे एक वार ही मुँह फेर लेनेसे उसके अन्तःकरणकी गति स्वाभाविकरूपसे आत्माकी ओर प्रवाहित होने लगती है। अन्तःकरणकी गतियाँ दो हैं। एक वृत्तियोंके द्वारा विषयकी ओर और दूसरी वृत्तियोंको छोड़कर आत्माकी ओर। अतः जब वैराग्यप्राप्तिद्वारा बिषयवती गति नष्ट हो जाती है तो अपने आप ही उसको आत्माकी ओरकी गति प्राप्त हो जाती है। तब वह योगी एकतत्त्व प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे योगी प्रसिद्ध प्रसिद्ध वीतराग महात्माओंके अन्तःकरणपर संयम करके अपने अन्तःकरणको विषयवैराग्यकी उच्च कक्षामें पहुँचा देवे अथवा वैराग्याभ्यासकी शैलीद्वारा स्वयं वीतराग बन जावे, दोनों अवस्थामें ही एकतत्त्व प्राप्तिका अधिकारी बन जायगा इसमें सन्देह नहीं ॥३७॥

षष्ठ साधन यह है—

अथवा स्वप्न-निद्राके बीचके ज्ञानमें अन्तःकरणको लय करनेसे एकतत्त्वप्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

अब इस सूत्र द्वारा एकतत्व प्राप्त करनेका छठा उपाय वर्णन किया जाता है। स्वप्न अवस्था उसे कहते हैं कि जिस अवस्थामें

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अन्तःकरण तमोगुणके आश्रित होकर बहिर्ज्ञानरहित हो जाय; परन्तु कुछ काम करता रहे; किन्तु निद्रावस्थामें कुछ भी काम अन्तःकरण नहीं किया करता है; इन दोनोंका विस्तारित विवरण पूर्व सूत्रोंमें आचुका है। जाग्रदशामें मनुष्य इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंको अवलम्बन करके रहता है और स्वप्नदशामें पहुँचते ही उसके अन्तःकरणके स्थूल विषय लय हो जाते हैं, परन्तु तब उसके अन्तःकरणमें मनःकल्पित विषय बने रहते हैं और निद्रित अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें दोनों बातें लय हो जाती हैं। इस कारण स्वभावतः जाग्रत् और स्वप्नकी सन्धिमें तथा स्वप्न और सुषुप्तिकी सन्धिमें योगीको विषयरहित आत्मोन्मुख अन्तःकरणकी गति प्राप्त करनेका स्वतः ही अवसर मिल सकता है। जाग्रत्से स्वप्न अवस्थाको ग्रहण करनेके समय और स्वप्न अवस्थासे निद्रा अवस्थामें जानेके समय जो दो मध्य अवस्थाएँ हुआ करती हैं जिनमें अन्तःकरण शून्य हो ठहरा रहता है, जिसका अनुभव करानेके अर्थ ऐसा भी कह सकते हैं कि स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाके बीचमें जो तन्द्रा अवस्था होती है, उसी प्रकारकी अवस्थामें तथा स्वप्न और सुषुप्तिके बीचकी सन्धिदशामें सचेत रहकर अन्तःकरणको उसी ज्ञानयुक्त शून्य अवस्थामें लय करनेसे एकतत्त्वप्राप्ति हो सकती है। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि इसी प्रकारकी बाह्यज्ञानशून्य किंतु अन्तर्ज्ञानसहित स्वप्नमेंकी अथवा निद्रामेंकी शून्य-अवस्थामें अन्तःकरणको लय करनेसे अन्तःकरण शनैः शनैः एकतत्त्व पदको प्राप्त कर सकता है ॥३८॥

सप्तम साधन यह है—

इच्छाके अनुकूल किसी एक रूपमें अन्तःकरणको लगाने से एकतत्त्वप्राप्ति हो सकती है ॥ ३९ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्त्व प्राप्त करनेका सातवाँ उपाय वर्णन कर रहे हैं। पूर्व सूत्रोंमें एकतत्त्व प्राप्त करनेके नाना प्रकारके साधनोंका वर्णन करके अब एक साधारण साधनका वर्णन कर रहे हैं कि जिसके द्वारा एकतत्त्वप्राप्त करनेकी युक्ति सार्वभौमरूपसे घट जाय। सब जीवोंकी प्रकृति स्वतंत्र स्वतंत्र है; इस कारण एक प्रकारका साधन सब जीवोंका कल्याणकारी नहीं हो सकता; इसी कारण महर्षि सूत्रकारने विचारद्वारा यह सातवें प्रकारकी साधनमर्यादा वर्णित की है। जिस-जिस साधकको जैसी-जैसी रुचि होगी और जैसी-जैसी प्रकृति होगी उसीके अनुसार श्रीगुरुदेव जिस-जिसको जिस-जिस प्रकारका उपदेश देना आवश्यक समझेंगे इन सातों उपायोंमेंसे किसी न किसीसे उनका (साधकोंका) अवश्य कल्याण होगा। इस सूत्रका यह तात्पर्य है कि मन जब स्वतः ही प्रकृतिके गुणके अनुसार किसी न किसी विषयमें लगता ही रहता है, तो अन्तःकरण अपने स्वाभाविक गुणके अनुसार जिस पदार्थमें लगे वहीं उसको रोक दिया जाय अर्थात् स्वभावसे ही जिस रूपका वह अनुमोदन करे उसी रूपके ध्यान करनेमें उसको लगा दिया जाय तो वह उसमें सहज रीतिसे ठहर जायगा; और इस प्रकार उसीका ध्यान करता हुआ एकतत्त्वको प्राप्त हो जायगा। यह पूर्व ही कह चुके हैं कि अन्तःकरणके एकाग्र होनेसे प्रज्ञारूपी पूर्णज्ञान-का उदय होकर अन्तःकरण योगयुक्त हो जाता है; तो इस रीतिके अभिमत ध्यान द्वारा भी साधक योगप्राप्ति द्वारा एकतत्त्व प्राप्त कर मुक्त हो सकता है। मनुष्यकी इस प्रकृति और प्रवृत्तिविचित्रताके कारण ही सनातनधर्ममें पञ्च उपासना और उसके साथ ही साथ प्रत्येक देवताके अनेक रूप वर्णन किये गये हैं; अर्थात् साधकको जैसी रुचि होगी वैसी ही रुचिके अनुसार ध्यान द्वारा वह अपना कल्याण साधन कर सकेगा। अभिमत ध्यानसे यह तात्पर्य नहीं

है कि मनुष्य अपनी विषय-सम्भोगप्रवृत्तिके अनुसार किसी स्त्री आदि विषयके ध्यान करनेसे भी एकतत्त्व प्राप्ति कर सकेगा। मनुष्य विषयभोगबुद्धिसे यदि किसी विषयके ध्यानको अन्तःकरणमें लावेगा तो स्वतः ही उसका अन्तःकरण विषयभोगजनित नाना चाञ्चल्यको प्राप्त हो जायगा। क्योंकि विषयभोगसङ्कल्पसे चाञ्चल्य और विषयत्यागसङ्कल्पसे धैर्यकी प्राप्ति होती है। इस कारण भोग-उत्पन्नकारी किसी भी विषयके ध्यानसे एकतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती; इसको सदा स्मरण रखने योग्य है। अस्तु, विषयभोगकी इच्छा उत्पन्न करनेमें सहायक कोई भी विषय इस साधनका उपयोगी नहीं है। केवल शास्त्रीय रूपसमूह और अन्तःकरणकी शुद्ध-रति उत्पन्न करनेवाले विषयसमूहसे ही महर्षि सूत्रकारका तात्पर्य है। किसी शुद्ध विषय या शास्त्रीय रूपादि जिसमें साधककी स्वतः ही प्रबल इच्छा उत्पन्न हो उसमें ध्यानाभ्यास करनेसे प्रथमतः जगत्के विषय छूट जायँगे। उसके अनन्तर प्रत्याहारवृत्ति उत्पन्न होगी। उसके अनन्तर उस ध्येयरूपी विषयमें मनकी दृढ़ रति उत्पन्न होगी। तत्पश्चात् अन्तःकरणमेंसे ध्यान करनेकी वृत्ति लय हो जायगी। इस प्रकारसे क्रमशः साधकका अन्तःकरण शान्त होकर एकतत्त्व प्राप्त करनेमें समर्थ हो जायगा॥ ३९॥

अब एकतत्त्वप्राप्तिनिमित्त साधनोंका दूसरा फल बताया जाता है—

परमाणुसे लेकर महास्थूल पदार्थों तक अन्तःकरणके ठहरानेकी शक्ति हो जाती है॥४०॥

पूर्व सूत्रोंमें सात प्रकारके साधनोंके उपाय वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार उन साधनोंका दूसरा फल वर्णन

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥४०॥

कर रहे हैं। एकतत्त्वके साधनद्वारा योगी योगके सब विघ्नोंको दूर करके समाधि भूमिमें पहुँच जाया करता है यह एकतत्त्व-प्राप्तिका प्रथम फल है। इस सूत्रका वर्णन द्वितीय फलविषयक है। सृष्टिमें दो प्रकारके पदार्थ हैं। एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म; जैसे अन्तःकरण स्थूलपदार्थोंके अवलम्बनसे चंचल होता है वैसे ही सूक्ष्मपदार्थोंके अवलम्बनसे भी चंचल हो सकता है; यदिच साधक पूर्वकथित साधन स्थूल-पदार्थ अर्थात् दृश्यमान वस्तुसे लेकर सूक्ष्म पदार्थ अर्थात् तन्मात्रा और परमाणु तकके अवलम्बन-से कर सकता है; तथापि जबतक अन्तःकरणकी वृत्तियाँ एक साथ ही निरुद्ध न हो जायँ तबतक स्थूलसे लेकर सूक्ष्म-पदार्थोंतकमें उसके पुनः फँस जानेकी सम्भावना है। इस कारण साधन करते समय अन्तःकरण चाहे किसी एक पदार्थके अवलम्बनसे एकाग्रता प्राप्तिकी चेष्टा करे, परन्तु अपने लक्ष्यको तब ही पहुँच सकता है जब वह इन दोनों अवस्थाओंसे अतीत हो जाय; अर्थात् एकाग्रता वृत्तिके साधनसे जब उसमें पूर्ण एकाग्रताका उदय होता है तबही स्थूलसे लेकर सूक्ष्मपदार्थ तकसे वह स्वतन्त्र होकर एकतत्त्व प्राप्ति द्वारा समाधिभूमिमें पहुँचकर परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि एकतत्त्व प्राप्ति कर लेनेपर योगीको वह उन्नत अवस्था प्राप्त होती है कि सूक्ष्मतम वस्तुसे लेकर स्थूलतम वस्तुपर्यन्त सर्वत्र जब चाहे तब योगी अपने अन्तःकरणको वशीकारयोग द्वारा ठहरा सकता है। एकतत्त्वप्राप्ति योगके बड़े-बड़े अधिकारोंमेंसे एक बड़ा अधिकार है। इसका एक बड़ा फल जो योगके सब विघ्नोंका नाश करता है उसका वर्णन तो पहले सूत्रोंमें कर ही चुके हैं। अब इस सूत्र द्वारा उससे भी एक उन्नततर फल कहा गया है। योगीको एकतत्त्वकी साधनावस्थामें ही अपने योगविघ्नोंके दूर करनेका

सामर्थ्य प्राप्त होता है, तत्पश्चात् एकतत्त्व साधनमें सिद्धिलाभ करनेपर योगीके अन्तःकरणका बल इतना बढ़ जाता है कि वह अपने अन्तःकरणकी वृत्तिसम्बन्धीय चञ्चलताको जब चाहे तब रोक कर प्रकृतिके स्थूलराज्य या सूक्ष्मराज्यमेंसे जहाँ चाहे वहाँ ठहरा दे सकता है। इस कारण वह अनेक आध्यात्मिक शक्तियोंको प्राप्त करके तब समाधि भूमिमें विचरण करनेके योग्य बन जाता है जिन भूमियोंका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा ॥ ४० ॥

इस प्रकार स्थितिप्राप्त चित्तमें सम्प्रज्ञात-समाधिका कैसे उदय होता है सो बताया जाता है :—

जब अन्तःकरणकी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं तब उस अन्तःकरणकी अवस्था अभिजात अर्थात् स्वभावनिर्मल स्फटिकमणिके समान होती है, अर्थात् जैसे स्फटिक-मणि स्वयं स्वच्छ है परन्तु वह समीपस्थ पदार्थके रंगको धारण कर लेती है, ऐसे ही योगीका अन्तः-करण स्वयं स्वच्छ होता है, परन्तु ग्रहीतारूप आत्मा, ग्रहणरूप इन्द्रिय और ग्राह्यरूप विषयके सहयोगसे वह तदाकार भावको प्राप्त हो जाता है। इसही अवस्थाका नाम समापत्ति है ॥ ४१ ॥

वृत्तिके क्षीण होनेपर अर्थात् जब एकतत्त्व साधनसे अन्तः-करण शुद्ध होकर चञ्चलतासे रहित हो जाता है, उस समय उस

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥४१॥

अन्तःकरणकी दशा शुद्ध स्फटिकमणिके तुल्य हो जाती है; अर्थात् स्फटिकमणि यथार्थमें स्वच्छ है परन्तु इसके सम्मुख कोई और रंगका पदार्थ रखनेसे वह तद्रूप ही हो जाती है। अर्थात् यदि साधकका अन्तःकरण किसी स्थूलभूतमें एकाग्रता स्थापन करे अथवा किसी सूक्ष्मभूतमें एकाग्रता स्थापन करे, इस एकाग्रता साधनके अन्तमें वह समापत्ति अवस्थाको प्राप्त करके अपने ध्येय वस्तु (जो स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो) अर्थात् उस लक्ष्य वस्तुके रूपको प्राप्त कर लेगा; अर्थात् उस अन्तःकरणमें एकमात्र तदाकार भानके अतिरिक्त और कोई दूसरा भान नहीं रहेगा। यही तदाकार वृत्तिरूप समापत्ति अर्थात् सविकल्प समाधिकी अवस्था ही एक तत्त्वरूप योग-साधनका उन्नततर तृतीय फल है; और इस अवस्थासे ही क्रमशः प्रज्ञालाभ करके सविकल्प-समाधिद्वारा निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करता हुआ साधक मुक्तिपदको लाभ कर सकता है। इस अवस्थाके समझानेके लिये साधारणतः जीवमें जो एकतत्त्वकी प्राप्तिसे स्वभावतः समापत्तिकी उत्पत्ति होती है उसको भलीभाँति समझा देनेकी आवश्यकता है; क्योंकि बिना उसके समझे योगी, जीवकी साधारण दशा और योगीकी विशेषदशाको समझकर अपनी क्रमोन्नतिको स्थायी नहीं रख सकता है। एकाग्रता प्राप्त होते ही क्रमशः एकतत्त्वकी प्राप्ति जीवको होती है और एकतत्त्वप्राप्ति होते ही जीव स्वतः ही समाधिभूमिमें पहुँच जाया करता है। अवश्य जीवकी यह समाधि दशा सविकल्प दशा है, इसमें सन्देह नहीं। जीव जब पुष्पादि रमणीय पदार्थका दर्शन करते हुए, रागादि मनोहर विषयोंका श्रवण करते हुए, स्त्री आदि सङ्गजनित स्पृश्य विषयोंको अनुभव करते हुए मिष्टान्नादि रसनेन्द्रियके तृप्तिकर पदार्थोंका सेवन करते हुए अथवा सुगन्धमय पुष्प आदिका आघ्राण करते हुए आनन्द प्राप्त करता है उस समय

उसका अन्तःकरण स्वभावसे तत्तद्वैषयिक एकाग्रताको प्राप्त करके सविकल्प समाधिको प्राप्त कर लेता है। यद्यपि अविद्यान्धकार-ग्रस्त जीव यह नहीं समझ सकता कि वह तब सविकल्प समाधिमें स्थित है, परन्तु यह निश्चय है कि उसके चित्तमें ऐसे आनन्दके उदयका कारण उसके अन्तःकरणकी स्वाभाविकरूपसे समाधि-प्राप्ति ही है और उसके अन्तःकरणमें जो आनन्दका उदय होता है वह परमात्माका ब्रह्मानन्द ही है। विषयाकारवृत्तिसे अपने आपही एक क्षणभरके लिये उस विषयभोगपरायण जीवका अन्तःकरण योगिजनोंके लिये दुर्लभ एकतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। एकतत्त्व-प्राप्तिके द्वारा उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ उस एक क्षणकेलिये क्षीण हो जाती हैं और तब सर्वव्यापक, निर्मल, शान्त, स्वच्छ आत्मा स्फटिकमणिके तुल्य विषयीके अन्तःकरणमें प्रतिफलित हो जाता है और तब स्वतः ही आत्माका ब्रह्मानन्द विषयानन्दरूपसे जीवको सुख देने लगता है। इस विज्ञानकेद्वारा यह स्पष्ट हुआ कि जीवको स्वतः ही किस प्रकार विषयाकार वृत्तिमें भी एकतत्त्वकी प्राप्ति द्वारा सविकल्प समाधिकी प्राप्ति हुआ करती है। इस विज्ञान-को यदि गुरुभक्तिपरायण योगी समझ जाय और पूर्वोल्लिखित साधनोंमेंसे किसी एक या ततोधिक योगक्रियाका अभ्यास करता हुआ ज्ञानपूर्वक एकतत्त्वकी भूमिसे सविकल्प समाधिकी भूमिमें पहुँच जाय तो वह अपनी योगसाधनकी क्रमोन्नतिको स्थायी रखकर क्रमशः समाधिकीभूमिमें उत्तरोत्तर अग्रसर हो सकेगा। एकतत्त्व-के साधनमें सिद्धिलाभ करके जब आत्मा अनात्माका विचार रखता हुआ योगी समाधिभूमिमें पहुँचता है तो उस समय उसको इस उन्नत अधिकाररूपी सविकल्प समाधिकी समापत्ति दशा किस प्रकार और किस रूपसे प्राप्त होती है सो इस सूत्रमें कहा गया है और इसलिये कहा गया है कि योगी अपनी स्थितिको समझकर

अपनी क्रमोन्नतिको स्थायी रख सकें। यदि साधारण विषयभोगियों-के तौर पर वह योगी इस समापत्तिरूपी उन्नत दशाको प्राप्त करके असावधान रहेगा तो समाधिभूमिमें उसकी उत्तरोत्तर उन्नति नहीं होगी। इस कारण इस सूत्रमें समापत्तिका स्वरूप कहकर आगे इसके भेद कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

क्रमप्राप्त समापत्तिके भेदोंका वर्णन किया जाता है :—

शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्प द्वारा मिश्रित समापत्ति सवितर्क होती है ॥ ४२ ॥

अब पूर्वकथित समापत्ति-अवस्थाकी प्रथमदशाका वर्णन कर रहे हैं। पहली दशा वह कहाती है कि जब समापत्ति-उत्पन्नकारी अवलम्बनकी शब्दमयसंज्ञा, उसका अर्थ और उसके ज्ञानका विकल्प अन्तःकरणमें वर्त्तमान रहे। इस विज्ञानको उदाहरणके द्वारा समझानेके लिये दोनों ओरसे समझाना उचित होगा। प्रथम वहिर्विषयकी ओरसे और दूसरा अन्तर्विषयकी ओरसे। बहिर्वि-षयकी ओरसे समझानेके लिये कमलके पुष्पका उदाहरण दिया जाता है। कमलका पुष्प यह शब्द कहते ही कमलका पुष्प यह शब्द अन्तःकरणमें पहुँचा, उससे अन्तःकरणमें इसके अर्थका बोध हुआ और साथही साथ कमलके पुष्पका ज्ञान भी उदित हुआ। इन तीनोंके अन्तःकरणमें उदित होनेपर भी विकल्पकी सहायतासे इन तीनोंका स्वरूप अन्तःकरणमें अलग-अलग प्रकट रहा। इन तीनोंके अलग-अलग प्रकट रहते हुए यद्यपि अन्तःकरण एकतत्त्व-की ओर अग्रसर होता है परन्तु उसमें अन्तःकरणकी समापत्ति दशा पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार जब अन्तःकरणके

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलम्बनका वर्णन किया जाय तो यही उदाहरण दे सकते हैं कि जब सच्चिदानन्दमय ब्रह्म ऐसा कहा जाय तो उस समय सच्चिदानन्दमय ब्रह्म यह शब्द, इसका अर्थ और इसका ज्ञान, तीनोंके ही एक साथ अन्तःकरणमें उदय होनेपर जब तक विकल्पकी सहायतासे तीनोंका भेद रहेगा तब तक समापत्ति दशा सवितर्क कहावेगी। इस दशामें न समापत्तिकी पूर्णता हो सकेगी और न अन्तःकरणकी वृत्तियाँ अपने स्वरूपसे शून्य होकर अन्तःकरणकी भूमिको एकबार ही निर्मल और शान्त कर सकेंगी। सिद्धान्त यह है कि अन्तःकरणकी इस दशामें यद्यपि अन्तःकरण-वृत्तियाँ लयकी ओर चल देती हैं और एकतत्त्वका उदय होने लगता है, परन्तु यह दशा समाधिभूमिमें चलनेका मार्ग ही है। इससे उन्नत दूसरी अवस्थाका वर्णन आगेके सूत्रमें किया जायगा ॥ ४२ ॥

निर्वितर्कके समापत्तिका वर्णन किया जाता है :—

शब्दार्थ ज्ञानमूलक स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर जिसमें स्वरूपरहितके समान भान होता है इस प्रकार ध्येयाकारभावयुक्त समापत्ति निर्वितर्क समापत्ति कहाती है ॥ ४३ ॥

निर्वितर्क समापत्तिकी अवस्थामें शब्दसंकेत, शब्दार्थका अनुमान और ज्ञानरूपी विकल्पयुक्त स्मृति आदिका कुछ भी भान नहीं रहता; अर्थात् केवल ग्राह्य पदार्थके रूपमें पदार्थवत् प्रतीत

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रानिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

होनेवाली बुद्धि ही रह जाती है; और पूर्व सूत्रकथित सवितर्क अवस्थाकी शब्द अर्थ और ज्ञानरूपी तीन अवस्थाओंमें साधनके द्वारा लय होकर एक लक्ष्यरूप अवस्थाको धारण कर लेती है उसही एकाकार अवस्थाका नाम निर्वितर्क समापत्ति है। यह पहले ही कह चुके हैं कि स्थूल-वस्तु अथवा सूक्ष्म-वस्तुमेंसे किसी न किसीकी सहायतासे समापत्ति लाभ होता है; समापत्तिकी पूर्वावस्था जो निकृष्ट है उसका नाम सवितर्क समापत्ति है; और एकाग्रता दृढ़ होनेसे जब समापत्ति पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाती है तबही उस उत्कृष्ट समापत्तिका नाम निर्वितर्क समापत्ति होगा। पूर्वसूत्रमें कहे हुए सवितर्क समापत्तिमें शब्द जो सुना गया या पढ़ा गया, उस शब्दका अर्थ और उस शब्दके विचाररूपी ज्ञान, इनकी स्मृतिके द्वारा विकल्पदशामें कुछ न कुछ अलग अलग वृत्ति-को धारण किये हुए अन्तःकरणमें बने रहनेसे समापत्तिकी पूर्णता नहीं हो सकती। परन्तु इस समापत्तिकी सर्वोत्तम दशामें चित्तकी एकाग्रता ध्येयवस्तुमें बढ़ जानेसे शब्द, शब्दका अर्थ और शब्दका ज्ञान ये सब स्मृतिकेद्वारा अलग अलग नहीं बने रहते। एककी स्मृति दूसरेमें और दूसरेकी स्मृति तीसरेमें लय हो जाती है। तब इस दशामें शब्द और शब्दके अर्थद्वारा ध्येयका जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था उसी ध्येयके स्वरूपमें चित्तवृत्ति निर्मल और एकाग्र होकर ठहर जाती है। उस समय चाहे वह ध्येय सूक्ष्म हो या स्थूल, उस ध्येयके सिवाय योगीको और कुछ भी बोध नहीं रहता। विषय चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म, चाहे दृश्यमान पंचभूत हो चाहे अदृश्यमान तन्मात्रा हो और चाहे सूक्ष्मभाव हो इन्हींकी सहायतासे निर्वितर्क समापत्ति होती है; यदि च समापत्तिकी इस पूर्णावस्थामें एकमात्र ज्ञानरूपी लयके अतिरिक्त और कुछ भी भान नहीं रहता, तथापि पाञ्चभौतिक विषय तो विषय ही है, प्राकृतिक

अवलम्बन जहाँ है वहाँ वह अवलम्बन अनित्य ही रहेगा; इस कारण एकाग्रताकी चरमसीमारूप निर्वितर्क समापत्तिकी अवस्थामें पहुँचकर भी प्रकृतिका सम्बन्ध रहता है; इससे परेकी अवस्थामें साधक समाधि-लाभद्वारा प्रकृतिका संग छोड़ परमात्मारूपी पुरुषका संग करता हुआ उनके ही रूपको प्राप्त कर मुक्त हो सकता है ॥ ४३ ॥

अब सूक्ष्मविषयके अवलम्बनसे क्रमप्राप्त द्विविध समापत्तियोंका वर्णन किया जाता है :—

ऐसी ही सविचार और निर्विचार नामक सूक्ष्म विषयवाली दो समापत्ति भी समझनी उचित है ॥ ४४ ॥

ऐसेही अर्थात् जैसे उत्कृष्ट और निकृष्ट अवस्था भेदसे एकाग्रता स्थापना करनेवाली समापत्तिके दो भेद पूर्व सूत्रोंमें वर्णन कर आये हैं; वैसेही आत्मदर्शनरूपी समाधिकी प्रथम अवस्थाके भी सविचार और निर्विचार भेदसे दो भेद किये गये हैं। पूर्व्व कथित दो अवस्थाओंमें अवलम्बन प्रकृति ही रहती हैं; परन्तु इस सूत्रमें कथित उन दो अवस्थाओंमें (जो दो अवस्थाएँ पूर्वकथित दो अवस्थाओंसे आगेकी अवस्थाएँ हैं) अवलम्बन परमात्मा ही रहते हैं। सविचार अवस्था वह कहाती है कि जिसमें समाधिद्वारा सूक्ष्म भूतके आश्रयसे देश, काल और निमित्तसे संयुक्त होकर आत्माका अनुभवमात्र किया जाय। इस दशामें भावके अवलम्बनसे योगी अग्रसर होता है और निर्विचार अवस्था वह कहाती है कि जिसमें सूक्ष्मभूत आदिका कोई सम्बन्ध न रहे परन्तु केवल परमात्माके साक्षात् सम्बन्धसे समाधि की जाय। इस दशामें भावकेद्वारा अनुभव प्राप्त होकर वह स्थिर हो जाता है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता: ॥ ४४ ॥

इन दोनों अवस्थाओंमें ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयभेदसे आत्म-साक्षात्कार होता रहता है, परन्तु सविचाररूपी जो निकृष्ट अवस्था है उसमें तो सूक्ष्मप्रकृतिका सम्बन्ध रहनेके कारण आत्माका केवल अप्रत्यक्ष अनुभवमात्र ही होता है; और निर्विचाररूपी जो उत्कृष्ट अवस्था है उसमें प्रकृतिका भान छूट जानेके कारण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय वृत्तिके अनुसार परमात्माका साक्षात् सम्बन्ध रहता है। ये भेद सविकल्प समाधिके हैं; निर्विकल्प समाधिकी अवस्था इस अवस्थासे भी आगेके अधिकारमें हुआ करती है और तत्पश्चात् निर्विकल्प समाधिकी पूर्णावस्थाको प्राप्त करके साधक मुक्त हो सकता है॥ ४४॥

यह सूक्ष्म विषय कहाँ तक है :—

सूक्ष्म विषयकी अवधि अलिंग पर्य्यन्त है॥ ४५॥

अब इस सूत्र द्वारा पूर्व सूत्रमें कहे हुए विज्ञानोंको तथा अन्तः-करणकी सूक्ष्म अवस्थाओंको और भी स्पष्टरूपसे प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया गया है। पृथिवीके अणुका सूक्ष्म विषय गन्ध है; उसी प्रकार जलके परमाणुका रस, अग्निके परमाणुका रूप, वायुके परमाणुका स्पर्श और आकाशके परमाणुका शब्द सूक्ष्म विषय है। वे विषय तन्मात्रा कहाते हैं, अहङ्कारव्याप्त अन्तःकरणमें इन तन्मात्राओंके लिङ्ग अर्थात् चिन्ह सूक्ष्मरूपमें रहते हैं, जब अहंकारसहित इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयोंके आगे और कुछ भी नहीं है तो यही अलिङ्ग कहाते हैं। इस अवस्थाको और रीतिसे भी इस प्रकार समझ सकते हैं कि गुणके हेर फेरसे तथा स्थूल-सूक्ष्मके विचारसे लिङ्गके चार भेद हैं; यथा—विशिष्टलिङ्ग, अविशिष्टलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग। स्थूल-भूत और इन्द्रियाँ

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्य्यवसानम्॥ ४५॥

विशिष्टलिङ्ग हैं, सूक्ष्म-भूत और तन्मात्राएँ अविशिष्ट लिङ्ग हैं, बुद्धिरूपेण शुद्ध अन्तःकरण लिङ्ग है और अन्तःकरणसे अतीत प्रधान ही अलिङ्ग कहाता है। इस अलिङ्ग अवस्थासे अधिक और कोई सूक्ष्म विषय नहीं हो सकता। यदि ऐसा प्रश्न हो कि पुरुष इनसे परे हैं इस कारण वह इनसे भी सूक्ष्म हुए? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जैसे लिङ्ग अवस्थासे परे अलिङ्गका सूक्ष्म भान है, वैसा पुरुषमें नहीं हो सकता। जैसे अलिङ्ग अवस्था लिङ्ग अवस्थाका समवायि कारण है, वैसा सम्बन्ध अलिङ्ग अवस्थाका पुरुषसे नहीं है। पुरुष प्रकृतिसे सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं, किन्तु प्रधान तक प्रकृतिका राज्य है, इस कारण पुरुष अलिङ्गके सूक्ष्म-कारण नहीं हो सकते। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि स्थूल जगत्से लेकर अलिङ्ग अर्थात् प्रधान तक विषय रहते हैं; परन्तु इस शेष अवस्थारूपी अलिङ्गमें विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाते हैं, इससे आगे और सूक्ष्म होनेकी सम्भावना नहीं है। निर्विकल्प-समाधिमें प्रकृतिका सम्बन्ध ही नहीं रहता वह अवस्था इस अवस्थासे परे हैं॥ ४५॥

इन सबकी कोटि कहाँ तक है :—

वे ही सबीज समाधि हैं॥ ४६॥

पूर्व सूत्रमें कही हुई चार प्रकारकी अवस्थाएँ; अर्थात् सवितर्क-समापत्ति, निर्वितर्क-समापत्ति, सविचार-समापत्ति और निर्विचार समापत्तिकी अवस्थाएँ सबीज समाधि कहाती हैं। इन चारों अवस्थाओंमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपेण अवलम्बन रहता है। जब अवलम्बन है तो बीज रहा, इसही कारण ये अवस्थाएँ सबीज हैं। प्रकृतिके परिणामिनी होनेसे दृश्यरूपी जगत्की सृष्टि होती है।

ता एव सबीजः समाधिः॥ ४६॥

यह दृश्य प्रपञ्चरूप जगत् प्रकृतिका ही कार्य है। पुरुष निष्क्रिय, निःसङ्ग, शुद्ध और मुक्त स्वभाव हैं। प्रकृतिके परिणामसे वृत्ति-सारूप्यको प्राप्त करके पुरुष बद्ध होता है। प्रकृतिमें परिणामरूपी वृत्तितरङ्ग उठते रहनेसे पुरुषमें उसका प्रतिविम्ब पड़ जानेसे पुरुष बद्धकी नाईं प्रतीत होता है। स्वच्छ मणिके सम्मुख कोई रङ्गका वस्त्र रखनेसे वह मणि उसी रङ्गकी प्रतीत होने लगती है। पुरुषके बन्धनका यह स्पष्ट उदाहरण है। परन्तु अष्टाङ्ग-योगसाधन द्वारा अथवा अन्यान्य उपायोंसे एकतत्त्वके पूर्ण अभ्यासद्वारा योगी जब अपने अन्तःकरणको पूर्णरूपसे वृत्तियोंसे रहित करता हुआ सवितर्क अवस्थासे निर्वितर्क अवस्थामें, निर्वितर्क अवस्थासे सविचार अवस्थामें और सविचार अवस्थासे निर्विचार अवस्थामें पहुँच जाता है तो उस समय उसका अन्तःकरण क्रमशः स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होता हुआ शुद्ध और वृत्तिरहित हो निर्मल हो जाता है। इसी क्रमके अनुसार उसका अन्तःकरण क्रमशः विशेष अवस्थासे अविशेष अवस्थामें, अविशेष अवस्थासे लिङ्ग अवस्थामें और लिङ्ग अवस्थासे अलिङ्ग अवस्थामें पहुँचता हुआ तरङ्गरहित तडागकी तरह निर्मल और शुद्ध हो जाता है। तब द्रष्टा पुरुषका यथार्थस्वरूप जो वृत्तिरूपी तरङ्गोंसे छिपा हुआ था सो स्वतः ही प्रकाशित हो जाता है तभी निर्बीज समाधिभूमि प्राप्त होती है और योगी मुक्तिभूमिमें पहुँच जाता है। पूर्वकथित सब अवस्थाओंको एकतत्त्व अभ्यासकारी योगी अपने योगाभ्यास-के क्रमके अनुसार क्रमशः प्राप्त करता हुआ अन्तमें इस उन्नत-भूमिमें पहुँचकर परमात्मा परमपुरुषकी जिन जिन अलौकिक शक्तियोंको प्राप्त करता है उसका वर्णन आगे किया जायगा ॥ ४६ ॥

अब निर्विचार समापत्तिकी फल बताया जाता है—

निर्विचार समापत्तिकी निर्मल अवस्थामें अध्यात्म-प्रसाद्-का उदय होता है ॥ ४७ ॥

पूर्व प्रमाणोंसे यह सिद्ध ही हो चुका है कि सवितर्कसमापत्ति-से निर्वितर्क-समापत्ति, निर्वितर्क-समापत्तिसे सविचारसमापत्ति और सविचार-समापत्तिसे निर्विचार-समापत्ति क्रमशः उन्नत हैं। इस शेष अवस्थामें अर्थात् निर्विचार-समाधिमें प्रकृतिके सम्पूर्ण-रूपेण शुद्ध हो जानेसे, रज और तमगुणका लय हो जाता है; और तब सत्त्वगुणका पूर्ण प्रकाश होनेसे अन्तःकरणमें अध्यात्म-प्रसादका उदय होता है। परमपुरुष ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय हैं। उनमें एक अद्वैतभावमें ये सत् चित् आनन्द-रूपी तीनों भाव विद्यमान हैं। उन्हींकी सत्तासे सत्तावती होकर जब प्रकृति परिणामिनी हो जगत् प्रसव करती है, तो उनका ब्रह्मा-नन्द सत् और चित्रूपी जड़ और चेतनके आश्रयसे अविद्यामय दृश्य और द्रष्टाके अभिनिवेशके रूपमें विषयानन्दमें परिणत होकर जीवको मुग्ध करता है। जीवकी बन्धन दशाका यही सूक्ष्म रहस्य है। जीव इस प्रकारसे अज्ञानजनित विषयानन्दमें फँसकर आवा-गमनचक्रमें नित्य घूमा फिरा करता है। यद्यपि विषयानन्दमें भी ब्रह्मानन्द ही व्याप्त है परन्तु वह अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण क्षणभंगुर और मिथ्या है। सविकल्प-समाधिकी इस सर्वोत्तम दशामें जब योगसाधनद्वारा एकतत्त्व अभ्यासके फलकी प्राप्ति होती है, उस समय अन्तःकरण वृत्तिरहित होकर निर्मल हो जाने पर उस योगिराजके विशुद्ध और स्थिर अन्तःकरणमें अपने आपही परमानन्दप्रद ब्रह्मानन्दका आभास प्रतिफलित होता है। इसीको अध्यात्मप्रसाद कहते हैं। रज और तमगुण ही दुःखके कारण हैं,

---

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

इस अवस्थामें उन दोनों गुणोंका लय हो जानेसे योगी सब दुःखों-से रहित होकर, परमानन्दमय परमात्माके सान्निध्यसे आत्म-प्रसाद रूपी परमानन्दका भोग करने लगता है ॥४७॥

इस अवस्थामें और क्या होता है:—

उस अवस्थामें जो बुद्धि होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं ॥४८॥

इस पूर्वसूत्र कथित अवस्थामें पूर्ण सत्त्वगुणके उदय होनेसे बुद्धि भी पूर्ण सात्त्विकी हो जाती है; अन्तःकरणमें जबतक रज और तमोगुणका प्रभाव रहता है तब तक चंचलता रहनेके कारण बुद्धिका पूर्णरूपेण प्रकाश नहीं हो सकता, परन्तु इस निर्विचार-समाधिकी अवस्थामें रज और तमगुणके लयके साथ बुद्धिकी चंचलता भी नष्ट हो जाती है; तब उस अन्तःकरणमें विपर्य्यय आदि मिथ्याज्ञान होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती; समस्त पदार्थ यथावत् प्रतीत होने लगते हैं; इस ही अवस्थाकी बुद्धिको वेदान्त आदि शास्त्रोंने प्रबोध कहा है, और योग-शास्त्रमें इसीको ऋतम्भरा कहते हैं। "ऋतं सत्यं विभर्त्ति धारयति इति ऋतम्भरा" अर्थात् जो बुद्धि सत्यको प्रकट करे उसे ऋतम्भरा कहते हैं। निर्विचार समाधिकी पूर्णतामें योगीके अन्तः-करणमें ऐसी ही सत्यसुधाकर-किरण-जालमण्डित अमृतमयी प्रज्ञाका उदय होता है। इसीलिये इस प्रज्ञाको योगिराज पतञ्जलिजीने ऋतम्भरा कहा है ॥ ४८ ॥

अन्य प्रज्ञाओंसे ऋतम्भरा प्रज्ञाकी विशेषता क्या है:—

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

विलक्षण विषयज्ञापिका होनेसे यह बुद्धि श्रुत और अनुमान बुद्धिसे भिन्नरूप होती है ॥ ४६ ॥

जिस विषयका ज्ञान शब्दश्रवण द्वारा हुआ करता है वह ज्ञान सम्पूर्ण नहीं हो सकता; चाहे कितना ही शब्दद्वारा भावोंको प्रकाश किया जाय तोभी विषयकी सूक्ष्मता, विषयके भावोंका विस्तार, विषयके गुण और विषयके क्रमका ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। इसी प्रकार जिस विषयका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है, वह ज्ञान भी सम्पूर्णताको प्राप्त नहीं होता; यदि च दूरवर्त्ती पर्वतमें धूमके देखनेसे अग्निका अनुमान सिद्ध हो जाता है परन्तु वह अग्नि कितनी है, किस पदार्थकी अग्नि है, इत्यादि सूक्ष्मकारणोंका ज्ञान अनुमानसे नहीं हो सकता। जहाँ तक अनुमान और शब्द प्रवेश कर सकते हैं वहीं तक वे ज्ञानका भी अनुभव करा सकते हैं, परन्तु उससे आगे वे कुछ भी नहीं कर सकते; उदाहरणमें ऐसा कह सकते हैं कि जितने लौकिक प्रत्यक्ष पदार्थ हैं, अर्थात् इंद्रियद्वारा जो ग्राह्य होते हैं उन्हींको शब्द और अनुमान प्रकाशित कर सकते हैं; परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयोंको वे दोनों प्रकाश करनेमें असमर्थ हैं। समाधिगत बुद्धि जिसका कि वर्णन पूर्वसूत्रमें हुआ है वह ऐसी असम्पूर्ण नहीं है, उसमें सत्त्वगुणरूपी ज्ञानका पूर्ण प्रकाश होनेके कारण उससे कोई भी विषय छिप नहीं सकता; चाहे स्थूलसे स्थूल विषय हो, चाहे सूक्ष्मसे सूक्ष्मातीत विषय हो, ऋतम्भरा - बुद्धिप्राप्त साधक समाधिस्थ होकर उन सब विषयोंको यथावत् जान सकता है; इस कारण यह प्रज्ञा सर्वप्रकारकी बुद्धिसे कुछ विलक्षण ही है। अन्तःकरणके विभागोंमेंसे बुद्धिका साथी अहङ्कार है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

इसी कारण जिस अहङ्कारको लिये हुए जो मनुष्य होता है उसकी बुद्धि उसी प्रकारकी होती है और उसके सिद्धान्त भी ऐसे ही बन जाते हैं। स्त्री स्त्रीभावसे, पुरुष पुरुषभावसे, राजा राजाभावसे, प्रजा प्रजाभावसे अपने अपने अहङ्कारको साथ लेकर अपनी बुद्धिद्वारा विचार करते हैं। इस कारण साधारण प्रज्ञा असम्पूर्ण रहती है। परन्तु योगिराज जब एकतत्त्वके अभ्यासद्वारा निर्मल चित्त होकर अपने अन्तःकरणको रज और तमके मलसे एक बार ही विशुद्ध कर लेता है तब उसमें पूर्वकथित असम्पूर्णताकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती है। उस समय उसका अन्तःकरण जिस प्रकार विशुद्ध और व्यापक हो जाता है उसकी प्रज्ञा भी उस प्रकार विशुद्ध और व्यापक हो जाती है। उसके अन्तःकरणमें तब कुछभी बाधा देनेवाला कोई भी अहङ्कार शेष नहीं रहता है। शुद्ध चित्स्वरूप शुद्ध भगवद्बुद्धिरूपी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी सहायतासे वह योगिराज तब सब पदार्थको यथावत् देख सकता है। चाहे लौकिक जगत्का सूक्ष्म पदार्थज्ञान हो, चाहे दैवजगत्का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय हो और चाहे अध्यात्मराज्यका सूक्ष्माति-सूक्ष्म विज्ञान हो उसके अन्तःकरणके सामने उपस्थित होते ही उस विषयका पूर्ण स्वरूप उसकी ऋतम्भरा प्रज्ञा देख लेती है ॥ ४९ ॥

इसके द्वारा उत्पन्न हुए संस्कारसे और संस्कार सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ५० ॥

पूर्वसूत्रमें ऋतम्भरा बुद्धिके विशेष लक्षण और गुण वर्णन करके अब उससे जो विशेष फलकी प्राप्ति होती है वह वर्णन कर रहे हैं। इस अवस्थामें अन्तःकरणमें जो संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्तःकरणके सम्पूर्ण पूर्व्व संस्कारोंका नाश कर देता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबंधी ॥ ५० ॥

नाना विषयोंके संस्कार नष्ट हो जानेसे विषयज्ञान भी नष्ट हो जाता है, जब विषयज्ञान नष्ट हो जाता है तब ही निर्विषयरूपी शुद्ध ऋतम्भरा बुद्धिका उदय होता है; उस समय उसमें समाधिस्थ बुद्धिके संस्कारके अतिरिक्त और कोई व्युत्थानदशाके संस्कार शेष नहीं रहते और पूर्णरूपेण वैषयिक संस्कारोंका नाश हो जाता है तब पुनः अन्तःकरणमें उनके प्रकट होनेकी और कोई सम्भावना नहीं रहती; इसी प्रकारसे ऋतम्भराबुद्धिरूपी निर्म्मल प्रवाहसे चित्तरूपी शिलापरके व्युत्थान संस्काररूपी मलके चिन्हपर्यन्त पूर्णरूपेण धुल जाते हैं। ज्ञान दो प्रकारका होता है एक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान। जहाँ तक ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटि विद्यमान रहती है वह तटस्थ ज्ञान है और जब ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटि नष्ट हो जाती है और अन्तःकरण एक बार ही व्युत्थानदशाके संस्कारोंसे रहित होकर निर्मल हो जाता है, उसके बाद अन्तःकरणके विलयके साथ ही साथ स्वरूपज्ञान प्रकट हो जाता है। वही आत्मज्ञान है। उसी ज्ञानको धारण करके आत्मा ज्ञानस्वरूप कहाता है। सबीज समाधिसे निर्बीज समाधिमें पहुँचते समय त्रिपुटिजनित दृश्यसम्बन्धीय और व्युत्थानदशाके सब संस्कार लय होते हैं। इस दशाका वर्णन आगे सूत्रमें आवेगा॥ ५०॥

अब योगफलरूपी असम्प्रज्ञात समाधिका निरूपण किया जाता है:-

इसका भी निरोध होनेपर जब सबीज समाधिके समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं तब निर्बीज समाधि होती है॥ ५१॥

तस्याऽपि निरोधे सर्व्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥ ५१॥

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः समाप्तः।

इस प्रकारसे अन्तःकरणकी वृत्तियाँ पूर्ण रूपेण निरुद्ध हो जानेसे जब सविकल्प-समाधिकी पूर्णावस्थामें साधक पहुँच जाता है, तब निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प-समाधिका उदय होता है। इस अवस्थामें सम्प्रज्ञात संस्कार तकका निरोध अर्थात् लय हो जाता है और उससे पहले अन्तःकरणकी सब वृत्तियाँ अपने अपने कारणोंमें लय होती हुई सम्प्रज्ञात-संस्कारमें लय हो ही चुकीं थीं; इस कारण इस अवस्थामें पुरुष पूर्णरूपेण निर्म्मल होकर अपने रूपको प्राप्त हो जाता है। इस ही अवस्थामें पुरुषका अपने रूपको प्राप्त होना; अथवा जीवात्माकी अवस्थाका नाश होकर उसका परमात्मामें लय होना ही मुक्ति अथवा कैवल्य है। वृत्तिसारूप्यकी प्राप्ति जीवभाव है और योगसाधनद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होनेसे द्रष्टा पुरुष जो अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है वही योगका फल है, वही मुक्तिपद है। चित्तवृत्ति निरोधरूपी योगप्राप्तिके लिये अभ्यास और वैराग्य प्रथम अवलम्बन हैं। वैराग्यसे दृश्य प्रपञ्चका बन्धन छूट जाता है। आभासद्वारा क्रमशः चित्तवृत्तिनिरोध होकर निर्वीज समाधिकी प्राप्ति होती है। सर्वात्मा परमपुरुष ईश्वरमें भक्तिपूर्वक चित्तसंयमरूपी ईश्वर प्रणिधान भी कैवल्यप्राप्तिका प्रधान कारण है, परन्तु ईश्वर प्रणिधानमें पूर्णरीतिसे सफलकाम होनेके लिये अथवा निर्बीज समाधि प्राप्त करके मुक्तिपद पानेके लिये अनेक अन्तराय हैं। उन अन्तरायोंको दूर करनेकेलिये प्रणवजप तथा अन्यान्य बहुप्रकारके साधनोंद्वारा एकतत्त्वलाभ किया जाता है। एकतत्त्व द्वारा अन्तरायोंका नाश होता है और क्रमशः योगी सबीजसमाधिकी कई एक भूमियोंको अधिक्रम करता हुआ अन्तमें आत्मप्रसाद और ऋतम्भरा बुद्धि प्राप्त करके निर्बीज समाधिकी भूमिमें पहुँचकर जीवन्मुक्त हो जाता है। तब योगिराज भाग्यवान् सिद्ध महात्माके पुनः दृश्य प्रपञ्चमें फँसकर

वद्ध होनेकी सम्भावना नहीं रहती है। आत्मा नित्यमुक्त, शुद्ध, अद्वितीय, द्वैतप्रपञ्चरहित और ज्ञानस्वरूप है। वृत्तियोंके आवरणसे अन्तःकरण चञ्चल होकर आत्माके स्वरूपको ढके हुए रहता है। सवीज समाधिसे क्रमशः निर्वीज समाधिमें पहुँचते ही अपने आपही आत्माका स्वरूप प्रकट हो जाता है। एक बार स्वरूप प्रकट होनेपर पुनः न अज्ञान और न बन्धन रह सकता है। यही योगद्वारा निर्वीज समाधि प्राप्त करके कैवल्य प्राप्तिका रहस्य है। ॥ ५१ ॥

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्य प्रवचन सम्बन्धीय योगशास्त्रके समाधिपादके संस्कृतभाष्यका भाषानुवाद समाप्त हुआ।

साधनपादः ।

आत्मासाक्षात्कार द्वारा योगानुशासनका पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि योगानुशासनका पूर्णाधिकारी वही हो सकता है जिसमें सात्त्विक बुद्धिकी पूर्णतारूप ऋतम्भराका उदय हो। योगानुशासनका अधिकार केवल सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न व्यक्तिके लिये ही विहित है। अतः योगानुशासनका अधिकार निर्णय, योगानुशासनकी पूर्णता प्राप्तिकी दशाका वर्णन, योगानुसाशनका चरम फल और योगप्राप्ति करनेके उपायोंके विज्ञान विस्तारित रूपसे पहले पादमें वर्णन करके अब इस पादमें महर्षि सूत्रकार योगपथमें प्रवृत्त, योगानुशासनके फलाकाङ्क्षी और चित्तवृत्ति-निरोधेच्छु साधकके लिए योगसाधनके विविध उपायोंका वर्णन कर रहे हैं :—

तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानको क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

प्रथम पादमें महर्षि सूत्रकार सावधान साधक अर्थात् स्थिर अन्तःकरणके लिए सम्प्रज्ञात आदि योगोंका वर्णन करके अब इस साधनपाद नामक द्वितीयपादमें अस्थिर अन्तःकरणवाले साधकोंके अर्थ विविध साधनोंका उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिन ज्ञानी साधकगणके अन्तःकरणने उन्नत-भूमिमें पहुँचकर अस्थिरताको त्याग दिया है, उनके लिए पूर्वपादमें कहे हुए साधन ही कल्याण

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

कारी हैं; परन्तु जिन निम्न अधिकारी साधकगणका चित्त अभी निर्मल नहीं हुआ है किन्तु मुक्तिकी इच्छा उनमें उत्पन्न हो गयी है, उनको उचित है कि वे यथाक्रमसे तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान करते रहें, तो शनैः शनैः वे भी उन्नत-भूमिमें पहुँचकर, समाधिस्थ हो कैवल्यपदको प्राप्त करके मुक्त हो जावेंगे। शरीर, मन और वचनकी अनर्गल प्रवृत्तिको रोककर उनको विषय सम्बन्ध-से हटाये रखनेको तप कहते हैं। जिसप्रकार नियमके साथ अवरुद्ध श्वान शक्तिमान् बनकर मृगयाका विशेष सहायक बन जाता है; उसी प्रकार शरीर वचन और मनकी विषयवती शक्ति तपके द्वारा सुसंयत रह कर अतिप्रबल बन जाती है। तपस्वियोंमें जिस प्रकार तपके द्वारा अनेक अलौकिक सिद्धियोंका प्रकाश स्वतः ही हो जाता है, तपके द्वारा जिस प्रकार साधक असीम धर्मफल लाभ करता है, उसी प्रकार तप योगमार्गमें सफलता देनेके लिए सबसे प्रधान सहायक है। तपश्चर्यारहित पुरुषोंको योगकी सिद्धि होना असम्भव है, क्योंकि अनादि कर्म्म और अविद्या आदि क्लेशोंकी वासनासे उत्पन्न हुआ विषय-जाल और अन्तःकरणके नाना मल बिना तपसाधन किये क्षीण नहीं होते; तपसाधनसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर साधनशक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। प्रवण आदि सिद्धमन्त्रोंका जप और मोक्षप्रद शास्त्रोंके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं; स्वाध्यायसे अन्तःकरणकी ज्ञानभूमिकी उन्नति होती है और क्रमशः साधक अपने लक्ष्यको स्थिर करके आगे बढ़ सकता है। ईश्वर प्रणिधानका वर्णन पूर्वपादमें भलीभाँति आ ही चुका है, परन्तु इस सूत्रमें ईश्वरभक्ति शब्दसे गौणी भक्तिका तात्पर्य्य है; जिस गौणी-भक्तिके साधन द्वारा क्रमशः पराभक्तिकी प्राप्ति हुआ करती है। ईश्वर-तद्गतभावरूप पराभक्तिके प्राप्त करनेके अर्थ जो भक्ति शास्त्रोंमें श्रवण, मनन, कीर्तन आदि साधन

वर्णित हैं उन्हींको गौणी भक्ति कहते हैं। गौणी-भक्ति और पराभक्ति रूपसे भगवद्भक्तिके दो भेद हैं। पराभक्तिरूपी श्रेष्ठ ईश्वर प्रणिधान समाधिका साक्षात् कारण है सो पहले कह चुके हैं। और गौणी भक्ति जिसके वैधी और रागात्मिका दो भेद हैं वह प्रथम दशाकी भगवद्भक्ति योगपथके पथिकको योगशक्ति प्रदान करती है। फलनिरपेक्ष होकर परमगुरु श्रीभगवान्में सर्वकर्म समर्पणभी ईश्वर प्रणिधान शब्दका अर्थ है जैसा कि पहले ही बताया गया है, प्रणिधानकी प्रथमदशामें इस प्रकार समर्पण बुद्धि प्राप्त करनेकी चेष्टा और तदर्थ विधिनिषेधात्मक साधन होता है। यही क्रिया-योगान्तर्गत ईश्वर प्रणिधानका तात्पर्य है। इस प्रकार तपस्वाध्यायादिकी सहायतासे उन्नति करता हुआ साधक समाधिकी ओर अग्रसर होता जायगा ॥ १ ॥

इस प्रकारसे अनुष्ठित क्रियायोगका लक्षण क्या है :—

वह समाधिके प्राप्त करने और क्लेशोंके दूर करनेके अर्थ किया जाता है ॥ २ ॥

वहसे तात्पर्य्य क्रिया-योगका क्रम है जैसा पूर्व सूत्रमें कह चुके हैं। वह क्रिया-योग जब पूर्णताको प्राप्त होता है तब नाना वृत्तियुक्त अन्तःकरणके नानाक्लेशोंको दग्ध बीजकी नाईं नष्ट कर देता है; ईश्वर-प्राणिधानके साधकको कैसे सद्गति हो सकती है इसका प्रमाण पूर्वपादमें भलीभाँति वर्णन कर चुके हैं; उस ही प्रकार साधकके हृदयमें जब भगवत्प्रेमका उदय हो जाता है तब सब क्लेशोंकी निवृत्ति अपने आपही हो जाती है। अविद्यादि पञ्चक्लेश व्युत्थानदशामें ही विषयी जीवके चित्तको दुःखित करते हैं। अतः तप, स्वाध्याय आदिके साधन द्वारा व्युत्थान दशाका निरोध होकर समाधि दशाका उदय जितना होता जायगा उतना

क्लेशोंका स्वयं ही क्षय होता जायगा इसमें सन्देह नहीं। जीव सुख दुःखरूपी द्वन्द्वोंमें फँसकर ही दुर्दमनीय क्लेशोंका अनुभव करता है। तपद्वारा साधक द्वन्द्वसहिष्णु होकर क्लेशका मूल शिथिल करनेमें समर्थ होता है। ईश्वरप्रणिधान क्रमशः साधकको समाधि भूमिकी ओर अग्रसर करता है और स्वाध्याय इन दोनों कार्योंका सहायक है। इस कारण योगपथके पथिकको इन तीनों साधनोंका आश्रय लेना उचित है और इसी प्रकार वह साधक उन्नत अधिकारको प्राप्त करता हुआ क्रमशः निर्विकल्प समाधिको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है॥ २॥

वे क्लेश कौन और कितने हैं :—

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश ये पाँच क्लेशोंके भेद हैं॥ ३॥

ब्रह्मानन्दकी अवरोधिनी वृत्तियोंको क्लेश कहते हैं। निष्काम भाव, भगवद्भक्ति और ज्ञान ये सब ब्रह्मानन्दके प्रकाशक हैं, परन्तु ब्रह्मानन्दको स्वतः ही ढाँक देनेवाली अथवा उसको विषयानन्दमें बदल देनेवाली अज्ञानसे उत्पन्न जो अनेक वृत्तियाँ हैं उनको योगाचार्य सूत्रकारने पाँच भागमें विभक्त करके उनकी पाँच संज्ञाएँ की हैं। उन्हींको क्लेश नामसे अभिहित किया है। यह पाँच प्रकारके क्लेश अर्थात् दुःखोत्पन्नकारी मिथ्याज्ञान जैसे जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे ही तमोगुणकी वृद्धिद्वारा जीवमें अहँकारको दृढ़ करते हुए अन्तःकरणमें अज्ञानरूप जड़ताकी वृद्धि करते जाते हैं, और इसी रीतिसे क्रमशः संसारकी सुख-दुःखरूपी दो नदियाँ एक दूसरीकी सहायताद्वारा प्रबल बेगसे बहती हुई जीवको डुबा

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥ ३ ॥

देती हैं। इस पाँच प्रकारके क्लेशोंका पूर्णरूपेण वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा ॥ ३ ॥

इन पाँच क्लेशोंमेंसे अविद्याका प्राधान्य बताया जाता है:—

और सब क्लेशोंका अविद्या ही कारण है,
चाहे उनकी अवस्था प्रसुप्त, तनु,
विच्छिन्न और उदार हो ॥ ४ ॥

अविद्यासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है; अविद्यासे ही चैतन्यमय जीव अपने आपको जड़मय मानकर मायामें फँस गया है, यह आदिकारणरूपी अविद्या ही और चार क्लेशोंका कारण है। इन क्लेशोंकी चार भूमियाँ हैं, यथा—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्तका अर्थ निद्रित है; जब अस्मितादि क्लेश निद्रितरूपसे अन्तःकरणमें रहते हैं; अर्थात् बहिरंगोंसे उनका कोई भी सम्बन्ध तब तक प्रतीत नहीं होता जब तक किसी कारणसे वे जाग न जायँ; जैसे बालकके अन्तःकरणमें क्लेश आदि वृत्तियाँ हैं तो सही, परन्तु सदानन्दमय बालकमें उनकी स्फूर्ति तब तक नहीं होती जब तक कोई बाहरके कारणसे वह क्लेशित न हो, क्लेशोंकी इस अवस्थाको प्रसुप्त कहते हैं। मनुष्योंमें सब क्लेश वृत्तिरूपसे सदा अनुभव होते हैं; परन्तु बालकमें ये सब क्लेश सुप्त अवस्थामें रहते हैं; बालक उनको स्वतः ही वृत्तिरूपमें अनुभव नहीं करता है। किसी बाहरी कारणसे उत्तेजित या चालित होने पर वास्तवमें वे क्लेश जाग्रत अवस्थामें दिखाई देते हैं। तनुका अर्थ हलका होना है; अर्थात् एक वृत्ति जब किसी दूसरी वृत्तिके दबावसे हलकी अर्थात् क्षीण हो जाती है, क्लेशोंकी उस अवस्थाका नाम तनु है; जैसे साधन स्वाध्याय विचार तपस्या आदि

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

द्वारा सात्त्विक वृत्तियोंके उत्पन्न करनेसे रागद्वेषादिमूलक तामसिक वृत्तियाँ धीरे-धीरे क्षीण हो जाती हैं उस समय वे क्लेशमूलक वृत्तियाँ उस व्यक्तिमें रहती तो अवश्य हैं, परन्तु सत्सङ्ग और सच्चर्चाके प्रभावसे वे वृत्तियाँ क्षीण हो कर दब जाती हैं। विच्छिन्न-का अर्थ अलग होना है; अर्थात् परस्पर सहायकारी दो वृत्तिकोंके उदयके समय एकके पश्चात् दूसरीका अनुभव होता है। जैसे कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है; परन्तु क्रोध उत्पन्न होते समय काम-वृत्ति अलग हट जाती है; इस ही छिन्न-भिन्न अवस्थाका नाम विच्छिन्न है। इसके उदाहरणमें यह समझ सकते हैं कि प्रेमिककी कोमल प्रेमवृत्ति उसके प्रेमपात्रमें निज स्वार्थके विरोधी दोष दर्शन करनेपर अन्तःकरणमें छिप जाती है और उस समय उस प्रेमपात्रपर क्रोध और द्वेषकी उत्पत्ति हो जाती है। तब स्वतः ही उसकी पूर्वकी प्रेमवृत्ति विच्छिन्न दशाको प्राप्त हो जाती है। जब किसी वृत्तिका पूर्णरूपेण प्रकाश होता है, जैसे कि सांसारिक साधारण कर्म्मोंमें प्रतीत होता है; वृत्तिकी उस पूर्णावस्थाका नाम उदार है। इस उदार अवस्थामें वृत्तियाँ अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रकट रह कर जीवको विमोहित करके पूर्णक्रियाको उत्पन्न करती हैं। इस प्रकारसे प्रसुप्त-तनु-विछिन्न-उदार नामक चतुर्विध अवस्थाओंसे युक्त अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश नामक चार प्रकारके क्लेशोंका उत्पत्ति निदान अविद्या ही है। यह पूर्व ही कह चुके हैं; कि जैसे क्षुद्र बट-बीज महान् बट-वृक्षका कारणरूप है, वैसे ही नानावृत्तिमयी-सृष्टिका कारण अविद्यारूपी बीज है; जैसे बीजको एक बार दग्ध करनेसे पुनः उससे अङ्कुरोत्पत्ति होकर वृक्ष होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती, इसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्निसे अविद्यारूप बीजके दग्ध हो जानेसे पुनः नाना वृत्तिमयी सृष्टि होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इस सूत्रमें अविद्याका

मौलिक प्राधान्य वर्णन किया गया, अब अगले सूत्रमें उसके लक्षण वर्णन किये जायँगे ॥ ४ ॥

अविद्याका लक्षण क्या है :—

अनित्यको नित्य समझना, अपवित्रको पवित्र समझना, दुःखको सुख समझना और अनात्माको आत्मा समझना अविद्या है ॥ ५ ॥

अविद्यासेही विपरीत-ज्ञानकी उत्पत्ति होती है अर्थात् जिस वस्तुका जो वास्तविक स्वरूप है उसको न दिखाकर उस वास्तविक स्वरूपके विरुद्ध स्वरूपको जो प्रकट करे उसको अविद्या कहते हैं। यह अविद्याहीका कारण है कि जिससे नाश होनेवाले संसाररूपी इहलोक और स्वर्ग आदि परलोकोंको जीव नित्य करके मान रहा है; वह अविद्या हीका कारण है कि जिससे विष्ठा, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ यह शरीर पवित्र-सा प्रतीत होता है; और मांस तथा वसाका विकाररूपी स्त्री-शरीर मनोहर-सा जान पड़ता है; यह अविद्याहीका कारण है कि जिससे नाशवान् और परम दुःखदायी विषयोंको जीव सुखदायी समझ रहा है; और यह अविद्याहीका कारण है कि जिससे अनात्मा अर्थात् जड़रूपी इस पाञ्च-भौतिक शरीरको जीव आत्मा अर्थात् चेतन करके मान रहा है। इस प्रकार नानारूप मिथ्याज्ञानमें जीवके फंसानेका एक मात्र अविद्या ही कारण है। ब्रह्मशक्ति महामायाके अज्ञान और ज्ञान सम्बन्धसे दो भेद हैं। ज्ञानप्रसविनी विद्या और अज्ञानजननी अविद्या कहाती है। स्मृतिमें भी कहा है—

विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बध्यतेऽविद्यया पुनः॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

विपरीत भाव दिखाकर अविद्या सृष्टि उत्पन्न करती है और जीवको सृष्टिमें जकड़े रहती है। कालान्तरमें अभ्यास वैराग्यके प्रभावसे योगानुशासनपथका पथिक ज्ञानप्रसविनी विद्याकी उपासना द्वारा अविद्यावन्धनको छिन्न करके परमपदकी प्राप्ति कर लेता है। अतः जब तक ज्ञानजननी विद्याका उदय न हो तब तक अज्ञानप्रसूति अविद्याके द्वारा जीव क्लेश प्राप्त करता रहता है। उसही अविद्यासे मोहित हुआ जीव सदा अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख, और अनात्मामें आत्मबुद्धि करता रहता है। अविद्याके कारणसे ही जीव मोहित होकर पाप कार्योंको पुण्य-कार्य्य और अधर्म्मको धर्म्म मानकर सदा दुःखमें ही फँसा रहता है॥ ५॥

अविद्याका लक्षण वर्णनान्तर अन्य चार प्रकारके क्लेशोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है, यथा :—

दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिमें अभेद प्रतीतिको अस्मिता कहते हैं॥ ६॥

पुरुषमें ज्ञान अर्थात् देखनेकी शक्ति विद्यमान हैं; और बुद्धि-रूपी अन्तःकरणमें दिखलानेकी शक्ति है। स्वयं देखनेवाला और देखनेका यंत्र एक पदार्थ नहीं हो सकता; परन्तु जिस कारण द्वारा देखनेवाला पुरुष और दिखानेका यंत्र-रूपी अन्तःकरण एक पदार्थ ही प्रतीत होते हैं मायाके उसी प्रभावका नाम अस्मिता है। सर्वशक्तिमान् पूर्णज्ञानमय परमेश्वर अस्मितासे रहित हैं, इस कारण उनमें कोई भी भ्रम नहीं; परन्तु जीवके ज्ञानअंशने जीवमें और अन्तःकरणमें एकता स्थापन कर रक्खी है, इसही कारण जड़रूपी अन्तःकरणके किये हुए कामोंका कर्त्ता भोक्ता चेतनरूपी

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवाऽस्मिता॥ ६॥

जीवात्मा अपने आपको मान लेता है; और इस भ्रम-ज्ञानसे ही अपनेमें और अन्तःकरणमें अभेद समझकर जीव सकल प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है, परमात्मा परमपुरुषके स्वरूपमें सत् चित् और आनन्द भाव एक अद्वैतभावमें रहनेके कारण स्वरूपमें अस्मिता नहीं रह सकती है। जब चिद्भावमय 'भाति' और सत्भावमय 'अस्ति' का पृथक् पृथक् अनुभव होता है उसी समय द्वैतभाव-प्रबोध अस्मिताका उदय होता है। यही जीवब्रह्मभेदकारी द्वैतभावोत्पादिनी अस्मिताका स्वरूप है। परन्तु जब चित्तवृत्ति-निरोधके चरमफलरूपी निर्विकल्प समाधिका उदय होता है, तब अपनी कारणरूपा अविद्याके साथ अस्मिता विद्याके बलसे अन्तर्हित हो जाती है और उसी समय द्रष्टा पुरुष निजस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस सूत्रमें 'इव' शब्दका प्रयोग इसलिये किया गया है कि पुरुष और बुद्धिकी एकात्मता तात्त्विक नहीं है, केवल अनादि अविवेकके कारण दोनोंका यह भोक्तृभोग्यभाव औपचारिकमात्र है, जो विवेकका उदय होतेही नाशको प्राप्त हो जाता है और पुरुष अपने ज्ञानमय स्वरूपको पहचान कर मुक्त हो जाता है॥ ६॥

अब रागरूप तीसरे क्लेशका वर्णन किया जाता है—

सुखके अनुस्मरण पूर्वक जो उसमें प्रवृत्ति होती है उसका नाम राग है॥ ७॥

सुख भोगनेके पश्चात्, उस सुखको स्मरण करके उस सुखवृत्ति-में जो लोभ अर्थात् इच्छा होती है उसका नाम राग है। इसही रागके कारण अन्तःकरणरूपी जलाशयमें तरङ्गपर तरङ्ग लहराया करते हैं। वासनासे उत्पन्न संसारप्रपञ्चका प्रधान कारण राग है।

सुखानुशयी रागः॥ ७॥

रागसे वासना, वासनासे पुनः राग, इस प्रकारसे कर्मकी अनन्त धारा बहाकर जीव आवागमनचक्रमें निरन्तर परिभ्रमण करता ही रहता है। राग रजोगुणमूलक है, रजोगुणसे संसारप्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है, इस कारण संसारकी उत्पत्तिमें जनकत्वपद राग-को ही दे सकते हैं। रागसे ही निम्नगामी स्नेह, उच्चगामी श्रद्धा और समगामी प्रेमकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारसे रागपाशवद्ध हो नानारूपसे जीव संसारमें भ्रमण करता है। रागरूपी इच्छासे ही जीव विषयरूपी फन्देमें फँस जाया करता है॥ ७॥

द्वेषरूप चतुर्थ क्लेशका वर्णन किया जाता है—

दुःखके अनुस्मरण पूर्वक उसमें उत्पन्न विरुद्धभावनाको द्वेष कहते हैं॥ ८॥

दुःखके जाननेवालेमें दुःखानुस्मरणके द्वारा, दुःखमें अथवा उसके साधनमें क्रोधवृत्तिके समतुल्य और रागवृत्तिके विपरीत जो एक वृत्ति हुआ करती है उसका नाम द्वेष है। दुःखका लक्षण पहले सूत्रोंमें ही कह चुके हैं, इस कारण यहाँ उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया; उन्हीं दुःखोंके स्मरणसे दुःखदायी पदार्थोंमें दुःखके भयसे जो तीव्र अनिच्छा अर्थात् रागके विपरीत वृत्ति हो उसीका नाम द्वेष-वृत्ति है। द्वेष तमोगुण मूलक है और यह वृत्ति रागवृत्तिके विरोधी है। यही रागद्वेषवृत्ति आकर्षण और विकर्षणशक्ति उत्पन्न करके समस्त ब्रह्माण्डमें सृष्टिस्थिति और प्रलयकार्यकी सहायक बनती है। रागसे सृष्टि, द्वेषसे लय और इन दोनोंकी समतासे स्थिति हुआ करती है। इस कारण रागमें रजोगुण द्वेषमें तमोगुण और दोनोंकी समतामें सत्त्वगुणका उदय बना रहता है। अस्तु, राग और द्वेष दोनों ही अविद्याके सहायक

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ८॥

हैं और इन दोनोंकी समतावस्था विद्या सहायक है। जीवको बन्धन प्राप्त करानेके विषयमें राग और द्वेष दोनोंकी शक्ति समान ही है क्योंकि रागके बिना द्वेष और द्वेषके बिना राग ठहर नहीं सकता है। संसारमें जो द्वन्द्वप्रपञ्च है वह रागद्वेषमूलक है। इस कारण क्लेशके विचारसे द्वेष भी पूर्ण शक्तिशाली है ॥ ८ ॥

अब पञ्चम क्लेशका वर्णन किया जाता है :—

जन्मजन्मान्तरोत्पन्न संस्कारधारा द्वारा ममत्वादिरूप-से अपनेपनको प्राप्त करनेवाली तथा अविद्वानों की तरह पण्डितगण तकमें भी रहनेवाली मरणत्रासजन्य जीवनलालसारूपी जो वृत्ति है वही अभिनिवेश है ॥ ९ ॥

चाहे मूर्ख हो चाहे पण्डित, चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, चाहे निरक्षर किरात हो चाहे वेदपाठी विप्र, सबमें एक रूपसे जो आत्महितचिन्तनरूपी वृत्ति है उसको ही अभिनिवेश कहते हैं। जन्मजन्मान्तरोंमें बार बार प्राप्त होनेके कारण मरणदुःखा-नुभव तथा जीवितेच्छाजनित जो संस्कारसमूह हैं उनको स्वरस कहते हैं। अभिनिवेश इन स्वरससंज्ञक संस्कारोंको वहन करने-वाला है इसलिये उसको स्वरसवाही कहा गया है। यह अभिनिवेश अविद्वान् मूर्खोंमें तो होता ही है अधिकन्तु विद्वान् पण्डित लोगोंमें भी होता है। इसलिए सूत्रमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है। प्राणीमात्रको ही आत्महितचिन्तन सदा बना रहता है; "मैं अमर रहूँ" ऐसी इच्छा विद्वानगण तकमें देखनेमें आती है; परन्तु बिना मृत्युरूप दुःख-भोग भोगे जीवका

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

यह आत्महितचिन्तन असम्भव है। मृत्युमें अनिच्छा और चिरआयु होनेमें इच्छारूप जीवकी इस सामान्यवृत्तिका कारण मृत्युभय ही है; क्योंकि पूर्वजन्मोंमें मरते समय इस जीवको जो नानाक्लेशोंकी प्राप्ति हुई थी उन घोर क्लेशोंके अनुभवसे ही प्राणीमात्रको मृत्युमें अनिच्छा होती है; पुनर्जन्म सिद्ध होनेका यह भी एक प्रमाण है, सद्यःप्रसूत बालक और ज्ञानरहित कीट तकमें जो मृत्युभय देखनेमें आता है वह पूर्व जन्मके ही संस्कार-का कारण है, यदि उनको प्रत्यक्ष अनुमान और शब्दप्रमाणसे मृत्युके दुःखोंका ज्ञान नहीं हुआ था तथापि उनको यह भय हुआ, इससे यह सिद्ध होता है कि अवश्य कोई पूर्वकारण है वही पूर्वजन्म है। पूर्वजन्ममें अनुभव हुआ था, इस कारण संस्कारा-धीन होकर अब भी उसका बोध हुआ। इस ही मृत्युभयरूपी क्लेशके कारण स्वजीवनप्रार्थनारूप जो वृत्ति है उसे अभिनिवेश कहते हैं ॥ ९ ॥

क्लेशोंका वर्णन करके अब उनके लयका प्रकार बताया जाता है :—

सूक्ष्म पञ्चक्लेश क्रियायोगसे प्रतिलोम परिणाम द्वारा चित्त लयके साथ लय होते हैं ॥ १० ॥

वे अर्थात् पूर्वोक्त पाँचों क्लेश जिनका वर्णन भलीभाँति हो चुका है। समाधिपादमें जो व्याधि आदि चित्तके विक्षेप और योगके विघ्न-समूहका वर्णन किया गया है, उन सबोंके मूलमें ये पाँच प्रकारके क्लेश हैं, इस कारण महर्षि सूत्रकार पहले इन क्लेशोंके लक्षण वर्णन करके अब उनके नाशके उपाय वर्णन कर रहे हैं, योगाभिलाषीको प्रथम ही क्लेशोंका त्याग कर देना उचित

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

है, परन्तु विना यथार्थरूपके जाने किसी वस्तुका त्याग अथवा ग्रहण नहीं किया जा सकता; इस कारण पूर्वसूत्रोंमें उनके लक्षण, उद्देश्य और उत्पत्तिस्थानका वर्णन करके अब उनके त्यागका उपाय वर्णन कर रहे हैं। इन पाँच प्रकारके क्लेशोंको दो अवस्थाओंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा—एक सूक्ष्म अवस्था और दूसरी स्थूल-अवस्था। सूक्ष्म अर्थात् अन्तःकरणमें कारणरूपेण और स्थूल अर्थात् विस्तृतरूपेण। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि सूक्ष्म-अवस्थापन्न क्लेश बीजनाशके समान योगमें अन्तःकरण लीन होनेसे उसहीके संग अस्त हो जाते हैं और स्थित रहनेपर भी उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। स्थूल-क्लेशोंके लय करनेका उपाय परसूत्रमें कहा जायगा, परन्तु सूक्ष्मक्लेशोंके विषयमें इतना ही कहा गया कि वे अपने कारणरूप अन्तःकरणमेंही प्रतिलोभ विधिके अनुसार अन्तःकरणके निरोध करनेसे लयको प्राप्त हो जाते हैं। ये पाँचों क्लेश वृत्ति नहीं है किन्तु वृत्तियोंके निदानरूप चित्तगत सूक्ष्म-भावसमूह हैं। इस कारण जिस प्रकारसे वृत्तियाँ लय होती हैं उस प्रकारसे इनका लय नहीं हो सकता है। जब समाधिकेद्वारा अन्तःकरणका लय होता है तब अन्तःकरणके साथ ही साथ ये पञ्चक्लेश भी आमूल लयको प्राप्त होजाते हैं॥ १०॥

अब स्थूल-भावापन्न क्लेशोंका लयोपाय बताया जाता है—

क्लेशोंकी स्थूलावस्थागत वृतियाँ ध्यानसे त्यागने योग्य हैं॥ ११

पूर्व सूत्रमें पञ्चक्लेशोंकी सूक्ष्मावस्थाके नाश होनेका उपाय वर्णन करके अब इस सूत्रमें स्थूल अवस्थाके नाश होनेका उपाय वर्णन कर रहे हैं। सूक्ष्मभावमय क्लेशोंकी सूक्ष्मावस्था जब

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ ११॥

कार्यमें परिणत होती है तो वे वृत्तिरूपसे अन्तःकरणको विचलित किया करती हैं। जिन क्लेशोंका कार्य आरम्भ हो रहा है ऐसी उदार अवस्था प्राप्त विस्तृत वृत्तियोंकोही स्थूल-वृत्ति जानना उचित है; सुख दुःख मोहदायिनी ये स्थूलवृत्तियाँ अन्तःकरणपर आधिपत्य जमा चुकी हैं, इस कारण अन्तःकरणको जब तक ध्यानादिक योग-क्रियाओंद्वारा नहीं रोका जायगा, तब तक वे भी नहीं रुक सकतीं, इस कारण ये स्थूल-वृत्तियाँ ध्यानरूप क्रिया-योगसे ही नाश करने योग्य हैं। उदाहरणकेलिये कहा जाता है कि जब असद्वस्तुको सद्वस्तु रूपसे या पापको पुण्यरूपसे अन्तःकरणकेद्वारा जीव विचारने लगता है, वही अविद्याकी वृत्ति समझने योग्य है। जब शरीरको जीव आत्मारूपसे अनुभव करने लगता है वही अस्मिता-की स्थूलवृत्ति है। रागसे जब प्रीति आदि और द्वेषसे जब शत्रुता आदि वृत्ति प्रकट होकर अन्तःकरणको चलायमान करती है वही राग-द्वेषकी उदार स्थूलदशा है। उसीप्रकार जीनेकी इच्छा और मृत्युके भयजनितविशेष विशेषवृत्ति प्रकट होकर जब अन्तःकरणको मुग्ध करती है वही अभिनिवेशकी उदार स्थूलदशा है। इन स्थूल दशाओंका लय करना अपेक्षाकृत सुगम है; अर्थात् ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटिकेद्वारा जब अन्तःकरणको बांध लिया जाता है, उस समय ये स्थूलवृत्तियाँ अपने आप ही अन्तःकरणसे अन्तर्हित हो जाती हैं क्योंकि ध्यानदशामें इन त्रिपुटियोंके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता है, इस कारण स्थूलवृत्तियाँ अपने आप ही विलीन हो जाती हैं। जैसे वस्त्रपरका स्थूलमल पहिले जलसे धौत करनेसे छूट जाता है, पुनः पीछेसे क्षार आदि लगानेसे सूक्ष्म-मल भी छूट सकता है; इसी प्रकार ध्यानादिक क्रियाओं द्वारा अन्तःकरणको ठहरानेसे उसके साथ ही स्थूल वृत्तियाँ लय हो जाती हैं, और पुनः बीजरूपेण रही सही सूक्ष्म-वृत्तियाँ अन्तः-

करणके समाधिस्थ होनेपर लयको प्राप्त हो जाती हैं। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि नियमित ध्यानादि साधनद्वारा महाक्लेशदायक स्थूलवृत्तियाँ भी अति-क्षीण होकर अन्तःकरणमें लयको प्राप्त हो जाती हैं, और तब ही साधक इन महाशत्रुओंसे बच सकता है ॥ ११ ॥

अब इन क्लेशोंसे किसकी उत्पत्ति होती है सो बताया जाता है :—

पंचक्लेशोंके कारण ही कर्माशय उत्पन्न होता है जो दृष्टजन्म और अदृष्टजन्ममें भोगने योग्य है ॥१२॥

पूर्वसूत्रोंद्वारा महर्षि सूत्रकार प्रथम क्लेशोंके भेदोंका वर्णन करके तदनन्तर क्लेशोंकी निवृत्तिका उपाय कह कर, अब इस सूत्रद्वारा क्लेशोंसे उत्पन्न कर्माशयका वर्णन कर रहे हैं। शुभाशुभकर्मानुष्ठानजन्य वासनात्मक धर्माधर्मरूप जो संस्कार-राशि है उसको कर्माशय कहते हैं। फलकालपर्यन्त संस्काररूपमें चित्तभूमिपर कर्मकी स्थिति रहनेके कारण ही 'आशय' शब्दका प्रयोग हुआ है। पञ्चक्लेशके हेतु ही इस प्रकार शुभाशुभात्मक कर्माशयकी उत्पत्ति होती है और इससे जो पापमय तथा पुण्यमय कर्म होते हैं उन कर्मोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा-एक दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय। जिन कर्मोंका फल इसी जन्ममें भोग हो जाता है वे दृष्टजन्मवेदनीय कहाते हैं, उसी प्रकार जिन कर्मोंका भाग इस जन्ममें नहीं होता केवल उनके संस्कार साथ रहकर परजन्मोंमें भोगकी उत्पत्ति करते हैं ऐसे कर्म अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं। जीवके अन्तःकरणमें इन पाँचों क्लेशोंके प्रभावसे जो वृत्तिरूपी तरंग उत्पन्न होते हैं,

---

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

उनका चिन्हरूपी संस्कार जब अन्तःकरणके आकाशमें अङ्कित हो जाता है, तब उसीको कर्माशय कहते हैं। जीव चाहे अन्तःकरण-के द्वारा कुछ कर्म करे या शरीरके द्वारा कुछ कर्म करे, जीवके स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरके कर्म्मरूपी वृक्षका संस्काररूपी बीज उसके अन्तःकरणके चित्ताकाशमें एकत्रित हो जाता है और पुनः जन्मान्तरमें वे ही बीजसमूह कर्मभोगरूपी फल उत्पन्न करते हैं। जब तक वे फल उत्पन्न न करें, तबतक वे अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं और जब वे फल उत्पन्न करने लगते हैं तब दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म, किये हुये सत् असत् कम्र्मोंकी तीव्र और लघु गतिके अनुसार हुआ करते हैं। जिन सत् अथवा असत् कर्मोंका बल इतना तीव्र हो कि जिससे वह जीवके इस जन्मके कर्मोंको भेदन कर अपने कर्मोंके फल उत्पन्न कर सके वे ही तीव्र कर्म दृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं, जैसे महात्मा नन्दीश्वर देवादिदेव महादेवकी प्रसन्नताके लिए तीव्र तप करनेसे उसी जन्मसे मनुष्य-योनिसे देव-योनिको प्राप्त हुए, और जिस प्रकार तीव्र सत्-कर्म द्वारा नन्दीश्वर देवता हुए, उसी प्रकार तीव्र असत्-कर्म द्वारा एक ही जन्ममें राजा नहुषको तिर्य्यक्-योनि प्राप्त हुई थी, यदिच इस जन्मके किये हुये कम्र्मोंका फल जन्मान्तरमें ही भोग हुआ करता है, परन्तु कदाचित् जब सत् असत् कम्र्मोंका वेग अति-उग्र होता है तो तीव्रताके कारण वह इस जन्ममें ही फलदायक हो जाता है, कर्मकी इसी अलौकिक और विशेष अवस्थाको ही दृष्टजन्म-वेदनीय कहते हैं। अदृष्टजन्म-वेदनीय कम्र्मोंका स्वरूप साधारण ही है क्योंकि साधारण जीवोंमें इसी कर्म्मकी प्रबलता देखनेमें आती है, यदि ऐसा न होता तो जीवके किये हुये पाप और पुण्य कम्र्मोंका फल हाथों हाथ ही मिल जाता, इन कम्र्मोंके

संस्कार जीवके अन्तःकरणमें बीजरूपेण रहकर जन्मान्तरमें वृक्षरूप होकर फल प्रदान किया करते हैं। यदिच दृष्ट और अदृष्ट भेदसे महर्षि सूत्रकारने कर्मोंके दो ही भेद लिखे हैं, परन्तु वेदान्त-आदि शास्त्रोंमें इनको तीन प्रकारसे समझाया गया है; जिसका ज्ञान होनेसे इस सूत्रका अर्थ और भी सरल हो जायगा। अवस्था भेदसे कर्मोंको तीन प्रकारमें विभक्त कर सकते हैं, यथा संचित-क्रियमाण और प्रारब्ध। अनन्त जन्मोंसे जो जीव कर्म कर रहे हैं और जिनके भोग भोगनेकी बारी अभी जीवको नहीं मिली है, केवल संस्काररूपेण जीवके कर्माशयमें हैं उन कर्मोंको संचित कहते हैं, जिन कर्मोंको जीव अब नवीन संग्रह करता जाता है, अर्थात् नवीन इच्छासे जो नवीन कर्म उत्पन्न होकर नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं वे ही क्रियमाण कर्म हैं; और कर्माशयमें भरे हुए अनन्त कर्मोंमेंसे जिन थोड़ेसे कर्मोंने जीवके संग आकर इस स्थूलशरीररूपी फलकी उत्पत्ति कर दी है, अर्थात् जिनका फलभोग इस जन्ममें हो रहा है वे ही प्रारब्ध कर्म कहाते हैं। साधारण रीति तो यह है कि प्रारब्ध कर्मोंका ही फल जीवको इस जन्ममें मिला करता है और संचित और क्रियमाण कर्मोंका फल जीवगणको जन्मान्तरमें क्रम-क्रमसे मिलेगा, परन्तु इस सूत्रमें यही कहा गया है कि यदि क्रियमाण कर्म्म कभी कभी प्रबल हों तो वे भी प्रारब्ध कर्मोंके साथ मिलकर इसी जन्ममें ही फल दे जाते हैं। इस कारण अपनी शास्त्रोक्त ज्ञानभूमिके अनुसार एवं योग-विज्ञान-सिद्धकारी दृष्ट अर्थात् जिनका फल जीवको इसी जन्ममें मिले और अदृष्ट अर्थात् जिनका फल जीवको जन्मान्तरमें मिले, महर्षि सूत्रकारने कर्मोंके ये दो ही भेद किये हैं। यदि यह शङ्का हो कि अन्य दर्शनमत तीन प्रकारके कर्म मानता है, परन्तु यह दर्शन केवल दो प्रकारके ही कर्म क्यों मानता है

तो इस शङ्काका समाधान यह है कि योगका पुरुषार्थ सब विषयमें ही अलौकिकत्वको धारण करता है। अन्य दर्शनोंमें विचाररूपी ज्ञानके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति बतायी गयी है; परन्तु योगदर्शनकी मुक्तिप्राप्तिकी शैली सबसे विलक्षण है। योगदर्शन अलौकिक एकतत्त्वके अभ्यास द्वारा मुक्तिके विघ्नोंके नाशपूर्वक निर्विकल्प समाधिमें पहुँचा कर मुक्तिपद दिलानेकी प्रतिज्ञा करता है। अन्य दर्शनसमूह केवल लौकिक प्रत्यक्षको मानते हैं, परन्तु योगदर्शन अपनी लोकोत्तर पुरुषार्थ-शैलीके द्वारा अलौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे दैवजगत्का दर्शन कराता है। अन्य दर्शनसमूह कर्मके ऊपर अपना प्रभाव पूर्णरूपसे डालनेकी शैलीको नहीं बताते हैं; परन्तु योगदर्शनविज्ञान संयमशक्तिका प्रभाव बताकर नाना प्रकारकी ऐसी सिद्धियोंका अधिकारी जिस प्रकारसे योगीको कर देता है, उसी प्रकारसे योगीका इस प्रकारकी अलौकिक शक्तिको भी सिद्ध करता है कि जिसके द्वारा योगिराज अपने अदृष्ट कर्मको संयमद्वारा खींचकर दृष्ट कर देनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसी प्रकारसे दृष्ट कर्मको भी अदृष्ट कर देनेमें समर्थ हो जाते हैं। यही योगदर्शनकी विचित्रता और अलौकिकत्व है और इसी कारण तीन कर्मोंके बदले योगदर्शन केवल दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय दो ही कर्मोंके माननेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

उससे क्या परिणाम होता है सो बताया जाता है—

कर्माशयके कारणभूत क्लेशोंके मूलमें रहनेसे उनका फल जाति, आयु और भोग होता है ॥ १३ ॥

यह पूर्व सूत्रमें ही कह आये हैं कि कर्मोंके संस्कारोंकी राशिको कर्माशय कहते हैं; जब उस कर्माशयके कर्मरूप बीजसे

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

भोगरूप वृक्षकी उत्पत्ति होती है तब उसे विपाक कहते हैं। जिस प्रकार जब तक तण्डुलके ऊपर तुष लगा रहता है तब तक वह तुष-सहित तण्डुल अर्थात् धान बोनेसे वह बीज जम सकता है; उसी प्रकार जब तक क्लेश विद्यमान रहते हैं अर्थात साधनद्वारा जब तक पूर्वोक्त क्लेशोंका लय नहीं कर दिया जाता, तब तक कर्माशयसे विपाकरूपी कर्मफल उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। यह कर्मविपाक तीन प्रकारका होता है, यथा—एक जाति, दूसरा आयु और तीसरा भोग। जिस समुदायके व्यक्तियोंके गुण परस्पर मिलते हों उस समुदायका नाम जाति है; गुण ही कर्मोंके सहायक हैं इस कारण गुण और कर्मभेदसे ही जातिभेद हुआ है; यथा—जीवकी उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज जातियाँ हैं, मनुष्यकी अनार्य तथा आर्यज्ञाति और आर्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र जाति हैं। उसी प्रकार दैवजगत्की ऋषि, देवता, पितर तथा देवताओंकी भी गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर आदि अनेक जातियाँ हैं। जीवका सूक्ष्म-शरीर भोग-शरीर नहीं है अर्थात् स्थूल-शरीरकी सहायतासे जीव कर्मभोग करता है; एक स्थूल-शरीरके साथ जितने दिन जीवका सम्बन्ध रहे उसे आयु कहते हैं, यथा—एक मनुष्यकी आयु जन्मसे मृत्यु पर्यन्त है। विषय, इन्द्रिय और तन्मात्राकी सहायतासे अन्तःकरणमें सुखज्ञान और दुःखज्ञान होनेका नाम भोग है। आयुके विज्ञानके समझनेके लिये यह विचारना उचित है कि आयु कैसे उत्पन्न होती है। मनुष्येतर जीवोंकी आयु तो समष्टि प्रकृतिके अधीन है इसलिये उसमें कुछ विचारनेकी बात ही नहीं है, परन्तु मनुष्यकी आयु निश्चित होनेका क्रम यह है कि मनुष्य एक स्थूलशरीरको छोड़ जब दूसरा स्थूलशरीर धारण करता है उस समय उसके कर्माशय में रहे हुए उसके पुराने संस्कार-राशिका कुछ अंश जो आगे बढ़

कर अङ्कुरोन्मुख हो जाता है उन्हीं संस्कारोंकी फलोत्पत्तिपर्यन्त उस जीवकी आयु समझी जाती है। जिस प्रकार सात प्रकारके धातुओंके बीचमें यदि चुम्बकको रख दिया जाय तो उसके चारों ओर बिखरे हुए और सब धातु जहाँके तहाँ पड़े रहते हैं परन्तु लोहा जहाँ जहाँ रहता है वह सिमट कर चुम्बकसे आ लगता है, ठीक उसी प्रकार जीवके एक स्थूलशरीरको छोड़ कर दूसरे स्थूल शरीरको ग्रहण करनेसे पहले उसका अन्तिम प्रबल संस्कार जिस श्रेणीका होगा उसी श्रेणीके संस्कार उसके प्राचीन संस्कारराशिसे खिंचकर उसको दूसरा शरीर प्रदान करते हैं जिसका फल जाति, आयु और भोग होता है और भोगका जो समय निश्चित होता है उसीको आयु कहते हैं। इसको और तरहसे भी समझ सकते हैं। जिस प्रकार एक गभीर जलाशयके अन्तःस्थलमें जो जलराशि रहती है सो दिखाई नहीं देती केवल उसके ऊपरकी सतहका जलही दिखाई देता है, उसी प्रकार चिदाकाशमें अंकित अनन्त कर्मराशि जहाँकी तहाँ बनी रहती है, केवल दूसरा स्थूल-शरीर धारण करते समय जितनी संस्कारराशि चिदाकाशसे खिंच कर मनुष्यके चित्ताकाशमें संयुक्त हो जाती हैं उन्हींसे जाति आयु और भोगकी उत्पत्ति होती है और उनके भोगके कालको आयु कहते हैं। भोगके समझनेकेलिए इतना विचार करना आवश्यक है कि भोगमें तीन वस्तुओंका सम्बन्ध रहता है। मनुष्यकी मानसिक प्रकृति, शारीरिक प्रकृति और विषय। साधु संन्यासीकी मानसिक प्रकृति और विषयी राजाकी मानसिक प्रकृतिमें तारतम्य होनेसे विषयके भोगमें भी तारतम्य होगा। उसी प्रकार तामसिक मनुष्यकी शारीरिक प्रकृतिसे सात्त्विक मनुष्यकी शारीरिक प्रकृतिमें आकाश पातालका सा अन्तर होनेसे विषय भोगमें बहुत अन्तर पड़ जायगा और विषयके अन्तर होनेसे

भोगका अन्तर तो होता ही है। अतः भोगकी उत्पत्तिमें ये तीनों विषय अवश्य ही अवस्थान्तरको उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार कर्माशयरूपी कर्मबीजसे जो विपाकरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है उसके जाति, आयु और भोगरूपी तीन प्रकारके फल हुआ करते हैं। कर्माशयसे कर्मविपाककी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जिज्ञासुगणको यह सन्देह हो सकता है कि एक कर्म्म एक ही जन्मका कारण हुआ करता है, या एक कर्म अनेक जन्मका कारण हुआ करता है ? दूसरा सन्देह यह हो सकता है कि अनेक कर्म अनेक जन्म देते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म ही उत्पन्न करते हैं ? इनके उत्तरमें विचारने योग्य है कि यदि एक कर्मको ही एक जन्मका कारण समझें तो बड़ी ही कठिनता पड़ेगी, क्योंकि अनादिकालसे अनादि सृष्टिद्वारा असंख्य कर्म-समूहोंमेंसे यदि परमेश्वर जीवको एक ही कर्मसे एक जन्मका दान करते हों तो कर्मसंग्रहके समय जब कि कर्म करनेका कोई भी नियम नहीं है अर्थात् एक ही दिनमें अथवा थोड़े हो समयके बीचमें मनुष्य देवयोनि, पशुयोनि, और मनुष्ययोनि आदि कई योनियोंके उपयुक्त कर्म-संग्रह कर सकता है तो उसही क्रमके अनुसार जन्म भी होना उचित है, परन्तु ऐसा माननेमें कोई भी शैली विचारके योग्य नहीं पायी जायगी और भगवत्-अभ्रान्त नियममें अनियमरूपी भ्रान्ति देख पड़ेगी, इस कारण ऐसा नहीं हो सकता और ऐसा माननेसे मनुष्योंको घवराहट भी बहुत होगी, क्योंकि यदि एक दिनमें भ्रमवश मनुष्य सत्कर्मोंके साथ एक पशुयोनि-प्राप्ति उपयोगी कर्म कर डाले और चाहे पुनः देवयोनिका कर्म करे, परन्तु इस नियमको माननेसे बीचमें उसको पशु होना ही पड़ेगा, इस कारणसे भी यह असम्भव है। यदि एक कर्मसे अनेक जन्मोंका होना मानें तो अगले पिछले अनन्त कर्म विफल जायेंगे

क्योंकि यदि एकही कर्मसे अनेक जन्मोंकी उत्पत्ति होगी तो किये हुए अन्य अनेक कर्मों के फलोंकी बारी आनी असम्भव है। इसी प्रकार अनेक कर्म्म अनेक जन्मोंके कारण भी नहीं हो सकते क्योंकि एक समयमें अनेक जन्मोंका होना असम्भव है। इन सब विचारोंसे यही सिद्धान्त हुआ कि अगले और पिछले सब कर्म कर्माशयरूपी एक ही स्थानमें मिल जाते हैं और क्रमशः प्रधान और अप्रधान होकर फल देते हुए दृष्ट और अदृष्टरूपसे जन्म और जन्मान्तरकी उत्पत्ति करते जाते हैं, अर्थात् जो कर्म प्रधान होंगे उन्हींसे जाति, आयु और भोगरूपी एक जन्मकी प्राप्ति होगी और इसी जन्ममें यदि कोई तीव्र काम किया जायगा जैसा कि पूर्व-सूत्रमें कह आये हैं तो वह भी इन प्रधान कर्मोंसे मिलकर इस ही जन्ममें फल प्रदान करेगा, और इसी रीतिसे परजन्ममें भी अप्रधान कर्मों मेंसे कुछ प्रधान-कर्म होकर वे दूसरे जन्मकी सृष्टि करेंगे। यह दर्शन यह सिद्ध करता है कि योगशक्ति द्वारा साधक अपने प्राचीन कर्मराशिसे अनेक संस्कारोंको खींचकर अथवा अपने नवीन कर्मों को दबाकर अपने जाति आयु भोगरूपी अधिकारोंको न्यूनाधिक कर सकता है। योगविज्ञान यह सिद्ध करता है कि अलौकिक तपस्या द्वारा मनुष्य नन्दीश्वरका मनुष्यजातिसे देवजाति हो जाना सम्भव है और उनको मानुषीभोगसे दैवीभोगका प्राप्त होना भी सम्भव है। उसी प्रकार योगदर्शनविज्ञान यह सिद्ध करता है कि राजर्षि विश्वामित्रकी तरह यदि कोई लोकोत्तर योगसाधन-में प्रवृत्त हो तो अपने शारीरिक और मानसिक प्रकृतिको बदलकर एक ही जन्ममें ब्रह्मर्षि बन सकता है। यही योगदर्शनविज्ञानकी अलौकिकता है ॥ १३ ॥

इनका फल क्या है—

वे पुण्य और आपके हेतु, सुख और दुःख फल-युक्त होते हैं ॥ १४ ॥

वे अर्थात् जाति, आयु और भोग। संसारमें कर्म दो प्रकारके होते हैं; एक पुण्यरूप शुभकर्म और दूसरा पापरूप अशुभ कर्म। इसी कारण जाति, आयु और भोगरूपी कर्म-विपाक पुण्य अर्थात् सुखदायक और पाप अर्थात् दुःखदायक होता है। पुण्य-कर्मसे आरम्भ हुए जाति, और भोग सुखदायक हैं, उसी प्रकार पापकर्मसे आरम्भ किये हुए जाति आयु और भोगसे दुःख की प्राप्ति होती है। इसी संस्कारजन्य भोगवैचित्र्यके कारण सुख देनेवाले नाना स्वर्गलोक और दुःख देनेवाले नाना नरकलोक और घोर क्लेशमय प्रेतलोक तथा शान्तिपूर्ण पितृलोक आदिकी सृष्टि हुई है। ये सब भोगलोक कर्माशयकी क्रियासे ही सम्बन्ध रखते हैं। इस स्थूल-संसारमें भी ज्ञानी संन्यासी और ज्ञानहीन गृहस्थ, बलवान् राजा और निर्बल प्रजा, सुखी, धनी और दुःखी निर्धन आदिका भेद कर्माशयके प्रभावसे ही है। यह सुखदुःखरूपी भ्रान्त-अनुभव कीट आदिसे लेकर मनुष्य पर्य्यन्त हुआ करता है; परन्तु ज्ञानी योगिगणको कुछ और ही अनुभव होता है; इसका वर्णन अगले सूत्रमें किया जायगा ॥ १४ ॥

विवेकियोंके लिये यह सुख कैसा है—

विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख तथा संस्कार-दुःखके रहनेसे और सत्वरजस्तमोगुणजनित सुख-दुःखमोहात्मिका वृत्तियोंका भी परस्पर विरोध

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

होनेसे विवेकिगण समस्त विषयसुखको
दुःख ही मानते हैं ॥ १५ ॥

सुख और दुःखका ज्ञान प्राणीमात्रको रागकेद्वारा हुआ करता है; जहाँ राग है वहाँ रागकी विरुद्ध-वृत्ति भी होगी। रागकी उस विरुद्ध वृत्तिका नाम द्वेष है, इस कारण जीव जो कुछ कर्म करता है, वे या तो रागसे उत्पन्न होकर रागजकर्म कहाते हैं, अथवा द्वेषसे उत्पन्न होकर द्वेषज कर्म कहाते हैं, ये दो प्रकारके कर्म जीवगण किया करते हैं। इन कर्मोंका फल दो प्रकारका होता है, एक सुखदायक दूसरा दुःखदायक। सूक्ष्म विचारसे यही सिद्ध होगा कि सुखदायक कर्म और दुःखदायक कर्ममें इतना ही अन्तर है कि जिस कर्मके भोगसे जीवकी इन्द्रिय-तृप्ति होती है वह तो सुख कहाता है और जिन कर्मोंकेद्वारा जीवकी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होनेसे चंचल होती रहती हैं, वेही दुःख कहाते हैं। इस विचारके विरुद्धमें देहवादिगण यदि सन्देह करें कि ऐसा नहीं होता क्योंकि इन्द्रियां विषय-भोगसे स्वयं ही थककर शान्त हो जाती हैं, इस कारण विषय-भोगसे ही शान्ति लाभ हो सकती है। इस प्रश्नके उत्तरमें यह कथनीय है कि यदि प्रकृतिकी अवस्था एक ही होती तो कदापि ऐसा सम्भव हो सकता था, परन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी और अस्थिर है, एक अवस्थाके अनन्तर दूसरी अवस्थाका होना अवश्य सम्भव है। जब विषय-भोगसे इन्द्रियगण तमोगुणको प्राप्त होकर शान्तसे प्रतीत होने लगते हैं, उनके उस शान्त होनेका कारण तमोगुण है, परन्तु पुनः जब स्वाभाविक नियमके अनुसार गुणका परिवर्तन होकर तमोगुणके स्थानमें रजोगुणकी स्फूर्ति होगी तो अवश्य वे इन्द्रियगण कार्य्य करनेके

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

योग्य होकर पुनः अपने लक्ष्योंको ढूँढ़ने लगेंगे, जिस भांति घृतकी आहुतिसे अग्नि शान्त नहीं होती परन्तु क्षणभरके लिये ज्वालाहीन होकर पुनः तीव्रतर ज्वालाको धारण करती है, उसी प्रकार जीवके इन्द्रियगण विषय-भोगसे शान्त नहीं होते परन्तु पुनः पुनः अभ्यास द्वारा सबलता धारण करके विषय-भोगमें प्रबलतर होते जाते हैं। ऐसे विचारसे योगिगण सुख और दुःख इन दोनोंको ही परम दुःख मानते हैं। जिस प्रकार शारीरिक रोगोंके निवृत्तकरनेवाला आयुर्वेदशास्त्र चतुर्व्यूह अर्थात् रोग, हेतु, आरोग्य और चिकित्सा इन चारोंसे शरीरके रोगोंका नाश करता है; उसी प्रकार भवरोग-नाशकारी योगशास्त्र अपने चतुर्व्यूह अर्थात् हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चार उपायोंसे जीवके महान् भवरोगका नाश करता है। इन चारोंमेंसे, दुःखबहुल संसार हेय है, प्रकृति-पुरुषका संयोग हेयहेतु है, संयोगकी अत्यन्त निवृत्ति हान है और विवेकद्वारा पुरुष-साक्षात्कार हानोपाय है। जीव-हितकारी पूज्यपाद महर्षिने दर्शनशास्त्र द्वारा सुख और दुःखका विचार करते हुए यही सिद्धान्त किया है कि वास्तवमें सुख और दुःख दोनों एक ही पदार्थ हैं। क्योंकि सुखके अभावको दुःख और दुःख के अभाव को,ही सुख मानते हैं, अर्थात् जब इन्द्रियगण अपने विषयों-के प्राप्त करनेके अर्थ चंचल हो रहे थे और उस चंचलतासे जो अन्तःकरणकी विकलता थी उसी विकलताका नाम दुःख है; पुनः जब विषयकी प्राप्तिसे इन्द्रियगण अपने लक्ष्यको प्राप्त करके थोड़ी देरके लिये चंचलतारहित हो जाते हैं उसी अवस्थाका नाम सुख है; तदन्तर पुनः विषय क्षणभंगुर होनेके कारण इन्द्रियगणकी उस अवस्थाका परिवर्तन हो जाता है, अवलम्बनके नाशसे पूर्ववत् वे चंचल होकर दुःखकी उत्पत्ति करते हैं, इसी क्रमसे सुखसे दुःख और दुःखसे सुखकी प्राप्ति होती है, इसी कारण परस्पर एक दूसरे

का कारण होनेके हेतु ज्ञानवान् योगिगण दोनोंकोही दुःखरूप मानते हैं। स्वरूपके विचारसे दुःखकी तीन अवस्थाएँ होती हैं, यथा—एक तापदुःखता, दूसरी परिणाम-दुःखता, और तीसरी संस्कारदुःखता। सुख-अवस्थामें अपने समान मनुष्योंको देखकर ईर्षा, निकृष्टोंको देखकर घृणा आदि वृत्तियोंसे जो एक प्रकारके दुःखकी उत्पत्ति होती है उस अवस्थाका नाम तापदुःखता है, एतद्व्यतिरिक्त सुखभोगकालमें सुखसाधनकी पूर्णताके अभावसे सुखविरोधी पदार्थोंके अस्तित्व और तत्प्रतिद्वेषकेद्वारा तथा सुखाभावकी आशङ्का और सुखवृद्धिकी अनुक्षण चिन्तासे भी जो दुःख सुखप्रयासी विषयीको प्राप्त होता है उसका नाम तापदुःख है। परिणामदुःखताके विषयमें पहले ही बताया गया है, अर्थात् सुखभोगके परिणाममें भोगतृष्णा निवृत्त न होकर घृताहुत वह्निकी तरह क्रमशः और भी वर्द्धित होनेसे जो अशान्ति और चाञ्चल्य-जनित दुःख प्राप्त होता है उसीको परिणामदुःख कहते हैं। एतद्व्यतिरिक्त सुखभोग होतेही, अर्थात् जिस विषयके प्राप्त करनेके अर्थ इन्द्रियाँ धावित हुई थीं उस विषयके पूर्ण होनेपर (जैसे कि रतिके अन्तमें) जो विकलताका पुनः उदय होता है उस अवस्था-का भी नाम परिणाम-दुःखता है। सुखकर अथवा दुःखकर वस्तु-के उदय होनेसे भोगद्वारा रागद्वेषजनित संस्कारकी उत्पत्ति होती है और संस्कारसे पुनः वासनाका उदय होकर सुखके प्रति राग और दुःखके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इस तरहसे संस्कारधाराकी अविराम गतिद्वारा आवागमनचक्रमें जीवको जो दुःख उत्पन्न होता है उसको संस्कारदुःख कहते हैं। एतद्व्यतिरिक्त विषय-भोगका काल अतीत हो जानेसे (जैसे वृद्धावस्थामें विषय सुखकी स्मृति) पुनः प्राप्तिमें निराश हो पूर्वसुखकी स्मृतिद्वारा जो दुःखकी प्राप्ति होती है उसका भी नाम संस्कार दुःख है। प्रकृति

त्रिगुणमयी होनेसे सत्त्वगुणके द्वारा सुखमय चित्तवृत्ति, रजोगुणके द्वारा दुःखमय चित्तवृत्ति और तमोगुणके द्वारा मोहमय चित्तवृत्ति विषयीके अन्तःकरणमें परिणामिनी प्रकृतिके स्वधर्मानुसार सदाही होती रहती है और इन सुख-दुःख मोहात्मिका वृत्तियोंमें परस्पर विरोध-सम्बन्ध रहनेके कारण कभी सुखमयवृत्तिका उदय और अन्य दो वृत्तियोंका पराभव, कभी दुःखमयवृत्तिका उदय और अन्य दो वृत्तियोंका पराभव, कभी मोहमयवृत्तिका उदय और अन्य दो वृत्तियोंका पराभव, इस प्रकारसे गुणवृत्तिविरोधजनित दुःख विषयी जीवके चित्तमें सदाही बना रहता है। यह तीनों प्रकारका दुःखरूपी परिणाम तथा गुणवृत्ति-विरोधजन्य दुःख प्रत्येक सुखके साथ लगा हुआ है, ऐसे विचार-युक्त होकर ही प्रज्ञायुक्त योगिगण विषय-सम्बन्धी सुख और दुःख उभयको ही सुवर्णमयी शृंखला और लोहमयी शृंखलाकी नाईं परिणामतः बन्धनरूप समझते हुए दुःख-रूपी जानते हैं। वैषयिक सुखोंमें इस प्रकार दुःखबोध केवल विवेकी पुरुषके हृदयमें ही होता है। अन्यथा अविवेकी विषयी पुरुष इन सबोंमें कुछ भी दुःख न देखकर विषयमुग्ध रहता है। इसलिये सूत्रमें "विवेकिनः" शब्दका प्रयोग किया गया है। महर्षि वेदव्यासने इस सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि विवेकिगण अक्षिपात्रकी तरह होते हैं अर्थात् जिस प्रकार ऊर्णातन्तु शरीरके किसी अन्य अङ्गपर पड़नेसे यद्यपि उससे कोई भी क्लेश नहीं होता है, परन्तु वही तन्तु आँखपर गिर जानेसे बड़ा क्लेश होता है और कभी कभी आँखें अन्धी भी हो जाती हैं। ठीक उसी प्रकार विषयसुखके साथ अवश्यसम्भावी परिणामादि दुःख अविवेकी विषयीके चित्तमें कुछ भी दुःख उत्पन्न न करनेपर भी विवेकिगण उसे दुःखही समझते हैं। पिछले सूत्रोंमें कह चुके हैं कि मिथ्या-ज्ञानरूपी अविद्याही क्लेश, कर्म और कर्मफलसमूह की कारण है,

अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकारने यही सिद्धान्त कर दिखाया है कि इनसे जो सुख और दुःखरूपी फलोंकी उत्पत्ति होती है उनके मूलमें अविद्या होनेके कारण यथार्थमें वे दोनों ही परम दुःखरूपी हैं, इस कारण योगयुक्त ज्ञानी पुरुषके विचारमें वे त्यागने योग्य ही हैं ॥ १५ ॥

अब चतुर्व्यूहोंमेंसे हेयका स्वरूप निर्णय किया जाता है—

अप्राप्त दुःख त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥

जो दुःख भोग हो चुका है उसके लिये तो कुछ कहने योग्यही नहीं है, जो अब वर्त्तमान कालमें भोग होरहा है वह भी विचारने योग्य नहीं है, क्योंकि यह दोनों दुःखही जीवके सन्मुख आ चुके हैं, अब केवल वही दुःख विचारने योग्य है जो भविष्यत्‌में आवेगा अर्थात् जिसका भोग अभी आरम्भ नहीं हुआ है परन्तु होना अवश्य सम्भव है। उसही अप्राप्त दुःखकी गतिको विचार कर योगिगण सदा त्याग कर देनेमें पुरुषार्थ करते हैं, महर्षि सूत्रकार-का इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि अप्राप्त दुःखहीको साधकगण त्यागने योग्य समझ कर साधन करें। विवेकज्ञानका उदय होनेसे जब भविष्यत्‌में आनेवाले आध्यात्मिक आधिदैविक और आधि-भौतिक दुःखोंके बीज तक नाश हो जायँगे तो पुरुषके लिये बन्धनकी कोई भी वस्तु न रहनेसे पुरुष अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सकेगा। अतः योगीको पुरुषार्थद्वारा सदा ही ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे अनागत भविष्यद् दुःखकी प्राप्ति न हो। त्रिविध दुःखके विचार करनेसे यही निर्णय होगा कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरसे साक्षात उत्पन्न जो शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, उन सब दुःखोंको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। दैवकी प्रेरणासे

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

वज्रपातादिके द्वारा या ऐसेही अन्य कारणोंसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको अधिदैव दुःख कहते हैं और अन्य व्यक्ति तथा अन्य जीवोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होते हैं उनको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। यद्यपि ये सब दुःख कर्मज हैं परन्तु आध्यात्मिक दुःख स्वतः ही जीवपिण्डमें उत्पन्न होता है, आधिदैविक दुःख देवतागण स्वयं उत्पन्न करते हैं और आधिभौतिक दुःख कर्मकी प्रेरणासे अन्य पिण्डोंके द्वारा उत्पन्न होता है। यद्यपि सब कर्मके प्रेरक देवतागणही होते हैं परन्तु इन तीनोंमें निमित्तोंका भेद है और इन दुःखोंकी जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र अवस्थाएँ हैं सो पहले सूत्रोंमें भलीभाँति वर्णन कर चुके हैं। अतः तत्त्वज्ञानिगण जब अपने विचारद्वारा दुःखोंका स्वरूप और उनकी अवस्थाओंका निर्णय कर लेते हैं तो अवश्यही उनको हेय समझकर उनसे बचनेका प्रयत्न निरन्तर करते रहते हैं ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्त हेयहेतुका निर्णय किया जाता है—

द्रष्टा और दृश्यका संयोग हेयहेतु अर्थात् अनागत त्रिविध दुःखोंका कारण है ॥ १७ ॥

द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला, दृश्य अर्थात् जो देखा जाय इन दोनोंका जो एकत्व-सम्बन्ध है वही त्रिविध दुःखमय संसारका कारण है। द्रष्टा पुरुष, दृश्य अर्थात् बुद्धि-तत्त्व-रूपी अन्तःकरणके साथ अविद्याके कारण मिलकर अपने आपको अन्तःकरणवत् मानने लगता है, यह माननाही द्रष्टा और दृश्यका एकत्व-सम्बन्ध है। अनादि अविद्याके कारण जब शुद्ध-मुक्त-चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण मानने लगा तब जड़रूपी त्रिगुणात्मक प्रकृतिके स्वाभाविक गुणों द्वारा प्राकृतिक अन्तःकरणमें भी परिवर्त्तन होने लगा;

द्रष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

अर्थात् विषयोंकी सहायतासे अन्तःकरण विषयवत् होकर उसको उन्हीं विषयोंके कारण सुख-दुःखरूपी क्लेशोंका अनुभव होने लगा और वही अनुभव चैतन्यरूपी पुरुषको भी पहुँचने लगा। जैसे संसारमें अनेक बालक हैं और पीड़ा भी अनेक बालकोंको होती है, परन्तु पीड़ित बालकको पीड़ाकी यंत्रणासे क्लेशित देखकर उस बालककी स्नेहमयी जननी जिस प्रकार अपने आपको क्लेशित मानके क्लेश अनुभव करती है, परन्तु उस प्रकार संसारके अन्य बालकोंको क्लेशित देखकर क्लेश अनुभव नहीं करती; तैसेही शुद्ध-मुक्त-चैतन्यने भी अविद्याके कारण अपने आपको जड़मय अन्तःकरण मान रक्खा है, इसी कारण अन्तःकरणके अनुभव किये हुए क्लेशोंको वे अनुभव किया करते हैं। तत्त्वज्ञानी हेयहेतुका विचार करनेमें प्रवृत्त होकर यह समझ लेते हैं कि अज्ञानजननी अविद्यासे ही जो चिज्जडग्रन्थिरूप द्रष्टा और दृश्यका मिथ्या सम्बन्ध बन गया है वही सब दुःखोंका मूल है। द्रष्टा शुद्ध मुक्त स्वभाव और दुःखसे अतीत है और दृश्यरूपी प्रकृति परिणामिनी होनेसे दुःखप्रसविनी है। और इन दोनोंका अज्ञानसे उत्पन्न मिथ्या सम्बन्ध जब सब दुःखोंका कारण है तो वह सम्बन्ध न रहने पावे इसीकेलिये तत्त्वज्ञानिगण सदा योगानुशानमें रत रहकर प्रयत्न करते हैं। इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकारका यही तात्पर्य्य है कि द्रष्टा-पुरुष और दृश्य-अन्तःकरणका जो एकत्व-सम्बन्ध है, आदि कारण होनेसे यही सब क्लेशोंका मूल है, इस कारण मुमुक्षुगणको यह द्रष्टा और दृश्यका एकत्व-सम्बन्ध त्याग देने योग्य है ॥ १७ ॥

अब हानकेलिये पहले दृश्यका स्वरूप कहा जाता है—

प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव, स्थूलसूक्ष्मभूत तथा इन्द्रियात्मक और भोग मोक्षकी हेतुत्रिगुण मयी प्रकृति ही दृश्य है ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणका स्वभाव प्रकाश है, रजोगुणका स्वभाव क्रिया करना है और तमोगुणका स्वभाव स्थिति अर्थात् आलस्य है। प्रकाश, क्रिया और स्थितिरूपी सत्त्व, रज और तमोगुण प्रकृतिके स्वभावसिद्ध गुण हैं; ये तीनों परस्पर मिले जुले रहते हैं। जहाँ जिस गुणकी प्रधानता होती है वहाँ उसी गुणका रूप दिखायी देता है, और इसी प्रधानताके कारण उस गुण और उस गुणके कार्यको उसी गुणका कहते हैं। इसलिये सत्त्वरजस्तमोगुणमय दृश्यको प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील कहा है। सूत्रमें कथित 'भूत' शब्दके द्वारा पृथिव्यादि पञ्चस्थूलभूतोंसे रूप-रसादि पञ्चतन्मात्रापर्यन्त स्थूल-सूक्ष्म भूतात्मक दश वस्तु समझनी चाहिये। इन्द्रिय-शब्दसे पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण जिसमें महत्तत्त्व, अहंतत्त्व और मन है, यह त्रयोदश वस्तु समझनी चाहिये। इस प्रकारसे महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चमहाभूत ये त्रयोविंशति-तत्त्व दृश्य कहलाता है जो त्रिगुण-वैषम्यद्वारा प्रकट होता है। और त्रिगुणकी समताकी जो अवस्था है उसको प्रकृति कहते हैं। प्रकृति-विकाररूप इस दृश्यके साथ औपचारिक सम्बन्ध होनेसेही पुरुष दृश्यके भोक्ता हैं और इस दृश्यके स्वरूपको जानकरही पुरुष अपवर्गको लाभकर सकते हैं। इस कारण पुरुषके लिये भोग तथा अपवर्गका प्रयोजन होनेसेही सूत्रमें दृश्यको 'भोगापवर्गार्थ'

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

अर्थात् पुरुषके लिये भोग और अपवर्गका कारणरूप कहा गया है। प्रकृति जब अपने त्रिगुण-वैषम्यके कारण परिणामिनी होकर चतुर्विंशति अङ्गोंमें विभक्त होती है तभी वह अविद्या कहलाती है और प्रकृतिकी यह वैषम्यदशा ही बन्धनका कारण है और जब प्रकृति अपनी परिणाम दशासे वगदकर अपने तेईस विकारोंको अपनेमें समेट अपनी चौवीसवीं साम्यावस्थामें पहुँचकर शुद्ध-सत्त्व-गुणमयी बनती है तभी वह विद्या कहाती है, और यही विद्या जीवकी मुक्तिका कारण बनती है। इसी कारण दृश्यको भोग और मोक्ष दोनोंका ही कारण बताया गया है त्रिगुणमयी प्रकृतिका विस्तार ही यह संसार है, जिह्वा, नासिका, कर्ण, नेत्र और त्वचा रूपी पञ्च इद्रिय, रस, गन्ध, शब्द, रूप और स्पर्शरूपी पंच-तन्मात्रा-की सहायतासे त्रिगुणप्रकृतिमय अन्तःकरण बहिर्विषयोंको ग्रहण करता हुआ अपनी गुण-प्रधानताके अनुसार सृष्टि किया करता है, इस कारण सृष्टि केवल त्रिगुणमयी प्रकृतिका विस्तारमात्र ही है। यह पूर्व ही कह चुके हैं कि निष्क्रिय पुरुष अविद्याके कारण अपने आपको अन्तःकरण माने हुए हैं, इस कारण जैसे प्रतापशाली दिग्विजयी महाराजाके नाना योद्धागण ही जय पराजयरूपी युद्ध-कार्य्य किया करते हैं, परन्तु उनके किये हुए कर्मोंका फल उस नृपवरमें ही आरोपित होकर वही उन फलोंका भोगी होता है, वैसे ही प्रकृतिके किये हुए वन्धन और मोक्षरूपी कर्मोंका भोगी पुरुष होजाता है। द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति है, अविद्याके कारण जब तक द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध है तब तक सृष्टि है और तबही तक भोग भी है, यह सम्बन्ध छूट जानेसे ही मुक्त-स्वभाव पुरुष प्रकृतिके फन्देसे छूटकर मुक्त हो जायगा॥ १८॥

दृश्यका लक्षण बताकर अब उसकी चार अवस्थाएँ बतायी जाती हैं—

गुणोंकी चार अवस्थायें हैं; यथा—विशेषावस्था, अविशेषावस्था, लिङ्गावस्था और अलिङ्गावस्था ॥१९॥

दृश्यरूपी प्रकृतिको और भी विशेषरूपसे वर्णन करनेकेलिये उसकी चार अवस्थाओंका वर्णन इस सूत्रद्वारा किया गया है। सांख्यदर्शनकर्त्ता महर्षि कपिलने त्रिगुणमयी-प्रकृतिको चौबीस-तत्त्वोंमें विभक्त किया है, यथा—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच भूत कहाते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें कहाती हैं, कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञान-इन्द्रिय कहाती हैं, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँचों कर्म-इन्द्रिय कहाती हैं, और इन सबोंके आधाररूपी अन्तःकरणके मन, बुद्धि, और अहङ्कार ये तीन भेद हैं, इस प्रकार तेईस और अव्यक्ता प्रकृति मिलकर त्रिगुणमयी प्रकृतिके चौबीस भेद हुए। इन्हीं चौबीस तत्त्वोंकी स्थूल सूक्ष्म और कारणभेदसे तीन अवस्थायं और अव्यक्त प्रकृति ये सब मिलकर गुणके चार भेद कहाते हैं, यथा—पञ्च-भूत पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन तक विशेषावस्था, पञ्च तन्मात्रा और अहङ्कार तक अविशेषा-वस्था ज्ञानका आधार महत्तत्त्वही लिङ्गावस्था और साम्यावस्था-युक्त प्रकृति अर्थात प्रधानको अवस्थाही अलिङ्गावस्था कहाती है। योगिगणको इन चारों अवस्थाओंका ज्ञान होना उचित है, क्योंकि ये चार अवस्था ही हेय हैं और इस चतुरवस्थामय दृश्यके ज्ञानसे ही द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। क्योंकि जो पदार्थ पुरुषके फँसानेका कारण है, यदि योगयुक्त अन्तःकरणद्वारा योगी उसीका यथार्थ स्वरूप जान जाय तो उसमें विराजमान पुरुष अपने दृश्यमें कदापि नहीं फँसेगा॥ १९॥

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

हेयरूप दृश्यका वर्णन करके अब द्रष्टाका वर्णन किया जाता है—

द्रष्टा अर्थात् पुरुष यद्यपि चेतनमात्र और और धर्माधर्म-रहित है तथापि बुद्धिवृत्तिके उपरागसे द्रष्टाकी तरह प्रतीत होते हैं॥ २०॥

पूर्व सूत्रमें महर्षि सूत्रकार दृश्यके रूपको विस्तृतरूपेण वर्णन करके, अब इस सूत्रद्वारा द्रष्टाका रूप वर्णन कर रहे हैं। ज्ञान-रूपी बुद्धिद्वाराही जीव सत् असत् कर्मोंका विचार कर सकता है, जीवका आधारस्थल अन्तःकरण है और अन्तःकरणकी प्रधान वृत्ति बुद्धि है, बुद्धि ही पुरुषसे निकट सम्बन्ध रखती है। जब विचारवान् पुरुषको अपनी बुद्धिके सत् असत् होनेका विचार हुआ करता है, तो इससे यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्धिकी सत् असत् अवस्थाका विचार करनेवाला पुरुष ही है, जब तक बहिर्दृष्टि-वृद्धि होनेके कारण बुद्धि चञ्चल रहती है तब तक उसमें यह विचार नहीं आसकता, पुनः बुद्धि स्थिर होनेपर ज्ञानस्वरूप पुरुषकी सहायतासे वह इस विचार करनेकी योग्यताको प्राप्त कर लेता है, ज्ञानस्वरूप चेतन-पुरुषकी सहायतासे ही बुद्धिमें सत् असत् विचाररूपी ज्ञानकी शक्ति होती है, बुद्धिमें जितना पुरुषका सम्बन्ध अधिक होता जाता है उतनी ही बुद्धिकी शक्ति बढ़ती जाती है; इन्हीं कारणोंसे बुद्धिकी और पुरुषकी स्वतन्त्रता सिद्ध होती है। द्रष्टा पुरुष शुद्ध साक्षीरूप और केवल चेतनमात्र हैं, दृश्य प्रकृतिके सङ्गसे सङ्गदोषके कारण उनमें प्रकृतिके दोष भान होने लगते हैं और वे प्रकृतिके द्रष्टारूपमें प्रतीत होने लगते हैं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥ २०॥

इस सूत्रमें 'मात्र' शब्दका प्रयोग इसलिये किया गया है कि पुरुष वास्तवमें चेतनस्वरूप हैं, चेतनावान् या चैतन्यधर्मसे धर्मी नहीं हैं। इस प्रकार धर्मधर्मिभावके निरसनार्थ ही मात्रशब्दका प्रयोग हुआ है। 'शुद्ध' शब्दका अर्थ परिणाम आदि धर्मसे रहित है। प्रत्यय अर्थात् बुद्धिवृत्ति है, इसीका अनुसरण करके चैतन्य-स्वरूप और धर्मधर्मिभाव रहित उदासीन पुरुष भी द्रष्टाकी तरह प्रतीत होते हैं। यही 'प्रत्ययानुपश्य' शब्दका तात्पर्य है। पुरुषका इस प्रकार बुद्धिप्रतिबिम्बित होकर द्रष्टरूपमें प्रतिभान होना ही बन्धन है और विवेकद्वारा अपने उदासीन, चैतन्यमय स्वरूपको समझना ही मुक्ति है। जिस प्रकार शुद्ध स्फटिकमणिके सामने यदि कोई रङ्गीन पदार्थ रक्खा जाय तो स्फटिकमणि स्वभावतः निर्मल, शुद्ध और सङ्गरहित होनेपर भी उसी रङ्गीन वस्तुका रङ्ग धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परि-णामरहित पुरुष प्रकृतिरूपी दृश्यके सम्पर्कसे उसके द्रष्टारूपसे प्रतीत होने लगते हैं। ऐसाही दृश्यके रूपमें द्रष्टाका प्रतीत होना बन्धन है और दृश्यका यथार्थ स्वरूप तथा अपना यथार्थ स्वरूप समझ लेना ही पुरुषकी मुक्ति है॥ २०॥

दृश्य और द्रष्टाका स्वरूप वर्णन करके अब उनका परस्परा-पेक्षित्व सम्बन्ध बताया जाता है—

दृश्यका स्वरूप द्रष्टा पुरुषके भोगापवर्ग सम्पादनार्थ ही है, किसी स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं है॥ २१॥

यह पहले ही कह चुके हैं कि सृष्टि-क्रिया दृश्य अर्थात् परिणा-मिनी प्रकृति करती है, पुरुष निष्क्रिय हैं, परन्तु द्रष्टा अर्थात्

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥ २१॥

पुरुष और दृश्य अर्थात् परिणामिनी प्रकृतिका एकत्र सम्बन्ध होनेके कारण दृश्यके किए हुए कार्य्यको द्रष्टा अपना करके मानता है। अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार यह कहते हैं कि यदि च ऐसा ही है तथापि प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुषके भोग और मोक्षके अर्थ ही करती है, जिस प्रकार पुत्रके उत्पन्न होनेपर माताके स्तनमें दुग्धका होना स्वाभाविक है, परन्तु वह दुग्ध पुत्रके भोगार्थही उत्पन्न हुआ है। पुरुषकी स्थिति है, इस कारण ही प्रकृतिकी भी स्थिति है, यदि पुरुषका अस्तित्व न होता तो प्रकृति भी कदापि न रह सकती। जिस प्रकार निष्क्रिय चुम्बकके सामने रहनेसे स्वतः ही लोहेमें क्रिया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुषके सान्निध्यमें रहनेसे दृश्यमें तन्मात्रा इन्द्रिय आदि रूप जो कुछ विकार और क्रिया उत्पन्न होती है, उन सभोंका प्रयोजन दृश्यके अपने अर्थ नहीं है, परन्तु पुरुषके भोगापवर्गसम्पादनार्थ ही है। यही सूत्रगत 'एव' शब्दका तात्पर्य है। पुरुष प्रकृतिके उन विकारोंको देखता हुआ उनके पृथक् होकर जब स्वरूपस्थित होजाता है उस समय उस पुरुषकेलिये प्रकृतिके अस्तित्वका भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है। इसलिये स्वरूपस्थित पुरुषकी प्रकृति उनकेलिये लयको प्राप्त हो जाती है, जैसा कि आगेके सूत्रमें वर्णन किया जाता है। इस सूत्रसे यह भी तात्पर्य है कि नित्य मुक्त पुरुषकेलिये प्रकृतिका अस्तित्व केवल बन्धनदशामें ही अपेक्षित है, मुक्तदशामें नहीं। परन्तु प्रकृति पराधीना होनेसे प्रकृतिके अस्तित्वकेलिये पुरुषका अस्तित्व अवश्यम्भावी है, क्योंकि प्रकृतिके शक्तिरूपिणी होनेसे, प्रकृतिके जडा होनेसे और प्रकृतिके पराधीना होनेसे शक्तिमान्, चेतन और स्वाधीन पुरुषकी सत्ताके विना प्रकृतिकी सत्ता रह ही नहीं सकती है।

अतः दृश्य प्रकृतिकी सत्ता द्रष्टा पुरुषके भोग और मोक्षकेलिये ही है ॥ २१ ॥

मुक्तामुक्त पुरुषोंके लिये दृश्यकी स्थिति कैसी है ?

मुक्तपुरुषके संगकी प्रकृतिके नष्ट होनेपर भी वास्तवमें प्रकृति नष्ट नहीं होती है, क्योंकि वह दूसरेमें भान होती है ॥ २२ ॥

द्रष्टा अर्थात् पुरुषके निमित्त ही दृश्य अर्थात् परिणामिनी प्रकृतिका प्रयोजन है जैसा कि पूर्वसूत्रमें कह चुके हैं, इस कारण यदि ऐसा सन्देह उठे कि जब दृश्य ही परिणाम-रहित और अक्रिय हो जायगा तो जगत्के सभी द्रष्टा मुक्त हो जायँगे। इसके उत्तरमें यह कथनीय है कि यदि च ज्ञानके उदय होनेसे जब अविद्यारूपी भ्रमका नाश होजाता है तो दृश्य पदार्थ भी नाशको प्राप्त होजाता है, परन्तु ऐसे पूर्ण-ज्ञानरूपी ऋतम्भराका उदय होना और दृश्यरूपी प्रकृतिका नष्ट होना एकही जीवपिण्डमें होता है, तथापि प्रकृति और पुरुषका अनादि और अनन्त-सम्बन्ध और असंख्य जीवपिण्डोंमें रहता ही है, जिसमें दृश्य नष्ट हो जाता है केवल उसहीका द्रष्टा मुक्त होजाता है परन्तु द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध प्राप्त हुए अनन्त-जीव अनादिकालसे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे क्योंकि जीवसृष्टिका प्रवाह अनादि और अनन्त है। जिस पुरुषमेंकी प्रकृति नष्ट हो गई है केवल उसीमें प्रकृतिका अन्त समझना उचित है, परन्तु और अनन्त जीवोंमें प्रकृति अनन्त ही रहेगी। तत्त्वज्ञानप्राप्त जीवपिण्डमें पुरुषके दृश्यके बन्धनसे मुक्त हो जानेपर भी अन्यान्य जीवपिण्डोंमें प्रकृतिका वैभव वैसा ही बना रहेगा। इस कारण यह शंका निर्मूल है ॥ २२ ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

अनन्त जीवोंमें इसप्रकार अनादि संयोग किस लिये होता है :—

दृश्य और द्रष्टामें स्वरूपोपलब्धिनिमित्तक जो भोग्य भोक्तृभाव सम्बन्ध है उसे संयोग कहते हैं ॥२३॥

स्वशक्ति अर्थात् दृश्यस्वभाव और स्वामिशक्ति अर्थात् द्रष्टृ-स्वरूप इन दोनोंका अविद्याजनित जो भोग्यभोक्तृरूपसे सम्बन्ध है उसका नाम संयोग है। प्रकृति-पुरुषका अविद्यामूलक यह संयोग अनादि और वियोगान्तस्थायी है; क्योंकि अविद्या अनादि है। द्रष्टा अर्थात् पुरुष जब प्रकृतिके त्रिगुणमय स्वरूपको पहचान कर उससे अलग होजाता है तभी उस प्रकार भोग्यभोक्तृभावका नाश होकर पुरुषको स्वरूपप्राप्ति होती है। इसलिये सूत्रमें "संयोगका हेतु प्रकृति और पुरुषकी स्वरूपोपलब्धि है" ऐसा कहा गया है। 'स्वरूपोपलब्धि' इस पदके साथ स्व अर्थात् दृश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा दोनोंका ही सम्बन्ध रहनेसे यह पद दोनोंहीका वाचक है ऐसा समझना चाहिये। पूर्व सूत्रसे पुरुषकी मुक्तिका सिद्धान्त निश्चय होनेपर भी प्रकृतिके अनादि और अनन्त होनेका भी प्रमाण मिलता है। जब प्रकृति अनादि और अनन्त है, तब उसके द्वारा उत्पन्न जीवसृष्टि—प्रवाह भी अनादि और अनन्त होगा, यह निश्चय है। इस कारण स्वतः ही शंका हो सकती है कि इस प्रकार जीव-सृष्टिलीला-प्रवाह यदि अनादि और अनन्त हुआ तो ऐसे हेयहेतुक सृष्टिप्रवाहकी उत्पत्तिका कारण क्या है। अतः सृष्टिकी कारणान्वेषणरूपी बड़ी भारी शंकाके निराकरणके लिये महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। प्रकृति

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोलब्धिहेतुस्संयोगः ॥ २३ ॥

जब पुरुषके लिये ही है तो प्रकृति पुरुषकी ही है यह सिद्ध हुआ। अस्तु, परमात्मारूपी परमपुरुषकी मूलप्रकृतिरूपिणी महाप्रकृति अपने त्रिगुणजनित स्वभावसे सदा परिणामिनी होती हुई अनादि अनन्त जीवसृष्टि-प्रवाहको बहाती ही रहती है और उसके इस प्रकार स्वभावसिद्ध परिणामधर्मिणी होनेके कारण परमपुरुष परमात्माके अंशरूप अनन्तजीवात्माएँ अविद्या-जालमें फँसकर जीवरूपसे अनादि अनन्तसृष्टिप्रवाहमें उत्पन्न होते ही रहते हैं। अतः चिज्जडग्रन्थिरूप जीवभावोत्पन्नकारी संयोग उत्पन्न करना मूलप्रकृतिका स्वभाव है। इसलिये मूलप्रकृतिका अविद्यारूप धारण करके जिस प्रकार एक ओरसे जीवभाव उत्पन्न कर देना स्वभाव है, उसी प्रकार दूसरी ओरसे विद्यारूप धारण करके द्रष्टृदृश्य-सम्बन्धको दूर करते हुए जीवभावकी विमुक्ति करदेना भी उसका स्वभाव है। त्रिगुणमयी मूलकृति तमोगुणकी ओरसे जीवपिण्डको उत्पन्न करती है और सत्त्वगुणकी ओरसे जीवपिण्डका विलय करके अपना स्वरूप और परमपुरुषका स्वरूप दिखाकर जीवको मुक्त भी कर देती है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि स्वशक्तिरूप दृश्य और स्वामिशक्तिरूप द्रष्टा दोनोंका ही स्वरूपोलब्धि करा-देना ही अघटन-घटनापटीयसी मूलप्रकृतिकी इस संयोगरूपी क्रियाका प्रयोजन है और यही अलौकिक सृष्टितत्त्वका रहस्य है॥ २३॥

अब हानके वर्णनार्थ संयोगका मूलकारण बताया जाता है—

उसका हेतु अर्थात् कारण अविद्या है॥ २४॥

इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार पूर्व सूत्रकथित संयोगका कारण वर्णन कर रहे हैं। अविद्या जिसका वर्णन पहिले ही कर चुके हैं

तस्य हेतुरविद्या॥ २४॥

वह अर्थात् विपरीत-ज्ञानकी वासनासे भरी हुई बुद्धि आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करा सकती, जब तक अन्तःकरणमें वासना है तब तक वह वासनायुक्त पदार्थ कैसे निर्विषयरूपी मोक्षपदको प्राप्त करा सकता है। इस स्थलपर श्रीभगवान् वेदव्यासजीने एक हास्योद्दीपक इतिहासका वर्णन किया है कि एक नपुंसककी स्त्रीने अपने पतिसे पूछा "हे आर्य्यपुत्र! मेरी भगिनीके तो सन्तान हैं परन्तु आप मुझसे क्यों नहीं सन्तान उत्पन्न करते?" तब उस नपुंसक पतिने उत्तर दिया कि "मैं मर कर पुनः तुमसे सन्तान उत्पन्न करूँगा", अब विचारने योग्य है कि जब वह पति जीते जी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सका तो मरकर कैसे करेगा। ऐसे ही जब उपस्थित अवस्थामें बुद्धिरूपी अन्तःकरण तो कुछ कर ही नहीं सकता तो पुनः मरकर अर्थात् नाश होकर क्या कल्याण करेगा। विपर्यय—ज्ञानरूपी अविद्या ही विवेकख्याति—हेतुरूप संयोगका कारण है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सृष्टिप्रवाहका उत्पन्न करना प्रकृतिका स्वभाव है और वह प्रवाह अनादि और अनन्त है, परन्तु द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध स्थापन करके पुरुषको बन्धनदशा प्राप्त करनेका मूल कारण अविद्या है। अविद्याके दूर होनेसे द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध दूर हो सकता है, अन्यथा यह सम्बन्ध नहीं दूर हो सकता॥ २४॥

हेय और हेयका कारण बताकर अब तृतीय व्यूहरूपी हानका स्वरूप बताया जाता है—

अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होता है इसको हान कहते हैं और यही पुरुषकी कैवल्यप्राप्ति है॥ २५॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥ २५॥

जब उसका अभाव हो जाता है अर्थात् अविद्याका अभाव जब हो जाता है; तब अन्तःकरण और आत्माके संयोगका भी अभाव हो जाता है; अर्थात् शुद्ध-मुक्त-आत्माने जो अपने आपको अन्तःकरण या दृश्यवत् मान रक्खा था वह भ्रम दूर हो जाता है; तो बन्धनकी निवृत्ति होकर पुरुष मुक्त हो जाता है; और वही मुक्तावस्था कैवल्यपद है। पूर्व सूत्रोंमें कथित 'ऋतम्भरा' नामक पूर्णज्ञानके उदय होनेसें अविद्यानामक मिथ्याज्ञानका नाश हो जाता है; तब अविद्याका अभाव होनेसे द्रष्टा और दृश्यके संयोगका भी अभाव हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम हान है; इस हान अवस्थाकी प्राप्तिके अनन्तर निर्विकल्प-समाधिरूपी कैवल्यकी प्राप्ति होती है। अविद्यारूपी-मिथ्याज्ञानसे ही असत्यको सत्य मानकर अज्ञान जनित चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न हुई थी और उसी कारण द्रष्टा और दृश्यका संयोग बनकर जीवभावकी उत्पत्ति हुई थी। योगमें सफलताद्वारा ऋतम्भराकी सहायतासे अविद्याका नाश होते ही द्रष्टा–दृश्य–संयोगरूपी चिज्जढग्रन्थिका नाश हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि इन अवस्थाओंका ठीक ठीक वर्णन शब्दद्वारा होना कठिन है; निरवयव रूपरहित वस्तुका विभाग करना असम्भव है, जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है तब अविवेकसे उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त संयोग आप ही नष्ट हो जाता है और यही हान कहाता है, जो संयोगका हान है, वही पुरुषका कैलल्य है॥ २५॥

अब चतुर्थ व्यूहरूप हानोपायका बर्णन किया जाता है—

मिथ्याज्ञानरहित विवेकख्याति हानका उपाय है॥ २६॥

विवेकख्यातिविप्लवा हानोपायः॥ २६॥

मूलप्रकृति अविद्यारूप धारण करके चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न कर द्रष्टृदृश्यका सम्बन्ध स्थापन करती है। यही जीवकी वन्धनदशा है। परन्तु पुनः वही मूलप्रकृति जब विद्यारूप धारण करके ज्ञानप्रसविनी बन जाती है तभी चिज्जडग्रन्थि कट कर द्रष्टा और दृश्यका मिथ्यासम्बन्ध अपने आप ही नष्ट हो जाता है। बुद्धि सब जीवोंमें ही है परन्तु उस बुद्धिमें रज और तमोगुणका न्यूनाधिक सम्बन्ध होनेसे बुद्धिकी ज्ञान-शक्तिमें तारतम्य आ जाता है, अर्थात् जिस जीवमें जितना सत्वगुण अधिक होता है उसकी बुद्धि उतनी ही तीव्र होती है, परन्तु कितना ही हो जीवबुद्धिमें कुछ न कुछ रज और तमोगुण रहता ही है, इस कारण जीव-बुद्धि असम्पूर्ण है, और जीव-बुद्धिका परिवर्त्तन भी अवश्य सम्भव है। जब बुद्धि रज और तमोगुणसे उपराम होकर कर्तव्य और भोक्तृत्व अभिमानसे रहित होकर, शुद्ध-सत्त्वगुणमें पहुँचकर और अन्तर्मुखी होकर निश्चल पूर्ण-ज्ञानरूपी विवेक अवस्थाको प्राप्त कर लेती है, और उसमें विप्लव अर्थात् मिथ्याज्ञानकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती है तब वह स्थिर-बुद्धि ही हानअवस्थाप्राप्ति-का उपाय है। इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि पूर्णज्ञानरूपी बुद्धि जो स्थिर और निर्मल हो अर्थात् जिसमें परिवर्त्तनकी संभावना ही नहीं रहे, उसी विवेकख्याति नामक बुद्धिके उदय होनेसे मिथ्याज्ञानरूप अविद्याका बीज तक नाश हो जाता है, और तब ही हान अवस्थाकी प्राप्तिकेद्वारा जीव मुक्त हो सकता है ॥ २६ ॥

अब विवेकख्यातिकी सप्त दशाएँ बतायी जाती हैं—

विवेकख्यातिनिष्ठ पुरुषकी प्रज्ञा उत्तरोत्तर उन्नतिशील सप्त भूमियोंमें विभक्त होती है ॥ २७ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

पूर्व सूत्रमें जो हानोपायरूप विवेकख्यातिकी अवस्था वर्णित की गई है उस अवस्थाप्राप्त योगीमें स्वरूप-प्रतिष्ठाके लिये धीरे-धीरे जो प्रज्ञाका उदय होता है जिसको पुरुषकेलिये कैवल्यप्रद होनेसे प्रान्तभूमि अर्थात् उत्तम परिणामशील कहा गया है उस प्रज्ञाको शास्त्रकारोंने सात प्रकारसे विभक्त किया है और पुनः इन सात अवस्थाओंके भी दो भेद किये हैं, जिनमेंसे प्रथम वर्गमें चार भूमियाँ और द्वितीयवर्गमें तीन भूमियाँ समझी गयी हैं। प्रथम अवस्था वह है कि जिसमें साधकको बोध हो कि पूर्व-कालमें मुझको हेयविषयक कुछ जाननेकी आवश्यकता थी सो अब पूर्ण होगई। द्वितीय अवस्था वह है कि जब साधकको यह अनुभव हो कि पूर्व-कालमें मेरे त्याग देने योग्य 'काम' आदि अनेक हेय विषय थे, परन्तु अब मुझमें कोई भी हेय-विषय शेष नहीं है; अर्थात् मैंने उन सबोंको जय कर लिया है। तृतीय अवस्था वह है कि जिसमें साधकको यह अनुभव होता है कि पूर्वकालमें मुझको हानविषय बहुत कुछ प्राप्त करने योग्य थे, परन्तु अब मुझे किसी भी हातव्य वस्तुका प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं रहा; अर्थात् अब सब कुछ प्राप्त होगया है। चतुर्थ अवस्था वह है कि जिसमें साधकको ऐसा अनुभव होता है कि मैंने सम्प्रज्ञात-समाधिमें विवेक नामक ख्यातिकी भावना प्राप्त कर ली है, अब मुझे कोई भी भावनीय पदार्थ अवशिष्ट नहीं है, अर्थात् जो कुछ करना था वह मैं पूर्ण कर चुका। यह चारों अवस्थायें प्रथम वर्गकी हैं और इनके नाम कार्यविमुक्ति अवस्थायें हैं। पञ्चम अवस्था वह कहाती है कि जिसमें साधकको ऐसा अनुभव होता है कि पूर्व-कालमें मैं अनेक बुद्धि (वासना) युक्त होनेके कारण नाना दुःखोंमें फँसा था, परन्तु अब मेरे सारे दुःख क्षयको प्राप्त हो गये, अर्थात् मेरा अन्तःकरण अब शान्तियुक्त हो गया है। षष्ठ

अवस्था वह कहाती है कि जिसमें साधकको ऐसा अनुभव होता है कि मैं अब किसी दूसरी भूमिमें आगया हूँ, मेरे अन्तःकरणके सब गुण दग्ध-बीजके समान हो गये हैं, अर्थात् दग्ध-बीजसे जैसे अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती उस प्रकार मेरे अन्तःकरणमें अब कोई वृत्ति उठ ही नहीं सकती; और सप्तम अवस्था वह कहाती है जिसमें साधकको और कोई अनुभव अवशेष नहीं रहता, अन्तःकरणका लय होनेसे तद्भावमें स्थिर होकर आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है, इसी सप्तम अवस्थाका नाम कैवल्यपद है। ये शेषकी तीन अवस्थायें द्वितीयवर्ग कहाती हैं और इनका नाम चित्त-विमुक्ति अवस्थायें हैं। साधक जितना उन्नत होता जाता है उतना ही इन सप्तभूमियोंमें अग्रसर होता हुआ सबके शेषमें कैवल्यपदको प्राप्त कर लेता है ॥२७॥

अब इस प्रकार सप्तधा विभक्त विवेकख्यातिका उदय कैसे होता है सो बताया जाता है—

योगके आठ अङ्गोंके साधनसे क्रमशः चित्तकी मलिनता-का नाश होकर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती रहती है ॥ २८ ॥

महर्षि सूत्रकार पूर्वसूत्रमें विवेकख्यातिकी अवस्थाओंका भलीभाँति वर्णन करके अब इस सूत्रद्वारा उसकी उत्पत्तिका उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिस प्रकार गाँठका लगाना कर्म है, उसी प्रकार गाँठका खोलना भी कर्म है। इसी प्रकार जीवके साधारण कर्म भी कर्म हैं और अष्टांगयोग साधनरूपकर्म भी कर्म हैं, जैसे गांठ लगानेरूप कर्मसे पदार्थ बँध जाते हैं, उसीप्रकार

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

जीवके साधारण कर्मसे भी जीव सदा बँधे रहते हैं, परन्तु जिस प्रकार गाँठ खोलनेरूप कर्मसे पदार्थ खुल जाता है, उसीप्रकार सुकौशलपूर्ण अष्टाङ्गयोगके साधमसे जीव क्रमशः पूर्णज्ञानको प्राप्त करके मुक्त होजाता है। जैसे-जैसे यम-आदिका अनुष्ठान करते-करते साधक आगेके साधनोंका अधिकारी होजाता है वैसे वैसे ही उसके अन्तःकरणकी मलिनता धुलती चली जाती है जिससे ज्ञानकी दीप्ति उसमें बढ़ती जाती है ओर अन्तमें वह पूर्णज्ञानरूप विवेकख्यातिकी पूर्ण-अवस्थाको लाभ करके मुक्त होजाता है। जिस प्रकार मनुष्य पौड़ी पौड़ी चढ़कर नीचेसे गृहके ऊपरकी छतपर चढ़ जाता है ठीक उसीप्रकार योग-सांधनकी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंका साधन करते करते क्रमशः योगके आठों अङ्गोंकी सहायतासे योगी अन्तमें निर्मल विवेकख्यातिको प्राप्त कर निर्वि-कल्प समाधिमें पहुँच मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

ये योगाङ्ग कौन-कौन हैं :—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योगके ये आठ अङ्ग हैं ॥ २९ ॥

योगसाधनकी जिससे कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है उसके आठ विभाग हैं, यही आठ विभाग आठ अंग कहाते हैं, अर्थात् जैसे जैसे साधक क्रमशः उन्नत होता जाता है वैसे ही अष्टांगसाध-नोंमेंसे उन्नत-अंगोंका अधिकारी होता जाता है। अधिकारके अनुसार ही इन अंगोंका उपदेश श्रीगुरु महाराजसे साधकको मिलता रहता है और इसी विचारसे इन आठ अंगों की दो भूमियाँ हैं; यथा—एक बहिरंग-भूमि और दूसरी अन्तरंग-भूमि, प्रथम चार अर्थात् यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये बहिरंग भूमिमें

यमनियमासनप्राणायामप्रत्यहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

समझे जाते हैं और शेष चार अर्थात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये अन्तरंग-भूमिमें समझे जाते हैं। बहिरंग-भूमिके साधनसे केवल अन्तःकरणकी निर्मलता बढ़कर अन्तःकरण शुद्ध होजाता है और तब योग-साधनमें रुचि बढ़ जाती है, ये बहिरंग साधन मुक्तिप्राप्त करनेके साक्षात्-कारण नहीं हैं। परन्तु अन्तरंग-साधनद्वारा अन्तःकरण एकाग्रताको प्राप्त होजाता है, एकाग्रता ही मुक्ति प्राप्त करनेका साक्षात्-कारण है, इस कारण अन्तरंग-भूमिके साधन समूह ही मुक्तिपद लाभ करनेके साक्षात्-कारण कहाते हैं। इन आठ योग-अंगोंका विस्तारित विवरण अगले सूत्रोंमें किया जावेगा ॥ २९ ॥

प्रथमाङ्गका वर्णन किया जाता है—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह, ये यम कहाते हैं ॥ ३० ॥

किसी प्रकारसे भी किसी कालमें किसी प्राणीको द्वेषबुद्धिसे किसी प्रकारकी हानि न पहुँचानेको अहिंसा कहते हैं, अर्थात् जैसे अपनेको क्लेश होता है वैसे ही प्राणी-मात्रको भी होता है ऐसा विचार करके सब प्रकारके प्राणियोंपर समदृष्टि होकर उनको किसी प्रकारका भी क्लेश न पहुँचानेको अहिंसा कहते हैं, यह अहिंसा-साधन यमके और साधनोंसे सर्व-प्रधान है। वाणी और मनको ठीक रखकर जैसा विषय हो वैसा ही प्रकाश करनेको सत्य कहते हैं, श्रीभगवान् वेदव्यासजीने सत्यका अर्थ ऐसा भी किया है कि जो वाक्य छल कपटसे भरा न हो, जो वाक्य भ्रमशून्य हो, जो वाक्य निरर्थक न हो, जो वाक्य सब प्राणियोंका उपकारकारी हो और जिस वाक्यसे प्राणियोंको किसी प्रकारका क्लेश न पहुँचे,

---

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

वही सत्य है। निषिद्ध रीतिसे दूसरेके द्रव्यको लेना अर्थात् बिना दिये और बिना कहे दूसरेकी वस्तुको ग्रहण करनेका नाम चोरी है, इस चौर्य-वृत्तिका अभाव, अर्थात् अन्तःकरणके इस वृत्तिसे शून्य होनेको अस्तेय कहते हैं। उपस्थ-इन्द्रियको वशमें रखना, अर्थात् मन-दमन द्वारा वीर्यकी रक्षा करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। इसमें स्मरणकीर्त्तनादि अष्टविध मैथुनत्याग भी अन्तर्भुक्त है, और धनका संग्रह करनेमें, धनकी रक्षा करनेमें और धनके नाशमें सर्वत्र ही हिंसारूप दोषको देखकर विषयके त्यागको अपरिग्रह कहते हैं। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमके साधनसे साधकको योगका प्रथम अधिकार प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

प्रथमाङ्गरूप यमकी विशेषता बताई जाती है—

जाति, देश, काल और समयसे भिन्न इन यमोंका सर्वथा पालन करना महाव्रत कहाता है ॥३१॥

जाति, देश, काल और समयका कुछ भी विचार न करके, समदर्शी होकर, सब समय यमके पालन करनेसे परम कल्याणकी प्राप्ति होती है; अर्थात् जैसे मनुष्यगण मनुष्य-जातिमें ब्राह्मणको और पशुजातिमें गो आदि जातिको हिंसा करना अनुचित समझते हैं, जैसे देशके विचारसे काशी आदि तीर्थोंमें हिंसा करना अनुचित समझते हैं, जैसे कालके विचारसे मनुष्यगण पर्वके दिनमें हिंसा करनेसे बचते हैं और समयके विचारसे जैसे सन्ध्या आदि समयमें मनुष्यगण हिंसा नहीं करते, वैसे पक्षपातको त्याग करके, सार्वभौम लक्ष्य जमाकर मनसे ऐसी दृढ़-प्रतिज्ञा की जाय कि कभी किसी कालमें किसी प्रयोजनसे भी हिंसा करनेमें प्रवृत्ति

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

न हो; इस प्रकार जाति, देश, काल और समयके विचारसे रहित होकर यदि साधक हिंसासे बचेगा, तबही वह साधक अहिंसा-साधनका महाव्रतधारी कहावेगा। और इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह आदिके साधनमें भी जाति, देश, काल, और समयके विचारको त्यागकर दृढ़-साधनसे महाव्रत कहावेगा। इस सूत्रसे यही तात्पर्य्य है कि यदि च सांसारिक जीवोंकेलिये जाति, देश, काल और समयके विचारसे ही शनैः शनैः यमका अभ्यास कराया जाता है तथापि वह नियम गौण है; दृढ़व्रत होकर सब कालमें सार्वभौम दृष्टि रखकर यमके साधनसे ही यथार्थ कल्याणकी प्राप्ति होती है; और ऐसा ही करणीय है। स्वार्थपरता ही जीवभाव है और परार्थपरता ही ईश्वरभाव है। केवल अपना अथवा अपने आत्मीयोंका ही सम्बन्ध रखना जीवभाव है और संसारके सब जीवोंको अपना समझना ईश्वरभाव है। तात्पर्य यह है कि जब जगत्के साथ तादात्म्यभावमें जीव अपने अन्तःकरणको युक्त कर देता है तभी वह महाव्रत धारण करके ईश्वरराज्यमें पहुँच जाता है और इसी अवस्थामें पहुँचकर साधक योगानुशासनरूपी मुक्तिमार्गके द्वारके भीतर पहुँच जाता है॥ ३१॥

द्वितीयाङ्गका वर्णन किया जाता है—

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये नियम कहाते हैं॥ ३२॥

शौच शुद्ध करनेको कहते हैं; अर्थात् स्नान, मार्ज्जन आदि क्रियाओंद्वारा शरीरकी शुद्धि और मैत्री, सरलता आदि सत्-वृत्तियोंसे मनके मैलको धोनेका नाम अन्तःशौच है, इस प्रकार बाह्य और अन्तःशौचसे शौच साधन होता है। सब अवस्थाओंमें

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३२॥

अपने आपको सुखी समझनेको सन्तोष कहते हैं अर्थात् विचार द्वारा जव साधकको यह अनुभव हो जाता है और यह भी विचारमें आजाता है कि सुख और दुःख दोनों ही क्षणभंगुर हैं, तव वह ज्ञानवान् साधक सब अवस्थाओंमें ही अविचलित रह सकता है और यह अविचलित-अवस्था ही सन्तोष कहाती है। शीतकी तीव्रता और ग्रीष्मकी प्रवलतासे जो क्लेश होता है, भूख और प्यासके उदयसे जो विकलता होती है इत्यादि शरीरके विकारोंको सह लेनेका नाम तप है, शास्त्रोंमें जो कृच्छ्रचान्द्रायण सान्तपन, अनशन आदि व्रत लिखे हैं वे सव तपके ही साधन हैं। यद्यपि तपका विस्तारित सूक्ष्म लक्षण पहले कर चुके हैं परन्तु यहां शारीरिक तपसे अधिक सम्बन्ध है ऐसा समझना उचित है। मोक्षधर्म-उपदेशक शास्त्रोंके पठन और मननको स्वाध्याय कहते हैं। जगत्कर्त्ता परमेश्वरमें अचल-भक्तियुक्त होकर अपने किये हुए सत्कर्मोंका फल उनके चरणोंमें अर्पण कर देनेको ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं, ईश्वर-प्रणिधानका विस्तारित विवरण पूर्व ही आ चुका है, इस कारण पुनः इस स्थलपर पुनरुक्ति नहीं की गई। यहां पर वैधीभक्ति ही ईश्वर-प्रणिधानका तात्पर्य है। इस प्रकार शौच, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानरूपी नियमके साधनसे साधक शुद्धचित्त होता हुआ योगमार्गके उन्नत अधिकारों को प्राप्त होता जाता है ॥३२॥

अब यमनियमविरोधिनी वृत्तियोंके उदयमें कर्त्तव्य निर्देश किया जाता है—

वितर्कबाधन अर्थात् योगविरोधी हिंसादि वृत्तियोंके द्वारा यमादि योगाङ्गोंकी उच्छेदाशङ्का होनेपर उन वृत्तियोंके प्रतिपक्ष भावोंकी चिन्ता करे ॥ ३३ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

ऐसा विचार न किया जाय कि यम और नियम आदिमें हिंसा आदिका पूर्णरूपेण नाश होना सम्भव है, अर्थात् जिन-जिन धर्म-प्रतिकूल वृत्तियोंके निरोध यम और नियमके साधनमें लिखे हैं उनकी विरुद्ध वृत्तियोंके ही प्राप्त करनेको यम और नियम कहते हैं, और उन प्रतिकूल-वृत्तियोंके रोकनेसे ही इनका साधन होता है, अर्थात् जब जब हिंसा आदि वृत्तियां अन्तःकरणमें उठें और अन्तःकरण ऐसा चाहने लगे कि "अमुकको मार डालूँ या दुःख पहुँचाऊं, अपने इन्द्रिय-सुखके लिये अमुक असत्य बोलूँ, अमुककी वस्तु चुरालूं, विषयवासनाकी तृप्तिकेलिये व्यभिचार करूं, धर्माधर्म-विचाररहित होकर दान ग्रहण करूं इत्यादि, अथवा साधकके अन्तःकरणमें शौचकी विरोधिनी अशुचिताकी वृत्ति उठे, सन्तोषके विरोधी असन्तोषकी वृत्ति उठे, तप नष्ट करनेकी वृत्ति उठे, स्वाध्यायमें अश्रद्धा होने लगे और नास्तिकताभाव कदाचित् प्रकट हो जाय तो गुरुउपदेशके अनुसार साधकको ऐसी विरुद्ध वृत्तियोंका स्मरण करना उचित है जिससे उसके अन्तःकरणकी वह पापकारी यम नियमकी प्रतिकूल-वृत्तियां दब जावें। दिग्दर्शनके लिये कहा जाता है कि कर्मकी प्रतिक्रिया-भावनासे हिंसाका नाश हो सकता है, अर्थात् हिंसा करनेमें जन्मान्तरमें मुझसे भी प्रति-हिंसारूपसे बदला लिया जायगा इस विरुद्ध भावनाके द्वारा साधक हिंसासे बच सकता है। इसी प्रकार कर्म-विपाकरूपी नरकादि दुःखके भयसे अन्यान्यविरुद्ध वृत्तियोंसे बचनेका प्रयत्न गुरु आज्ञा-के अनुसार साधक यदि करेगा वह योगपथका पथिक बन सकेगा। और इसी रीतिपर साधन करनेसे साधक दिनपर दिन यम और नियमके साधनमें अग्रसर होता जायगा ॥ ३३ ॥

अब वितर्कका स्वरूप उसका क्रम तथा तत्प्रतिपक्ष-भावनाका विचार किया जाता है—

वितर्क हिंसा आदि हैं, वे (हिंसा आदि) स्वयं किये जाँय या दूसरे से कराये जाँय या करनेमें सम्मति दी जाय-लोभ-से क्रोधसे अथवा मोहसे उनकी उत्पत्ति होती है, वे मृदु मध्य और अधिमात्र होते हैं, इनका फल अनन्त दुःख और अज्ञान है, यही इनमें प्रतिपक्ष भावना है ॥३४॥

पूर्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार यम और नियमरूपी योगके प्रथम दो अङ्गोंका वर्णन कर पुनः उनके साधन-उपायका विस्तारित विवरण कह अब इस सूत्रद्वारा उनकी विरोधिनी वृत्तियोंके विस्तारित भेद तथा अवस्थाओंका वर्णन कर रहे हैं। प्रधानतः हिंसादि तीन प्रकारके होते हैं, यथा—कृत, कारित और अनुमोदितः जो हिंसा स्वयं की जाय वह कृत, जो हिंसा दूसरेसे करायी जाय वह कारित और जिस हिंसाके करनेमें सम्मति दी जाय वह हिंसा अनुमोदित कहाती है। पुनः इन तीन प्रकारकी हिंसाओंमें भी प्रत्येकके लोभ, क्रोध और मोहके विचारसे तीन तीन भेद होते हैं; अर्थात् जब मांस आदिके लोभसे हिंसा की जाय तब वह लोभज, जो हिंसा बदला लेनेके अर्थ क्रोधसे की जाय वह क्रोधज और जब ऐसा विचार किया जाय कि "अमुक को मार डालना मेरा धर्म है" तो मोहसे की हुई उस हिंसाका नाम मोहज है। पुनः इन तीनोंसे प्रत्येकके मृदु, मध्य और तीव्र भेदसे तीन तीन भेद हैं; इस प्रकारसे पूर्व्व कथनके अनुसार हिंसाके सत्ताईस भेद हुए। प्रकृति-भेदसे जब प्राणियोंके असंख्य भेद हैं तो उसीप्रकार गुणके तारतम्यसे इस हिंसारूपी पापके

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

सत्ताईस भेदोंके भी अनन्त भेद होजावेंगे। और इसी रीतिके अनुसार असत्य आदि पापवृत्तियोंके भी अनन्त भेद होते हैं। अब इन हिंसादि योगविरोधिनी वृत्तियोंके दमनार्थ प्रतिपक्षभावना किसी प्रकारसे करनी चाहिये सो बताया जाता है। किसीको मारते समय पहिले मनुष्य उसके बलवीर्यकी निन्दा करता है, पुनः शस्त्र द्वारा उसको क्लेश देता है और तत्पश्चात् उसे मार डालता है; इसी क्रमके अनुसार उस जीवको अपने किये हुए इस पापकर्मका भोग भी मिलता है, अर्थात् वीर्यकी निन्दासे परजन्ममें वह हीन-वीर्य होता है, दुःख देनेसे वह भी दुःख पाता है और हनन करनेसे या तो वह उससे मारा जाता है अथवा अल्पायु होता है। स्मृतिमें भी लिखा है :—

यो यं हन्ति विना वैरं प्रकामं सहसा पुनः।
हन्तारं हन्ति तं प्राप्य जननं जननान्तरे॥

विना कारण किसीका हनन करनेपर वह निहत जीव आगेके जन्ममें उस पूर्वहन्ताको भी निधन करता है। इस प्रकार कर्मकी गहन गतिसे उसको यथावत् दुःखरूपी फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य शास्त्रोक्त पुण्यके विचारसे भी पुण्य समझकर हिंसा करेंगे तो परलोकमें उनको पुण्यसे सुखकी तो प्राप्ति होगी, परन्तु हिंसारूपी कार्यसे वे अवश्य अल्पायु होंगे, मीमांसादर्शनमें इस प्रकार कर्मोंकी अद्भुत गति वर्णन की गयी है। इसके सिवाय हिंसादि तमोगुणात्मक पापकार्योंके अनुष्ठानद्वारा पापीका अन्तःकरण क्रमशः घोर अज्ञानतमसाच्छन्न हो जायगा जिससे इस प्रकार हिंसादि पापासक्त जीवको अत्यन्त अधोगति और घोर नरकयन्त्रणा प्राप्त होगी। इस प्रकारसे हिंसादि योगविरोधिनी वृत्तियोंके निवारणकेलिये जो प्रतिकूल विचार है उसको प्रतिपक्ष भावना कहते हैं। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि पाप-वृत्तिरूपी

वितर्कोंके अनन्त भेद हैं और उनसे यथावत् दुःखकी ही प्राप्ति अन्तमें होती है, इस कारण इन योग-विघ्नकारि-वृत्तियोंको यम-नियमरूपी प्रतिपक्ष-भावनासे नष्ट कर देना ही उचित है ॥३४॥

अब योगीके चित्तमें उत्साहवर्द्धनार्थ इन योगाङ्गोंके नियमित अनुष्ठानद्वारा प्राप्त सिद्धियोंका वर्णन क्रमशः किया जाता है—

जब अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है तब उसके समीप सब जीव वैर-भाव त्याग कर देते हैं ॥ ३५ ॥

अब इस सूत्रमें अहिंसाके पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो जानेपर जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब योगी हिंसा आदि कुवृत्तियोंको पूर्णरूपेण जय करके अपने अन्तःकरणमें अहिंसा वृत्तिकी प्रतिष्ठा कर लेता है, तब उसके सम्मुख आये हुए जीवोंका वैर-भाव भी दूर हो जाता है; अर्थात् उस समयकेलिये उस महापुरुषके संगसे वे भी अहिंसा-वृत्तिको प्राप्त करते हैं। इसमें यदि ऐसा कोई सन्देह करे कि "व्याघ्र आदि जीवोंका स्वभाव ही हिंसा करना है तो प्रकृति अपने स्वभावको कैसे छोड़ेगी ?" इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि व्याघ्र आदिका स्वभाव हिंसा करना नहीं है, यदि ऐसा होता तो वे अपने पुत्र कलत्रकी भी हिंसा करते, परन्तु उसमें तमोगुणका प्रभाव अधिक होनेके कारण थोड़ेसे ही कारणसे तमोगुणकी उत्पत्ति हो जाती है और यही हिंसा अधिक होनेका कारण है; किन्तु जहां उस कारणका अभाव रहेगा वहाँ हिंसा-वृत्ति उठ ही नहीं सकेगी; अर्थात् जिन साधक महात्माओंमें हिंसाके बीजतकका नाश हो गया है, पूर्ण शान्तिके प्रभावसे उनके निकट वह हिंसक पशु भी शान्त ही बना रहेगा। यह विज्ञान और भी सूक्ष्मरीतिसे समझने योग्य

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

है। हृदयाकाश, ब्रह्माण्ड और पिण्डमें व्याप्त है। इस कारण अन्तःकरणको भी व्यापक कहा गया है। जैसे एक ब्रह्माण्डका-समष्टि अन्तःकरण ब्रह्माजीका अन्तःकरण है और प्रत्येक जीवका अन्तःकरण व्यष्टि अन्तःकरण है उसीप्रकार प्रत्येक जीवके अन्तःकरणका आकाश व्यष्टि आकाश है; जिसको चित्ताकाश कहते हैं और एक ब्रह्माण्डका समष्टि चित्ताकाश अर्थात् समष्टि अन्तःकरणका आकाश चिदाकाश कहलाता है। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे ये दोनों मिले हुए हैं। यही कारण है कि प्रेमियों-का प्रेम परस्परमें अन्तःकरणमें प्रतिफलित हुआ करता है। यही कारण कि योगिगण दूसरेके अन्तःकरणका भाव जान लेते हैं। यही कारण है कि देवतागण मनुष्योंके शारीरिक और मानसिक सब कर्मोंका हिसाब रखते हैं। अस्तु, जब योगीके चित्तमें अहिंसा वृत्ति प्रतिष्ठित हो जाती है और उनके अन्तःकरणमें हिंसा उपयोगी धक्का लगनेपर भी कभी हिंसावृत्ति नहीं उठती तो उस समय उनके निकटस्थ जो अन्तःकरण होगा उसमें भी वही भाव स्वतः ही प्रतिफलित हो जायगा। और ऐसा होनेपर हिंस्र पशुका अन्तःकरण अपने आप ही हिंसारहित हो जायगा। गुरुशक्तिके सामने लघुशक्ति अपने आप दब जाती है इस कारण लघुशक्तिविशिष्ट पशुका अन्तःकरण गुरुशक्ति-विशिष्ट योगीके अन्तःकरणके प्रभावसे स्वतः ही शान्त हो जायगा॥ ३५॥

तथा च—

सत्यकी प्रतिष्ठासे योगीके क्रिया न करनेपर भी क्रियाफल-का आश्रय हो जाता है ॥३६॥

अब इस सूत्रद्वारा सत्यकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ ३६॥

फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब योगी सत्यता-अभ्यासमें दृढ़तायुक्त हो जाता है अर्थात् जब उनके मुखसे असत्य वाक्य निकलता ही नहीं, तब उनकी वाक्य-सिद्धि हो जाती है अर्थात् तब वे जो कुछ मुँहसे वचन निकालते हैं उसका फल अवश्य होता है, जैसे यदि वे किसी मूर्खको पण्डित कहें तो वह मूर्ख पण्डित हो जाता है, यदि द्ररिद्रको धनवान् कहें तो दरिद्र धनवान् हो जाता है, यदि वन्ध्याको पुत्रवती कहें तो वन्ध्या पुत्रवती हो जाती है। इसमें यदि कोई सन्देह करे कि असम्भव कैसे सम्भव हो सकता है? तो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि योगीका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे वह जो कुछ देखता है और पुनः उसका स्वभाव सत्यमय हो जानेसे, वह जो कुछ करता है वह सत्य ही करता है; इस कारण जैसा होने वाला है उसको ही उसका अन्तःकरण अनुभव कर लेता है और वैसे ही रेखपर मेख मार कर उसका वचन भी मुखसे निकलता है ॥ ३६ ॥

तथा च—

अस्तेयकी प्रतिष्ठासे सब रत्नोंकी प्राप्ति हो जाती है ॥३७॥

अब अस्तेयकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब साधक ऐसा अभ्यास कर लेता है कि लोभके जय कर लेनेसे उसमें चोरीकी वृत्ति उठती ही नहीं तब समस्त संसारके प्राणी उसका विश्वास करने लगते हैं और विना अभिलाषाके ही अच्छे अच्छे पदार्थ उसके निकट आ जाते हैं। जैसे अहिंसा-वृत्तिके उदय होनेसे हिंस्रक व्याघ्र भी उसके सन्मुख अहिंसा-वृत्तिको धारण कर लेता है, उसीप्रकार अस्तेय-वृत्तिके उदय होनेसे अविश्वासी संसार भी उसका विश्वास

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

करने लगता है। जब तक मनुष्यकी इच्छा रहती है तब ही तक उसको अभाव भो अनुभव होता है; परन्तु लोभरूपी इच्छाके दूर होनेसे साधकके सब अभाव दूर हो जाते हैं, और तब इस संसारका कोई पदार्थ भी उनके अथ अप्राप्त नहीं रहता। इसका और तरहसे भी समझ सकते हैं कि मनुष्यको अभावका अनुभव पूर्वजन्मके कर्मानुसार ही होता है। पूर्वजन्ममें मनुष्यने जिन पदार्थोंका दुर्व्यवहार किया है अथवा अयथासंग्रह किया है जन्मान्तरमें उस मनुष्यको उन्हीं पदार्थोंका अभाव बोध होता है। अस्तु, जब योगीके अन्तःकरणमें अस्तेयवृत्तिकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो अभाव-उत्पन्नकारी कर्मके बीजका नाश ही होता है। यही कारण है कि ऐसे योगिराजको पुनः संसारमें कोई पदार्थ अलभ्य नहीं रहता है॥ ३७॥

ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिष्ठासे वीर्यका लाभ होता है ॥३८॥

अब ब्रह्मचर्यकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होनेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब ब्रह्मचर्य्य-साधन पूर्णरूपेण हो जाता है तो साधकको शारीरिक और मानसिक वीर्य्यकी प्राप्ति होती है। शरीरमें रेत ही प्रधान धातु है, इस कारण इसका नाम वीर्य्य है; यही शरीरमें सप्तम अर्थात् सबसे उन्नत धातु है। उस रेतकी पूर्णरक्षा करनेसे शरीर पूर्णताको प्राप्त होता है; अर्थात् ब्रह्मचर्य्यके साधनसे शरीर ऐसा उपयोगी हो जाता है कि किसी प्रकारसे भी विचलित नहीं होता। जब प्रधान धातुसे शरीर पूर्ण रहेगा तो उससे और धातु भी स्वतः ही पूर्णताको प्राप्त होंगे; यह पूर्णता ही शारीरिक-वीर्य्य कहाता है। शरीर और मनका एकही सम्बन्ध है, अर्थात् शरीर वीर्य्यवान् होनेसे मन भी वीर्य्य-

---

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३८॥

वान् हो जाता है; दूसरे मन, वायु और वीर्य्यसे बहुत निकट-सम्बन्ध है, क्योंकि सृष्टिक्रियामें देखा जाता है कि उस क्रियाके करनेमें मन कर्त्ता और वीर्य्य कारण है; इसी कारण ब्रह्मचर्य्य-व्रतके द्वारा मन भी इतना बलशाली हो जाता है कि वह जो चाहे सो ही कर सकता है ॥ ३८ ॥

तथा च—

अपरिग्रहके स्थिर होनेसे जन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥ ३९ ॥

अब अपरिग्रहकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होनेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब साधकका हृदय एक बार ही लोभ-शून्य हो जाय और किसी प्रकारकी भी विषय-प्राप्तिकी इच्छा उसके अन्तःकरणमें न रहे तब उस पूर्ण-वैराग्ययुक्त अन्तः-करणमें पूर्ण-शान्ति विराजने लगती है; और तब ही अपरिग्रहकी पूर्णावस्था कहाती है। अपरिग्रहकी इस पूर्णावस्थामें साधकको पूर्व-जन्मका ज्ञान होता है; अर्थात् इस पदको प्राप्त कर साधक जान सकता है कि मैं पूर्व-जन्ममें कौन था, पूर्व-जन्ममें मैंने कैसे कर्म किये थे इत्यादि। तीव्र-वैराग्यके उदय होनेसे जब अन्तःकरण विषय-वासनासे रहित होकर शान्त हो जाता है, तब उसे फँसाने-वाले और कोई पदार्थ नहीं रहते; इस प्रकार अन्तःकरणके बाहरकी ओरसे मुख फेर लेनेसे उसमें यथार्थ-ज्ञानकी वृद्धि होती है और इसी शुद्ध-ज्ञानकी सहायतासे वह बहुत विषय जान सकता है। चित्तमें जीवके सब किये हुए कर्मोंका संस्कार रहता है, परन्तु नाना-वृत्तियोंसे चित्तके चंचल रहनेके कारण वे संस्कार दिखाई नहीं पड़ते, जब अपरिग्रहकी पूर्णावस्था प्राप्त होनेसे चित्त ठहर

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

जाता है तो आपही आप उन संस्कारोंसे स्मृतिका उदय होकर पिछले सम्पूर्ण कर्म जीवको स्मरण हो आते हैं ॥ ३९ ॥

यमाङ्गान्तगत सिद्धियोंका वर्णन करके अब नियमसाधन-जनित सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है।

शौचसे अपने अंगोंके प्रति घृणा और दूसरोंसे असंसर्गकी प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

अब शौचकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होनेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। शौच-अभ्यास करते-करते जब साधक चरम-सीमापर पहुँचता है तब उसे ऐसा अनुभव होता है कि यह शरीर परम अपवित्र है, इसका संग ही अपवित्रताका कारण है। देहाध्यास अर्थात् देहको अपना करके जानना ही जीवके बन्धनका कारण है; जब शौचके साधनसे इस पाँचभौतिक शरीरमें तीव्र द्वेषबुद्धि हो जाती है अर्थात् इसको परम अपवित्र समझकर जब जीवकी वृत्ति इससे हट जाती है तब ही जीवमें मोक्ष-साधनकी इच्छा प्रबल हो सकती है। यह तो प्रमाणित ही है कि जब अपने शरीरमें ही द्वेष-बुद्धि होगी तो और शरीरोंसे भी उसकी प्राप्ति और संसर्गेच्छा जाती रहेगी। इस विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिये शौचके लक्षणको ओर अधिक ध्यान देना होगा। स्थूलशरीर-सम्बन्धीय अपवित्र मलादिकमें अरुचि और उससे बचनेसे जब बहिःशौच होता है और पापजनक क्लिष्टवृत्तियोंमें अरुचि और पुण्यजनक अक्लिष्ट वृत्तियों द्वारा अन्तःकरणको परिपूर्ण करके कौशलद्वारा पापजनक वृत्तियोंसे बचनसे जब अन्तःशौच होता है तो यह स्वीकार करना ही होगा कि अपवित्र और असत्से पवित्र और सत्की ओर शौच-

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गश्च ॥ ४० ॥

साधन-तत्पर योगीकी प्रवृत्ति और गति सदा वनी रहती है। ऐसा होनेपर शरीरकी क्षणभंगुरता और विषयसुखकी अलीकता योगीके अनुभवमें आजानेसे उसके चित्तमें स्वतः ही अपने शरीरकी ओर आसक्तिका अभाव और दूसरेसे सम्बन्ध-स्थापनमें अरुचि उत्पन्न होगी इसमें सन्देह नहीं ॥ ४० ॥

शौचसिद्धिका फलान्तर बताया जाता है—

सत्त्वशुद्धि, मनमें प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

जब अन्तःकरणकी मलिनता दूर होनेसे अन्तःकरणमें केवल सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश होने लगता है तो ज्ञानाधिक्यके कारण और क्लिष्टवृत्तिरूपी तमोगुणके दूर होनेसे वह अवस्था सत्त्व-शुद्धि कहाती है। मलरूपी क्लिष्टवृत्तिके दूर हो जानेसे मनमें जो एक प्रकारकी सुखकी उत्पत्ति होती है उसीका नाम सौमनस्य अर्थात् मनकी प्रसन्नता है। सत्त्वशुद्धिका सौमनस्य एक प्रधान फल है, अर्थात् जिस अन्तःकरणमें सत्त्वशुद्धि होगी, अपने आप ही उसमें सौमनस्य होना स्वतः सिद्ध है। मन शुद्ध होनेसे वह आप ही स्थिरताको प्राप्त होता है, और इसी अवस्थाका नाम एकाग्रता है। विषयोंमें न लगनेसे इन्द्रियगणका जय होता है, अर्थात् शौचसे जब शरीरमें ही प्रीति नहीं रहती तो इन्द्रियोंके विषयोंमें क्या रहेगी, इसही विषयोंसे मुख फेरनेका नाम इन्द्रियजय है। इसप्रकार जब अन्तःकरणकी वृत्तियाँ ठहरने लगती हैं तो आपही आप अन्तःकरणमें आत्मदर्शनकी योग्यता आजाती है। इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि शौचका साधनपूर्ण होनेपर केवल पूर्वसूत्रोक्त एक फलकी ही प्राप्ति नहीं होती, परन्तु सत्त्वसुद्धि, चित्तप्रसाद, एका-

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

ग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनकी योग्यताका भी लाभ होता है॥४१॥

तथा च—

सन्तोषसे श्रेष्ठतम सुखका लाभ होता है ॥४२॥

अब इस सूत्रद्वारा सन्तोषकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने लिखा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसारमें जो कामजनित सुख और स्वर्गमें जो महान् दिव्यसुख हैं, वे सभी तृष्णाक्षयजनित सुखके षोडशांशके भी एक अंश नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि वासना ही नाना दुःखोंका कारण है, जब संतोषके उदय होनेसे इच्छाका एक बार ही नाश हो जायगा तो दुःख रहेगा ही नहीं तब सुख ही सुख शेष रह जायगा। इसी कारण संतोष ही परम सुखका रूप है। सुखरहस्यपर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि विषय स्वयं सुख नहीं देता है परन्तु विषयके अवलम्बनसे चित्त एकाग्र होनेपर उस एकाग्र अन्तःकरणमें सुखमय आत्माका जो प्रतिविम्ब भासमान होता है उसीसे विषयीको सुख प्राप्त होता है, विषयके परिणामी और क्षणभंगुर होनेसे उसमें एकाग्रता भी क्षणभंगुर और परिणामिनी है और इसलिये आत्मप्रतिविम्बजनित सुखकी प्राप्ति भी विषय-संयोगसे क्षणभंगुर ही होती है। परन्तु तृष्णाका क्षय होकर चित्तमें सन्तोषप्राप्त होनेसे चित्तका चाञ्चल्य एक बारही नष्ट होकर उसमें चिर एकाग्रता बनी रहती है और उस एकाग्रचित्तमें आत्माका प्रतिबिम्ब सदा ही भासमान रहता है जिससे सन्तोषी पुरुषको अत्युत्तम अविनश्वर सुखकी प्राप्ति हुआ करती है ॥४२॥

सन्तोषादनुत्तमस्सुखलाभः ॥४२॥

तथा च—

तपद्वारा अशुद्धिक्षय होजानेसे कायसिद्धि और इन्द्रिय-सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

अब इस सूत्रद्वारा तपकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। रजोगुण-तमोगुणजनित मल आवरण आदि अशुद्धिके द्वारा ही जीवकी आभ्यन्तरीण समस्त शक्ति कुण्ठित रहती है। जब तपके अनुष्ठानद्वारा ये सब अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं ता योगीको स्वतः ही अणिमा लघिमा आदि अनेक प्रकारकी शरीर-सम्बन्धीय सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इसीका नाम कायसिद्धि है। इस प्रकार तपःसाधनद्वारा अन्तःकरणकी दृढ़ता और शुद्धतासे अन्तःकरण जब एकाग्र होने लगता है तब स्वतः ही उस योगीकी इन्द्रियशक्ति पूर्णताको प्राप्त होजाती है; अर्थात् तब योगी दूर-दर्शन दूर-श्रवण आदि इन्द्रिय-शक्तिकी पूर्णताको प्राप्त होजाता है; यह ऐशी-सिद्धिका अंशरूप इन्द्रियगणकी पूर्णता ही अद्भुत कायसिद्धि और इन्द्रिय-सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है। रज तमका मल रहने तक जीवभाव रहता है। परन्तु जितनाही अन्तःकरण निर्मल होता जाता है उतना ही वह अन्तःकरण ईश्वर-सान्निध्यको प्राप्त करता है। अतः मलरहित और ईश्वरभावराज्यमें मग्न अन्तःकरणमें ऐसी सिद्धियोंका प्रकाशित होना सम्भव ही है। इस कारण इस प्रकारके अधिकार-प्राप्त योगीमें स्थूलकायसिद्धि और सूक्ष्मराज्यविषयक ज्ञानेन्द्रिय-सिद्धिका प्रकाशित होना स्वतः सिद्ध है ॥ ४३ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायसे अभिलषित देवताकी प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

अब इस सूत्रद्वारा स्वाध्यायकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। वेद अथवा वेद-सम्मत मोक्षशास्त्रका पठन और मनन करनेसे अथवा मंत्र-जपसे स्वाध्याय होता है, ऐसे स्वाध्यायरूपी साधनकी पूर्णताके प्राप्त होनेसे अभिलषित देवताकी प्राप्ति होती है। मोक्षरूपी अभिलाषके प्राप्त करानेवाले जो गुरु महात्मा अथवा इष्ट-देव हों, वेही अभिलषित देव हैं। वेद अथवा मोक्षशास्त्र पढ़ते-पढ़ते जब अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तब ही मनुष्यको साधु, महात्मा अथवा गुरुदेवके दर्शन हो सकते हैं। वेदार्थ और मोक्ष-शास्त्रका मनन करते-करते जब पूर्णज्ञानकी प्राप्तिसे साधक समझने लगता है कि प्रकृतिका यह रूप है और परमात्माका यह रूप है, तब ही साधक भक्तके हृदयमें भक्त मनोरंजन देवोंके देव इष्टदेव श्रीभगवान् प्रकट होजाते हैं। और प्रणवरूपी मंत्रके जपसे कैसे भगवद्दर्शन होता है इसका वर्णन पूर्व ही आचुका है। इस प्रकार स्वाध्याय साधनके सिद्ध होनेसे साधक गुरु और गोविन्दरूप अभिलषित देवताकी प्राप्ति कर लेता है। उसी प्रकार दूसरी ओर सगुणोपासनामें भी अपने अपने सम्प्रदायके गुरूपदिष्ट मन्त्रके जप और अर्थानुगमनपूर्वक अपने अपने सम्प्रदायकी गीताके पाठद्वारा ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्तिकी सहायतासे अपने अपने इष्टदेवकी प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४४ ॥

तथा च—

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है ॥ ४५ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

अब इस सूत्रद्वारा ईश्वर-प्रणिधानकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। ईश्वर प्रणिधानसे निर्विकल्प-समाधिको प्राप्त करके कैसे साधक मुक्त हो सकता है उसका वर्णन प्रथमपादमें भली-भाँति आचुका है, इस कारण यहाँ पुनरुक्ति नहीं की गयी। जब भक्त-साधक ईश्वर-भक्तिकी पूर्णताको प्राप्त करके पराभक्तिके राज्यमें पहुँचकर अपने सब कर्म-फलों-को अपने प्रियतम हृदयनाथके प्रीत्यर्थ अर्पण करके, उनके ही प्रेममें उन्मत्त होकर भीतर बाहर, जड़में चेतनमें, सुखमें दुःखमें, भलेमें बुरेमें, जहां तहां सकल स्थानोंमें उस एक परमात्माको ही देखता है, तब ही वह भक्तकुलतिलक कैवल्यपदरूपी समाधिको प्राप्त हो जाता है। इस विज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं। ईश्वर-प्रणिधानद्वारा कैसे एकतत्त्वको प्राप्ति होती है, इसका विस्तारित विवरण पहले ही आचुका है। समाधिभूमिमें अग्रसर होते समय संयमद्वारा सिद्धिकी प्राप्ति और एकतत्त्वद्वारा निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिमें सुविधा प्राप्त होती है। इस कारण जब ईश्वर-प्रणिधानद्वारा एकतत्त्व स्वतः ही लाभ होता है और एकतत्त्व जब योगिराजको निर्विकल्प समाधिभूमिमें पहुँचाता है तो यह सिद्ध हुआ कि एकतत्त्वका प्रधान सहायक ईश्वर-प्रणिधान निर्विकल्प समाधिका प्रधान सहायक है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तक महर्षि सूत्रकार केवल यम और नियमरूपी योगके दो अंगोंका वर्णन कर चुके। इन पूर्वोक्त सूत्रोंसे यही समझना उचित है कि यम और नियमके प्रत्येक अंगोंको पूर्णरूपेण अभ्यास करलेनेसे जो फलकी प्राप्ति हो सकती है उसीका स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपेण वर्णन किया गया है और यम और नियमकी साधन-अवस्थामें इन पूर्वलिखित अवस्थाओंकी पूर्णता नहीं होती; अर्थात् जैसे-जैसे योगी साधनमें अग्रसर होता जाता है वैसे-वैसे ही उसको इन फलोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ४५ ॥

यम और नियमका साधन और सिद्धि बताकर अब तृतीय योगांगरूप आसनका लक्षण बताया जाता है—

जो स्थिर सुखकर हो वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार शरीरको रखनेसे शरीर सुखको प्राप्त हो और उसके साथ मन भी स्थिरताको प्राप्त होकर आत्माको भी सुख पहुँचे शरीरको उसी प्रकारसे रखनेकी रीतिको आसन कहते हैं। एक अवस्थामें मनुष्य कभी स्थिर सुखको प्राप्त नहीं हो सकता हैं, इसी कारण मनुष्य चित होता है, कभी पट होता है, कभी करवट लेता है, कभी बैठता है और कभी खड़ा होता है, शरीरके चंचल होनेसे मनकी भी चंचलता होती है, इस कारण त्रिकालदर्शी आचार्योंने बहुतसे बैठनेके ऐसे उपाय निकाले हैं कि जिनके अभ्यास करनेसे शनैः शनैः साधक शरीरकी शान्ति प्राप्त करके मनकी शान्तिको प्राप्त कर लेता है और तब मन भी योग उपयुक्त हो जाता है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही विस्तार है इस कारण स्थूलशरीरके चंचल होनेसे उसका मूलभूत सूक्ष्मशरीर भी चंचलताको प्राप्त होता है; परन्तु यदि किसी क्रियाद्वारा स्थूलशरीरको स्थिर सुखमें पहुँचा दिया जाय तो मनमें भी स्थिर सुखका उदय होगा इसमें सन्देह ही क्या? योगशास्त्रके नाना आचार्योंने नाना प्रकारके आसनोंका वर्णन किया है और उनके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र फल भी बताये हैं। चार प्रकारके योग-साधनोंमेंसे हठयोगके आचार्यगणने चौरासी प्रकारके आसनोंका वर्णन किया है, परन्तु लययोगके आचार्य्यगणने केवल चार आसनोंको ही माना है। इन आसनोंके सिवाय योगशास्त्रोंमें चौबीस प्रकारकी मुद्राओंका भी वर्णन है। ये मुद्राएँ कुछ तो आसनोंमें काममें आती हैं, कुछ प्राणायामकी सहायता करती हैं

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

और कुछ प्रत्याहार, धारणा और स्थूल एवं ज्योतिर्ध्यानमें कार्य-कारिणी हुआ करती हैं ॥ ४६ ॥

आसनका लक्षण बताकर उसकी सिद्धिका उपाय बताया जाता है—

प्रयत्नकी शिथिलता और अनन्त-समापत्तिसे आसनसिद्धि होती है ॥ ४७ ॥

अब इस सूत्रद्वारा आसनसिद्धिका लक्षण और उपाय वर्णन कर रहे हैं। प्रयत्नकी जब शिथिलता हो जाती है अर्थात् आसन-का अभ्यास करते करते जब वह आसन साधकका प्रकृतिगत हो जाता है अर्थात् देहाध्यासका विचार न रहनेके कारण जब पूर्णरूपेण आसनमें प्रयत्नकी शिथिलता हो जाती है तब ही आसनसाधनकी सिद्धावस्था समझना उचित है। इस प्रकार शरीरके साधनसे साधक जब मनको एकाग्रताको प्राप्त कर लेता है तब योगीका चित्ताकाश चिदाकाशमें और चिदाकाश महाकाशमें युक्त होनेसे वह योगी अनन्तनागरूपी अनन्त आकाश या अनन्तशायी परमात्मा विष्णुतकमें भी चित्तको एकतान कर सकता है जिसको अनन्त समापत्ति कह कर सूत्रमें वर्णन किया गया है और इस प्रकारसे आसन-अभ्यासद्वारा शरीर और मनके स्थिर होनेसे पूर्वोक्त अङ्गमेजयत्व आदि सम्पूर्ण योगविघ्नोंकी शान्ति हो जाती है, यही आसनसिद्धिका उपाय और लक्षण है। इस प्रकार आसनसिद्धिसे योगसाधनमें साधकको बहुत ही सहायता मिलती है ॥ ४७ ॥

अब आसनसिद्धिका फल बताया जाता है—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

आसन जय करनेसे द्वन्द्वोंकी बाधा मिट जाती है ॥४८॥

इस सूत्रद्वारा आसनसिद्धिका फल वर्णन कर रहे हैं। एकमें दूसरेका जो अभाव हो उसे द्वन्द्व कहते हैं; अर्थात् शीतमें ग्रीष्मका अभाव और ग्रीष्ममें शीतका अभाव; इसी प्रकार सुखमें दुःखका अभाव और दुःखमें सुखका अभाव इत्यादि द्वन्द्वकी बाधाएँ हैं। आसनसाधनामें सिद्धिलाभ करनेसे जिस समय शरीर सम्पूर्ण स्थिरता और निश्चलताको प्राप्त हो जायगा और मन भी निश्चल होकर किसी अनन्तभावमें लवलीन होजायगा तो उस समय स्वतः ही शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका प्रभाव उस शरीर या मनपर नहीं हो सकेगा और वह आसनसिद्ध धीर योगी आध्यात्मिक मार्गमें अनायासही क्रमशः अग्रसर हो सकेगा यही आसनसिद्धिद्वारा द्वन्द्वबाधानिवृत्तिका तात्पर्य है ॥ ४८ ॥

अब आसनसिद्धिके साथ प्राणायामका सम्बन्ध बताकर उसका लक्षण किया जाता है।

आसनके स्थिर होजानेसे जो श्वास और प्रश्वासकी गतिका अवरोध होजाता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

अब प्राणायामका वर्णन कर रहे हैं। जो साधकगण आसन सिद्ध नहीं कर सकते, मनकी चंचलताके कारण उनकी वायु भी चंचल रहती है, इस कारण वे प्राणायाम-साधनके अधिकारी नहीं हो सकते। श्वासका बाहर निकलना और भीतर जाना रूप जो प्राणकी क्रिया है, उसके अवरोध-साधनको प्राणायाम

ततो द्वन्द्वानभिघातः ४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

कहते हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि मनुष्य दौड़ते-दौड़ते या घोड़ा दौड़ाकर मनःसंयमकारी कोई गभीर चिन्ता नहीं कर सकता है। मनःसंयमकेलिये शरीरको निश्चल करनेकी आवश्यकता अवश्यही होती है। सुतरां बिना आसन दृढ़ किये मनोजयकारी प्राणायामक्रियाका साफल्य होना असम्भव है। यह प्राणायाम-क्रिया श्वास-प्रश्वासके सुकौशलपूर्ण-साधनसे सिद्ध हो सकती है इसका विस्तारित विवरण अगले सूत्रोंमें किया जायगा ॥४९॥

प्राणायामका विशेषरूप वर्णन किया जाता है—

वह प्राणायाम देश काल और संख्याओंसे अव-धारित होकर बाह्यवृत्ति अर्थात् रेचक, आभ्यन्त-रवृत्ति अर्थात् पूरक और स्तम्भवृत्ति अर्थात् कुम्भकके साथ दीर्घ और सूक्ष्म-रूपसे होता है ॥ ५० ॥

पूरक अर्थात् श्वास लेना आभ्यन्तरवृत्ति है और रेचक अर्थात् प्रश्वास फेंकना बाह्यवृत्ति है, इन दोनोंका नाम पूर्व सूत्रमें आचुका है, जहाँ श्वास और प्रश्वास दोनों न हों वहीं भीतरकी स्तम्भवृत्ति कुम्भक कहाती है। रेचक, पूरक और कुम्भक-क्रियाओंद्वारा प्राणायाम साधन होता है, परन्तु लक्ष्य कुम्भकपर ही रहता है, अर्थात् प्राणवायु जितनी ठहर जायगी उतनी ही प्राणायामकी सिद्धि होगी। प्राणायाम-साधनमें शरीरके विशेष विशेष स्थानोंमें स्तम्भनकी विधि है, इस कारण प्राणा-याममें देश है, रेचक, पूरक और कुम्भकमें समयका भेद भी रक्खा गया है, इस कारण प्राणायाममें काल है, और संख्याद्वारा प्राणायाम-साधन-अभ्यासकी नियम-रक्षा की जाती है, इस कारण

बाह्याऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

प्राणायाममें संख्या भी है, इस प्रकार देश, काल और संख्याकी सहायतासे कुम्भक अभ्यास करता हुआ साधक प्राणायाम सिद्ध कर सकता है। पहले पहल प्राणायामका विस्तार दीर्घ रहता है अर्थात् प्राणवायु वेगसे चलता रहता है, पुनः जितना कुम्भक अभ्यास होता जाता है उतनी ही प्राणवायुकी गति मन्द होकर सूक्ष्म होती जाती है, और जितनी उसकी गति सूक्ष्म होती जाती है, उतनी ही अन्तःकरणकी वृत्तियाँ स्तम्भित होती जाती हैं। प्राणायामकी परावस्थाका अगले सूत्रमें प्रकाश किया जायगा ॥ ५० ॥

तथा च—

बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका जिसमें त्याग हो वह चतुर्थ अवस्था है ॥ ५१ ॥

जितने प्रकारकी प्राणायाम-क्रिया हुआ करती हैं उन सबोंकी गति, चार भागमें विभक्त कर सकते हैं; अर्थात् रेचककी गति, पूरककी गति, कुम्भककी गति और चौथी इन तीनोंके विचारसे रहित गति। योगशास्त्रके नाना ग्रन्थोंमें आठ प्रकारके प्राणायाम-की क्रियाएँ पायी जाती हैं; उनके नाम सहित, सूर्य्यभेदी, भ्रामरी, शीतली, भस्त्रिका, उज्जायी, मूर्छा और केवली हैं। इनमेंसे सबों की गति इन तीनों सूत्रकथित उपायपर है; अर्थात् किसीमें रेचक-पूरकके नियमबद्ध करनेकी विधि है, किसी किसीमें कुम्भक ही पर अधिक विचार है और किसी किसी साधनमें कुम्भककी परावस्थामें पहुँचकर रेचक पूरक और कुम्भकसे उपराम होकर शान्ति अवस्था प्राप्त करनेपर लक्ष्य है। प्राणायामका कुछ विषय प्रथमपादमें भी आचुका है और इसका विस्तारित ज्ञान शब्द-

---

बाह्याऽभ्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया-सिद्धांश श्रीगुरुदेवके क्रिया-उपदेशसे ही प्राप्त हो सकता है। इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि रेचक, पूरक और कुम्भकरूपी प्राणवायुकी सुकौशलपूर्ण क्रिया करते-करते जब प्राण और अपानकी क्रिया रोध हो जाती हैं तो उस समय साधकका अन्तःकरण ठहर कर बाह्य और आभ्यन्तरके विषयोंसे शून्य हो जाता है। प्राणायामकी यह पूर्णावस्था और रेचक पूरक कुम्भककी यह परावस्था ही इस सूत्र-कथित प्राणायाम की चतुर्थावस्था है॥ ५१॥

अब प्राणायाम साधनका फल बताया जाता है—

प्राणायाम-सिद्धिसे ज्ञानके आवरणरूप मलका नाशहो जाता है॥ ५२॥

पूर्वसूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार प्राणायामका विस्तारित विवरण करके अब उसकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है सो कह रहे हैं। अन्तःकरणकी चंचलता ही ज्ञानका आवरण करनेवाली मलरूपा है, अर्थात् बुद्धि जितनी चंचल रहेगी उतना ही उसमें चैतन्यरूपी ज्ञानका प्रकाश कम होगा और तमका प्रकाश बढ़ जायगा, परन्तु अन्तःकरण जितना ठहर जायगा उतनी ही बुद्धि अपने रूपको प्राप्त होती जायगी; इस प्रकार यदि अन्तः-करणमें वृत्ति न उठनेसे अन्तःकरण एक बार ही शान्त हो जायगा तो अवश्य ही बुद्धिपरका तमरूपी मल दूर होकर बुद्धि अपनी पूर्णताको प्राप्त हो जायगी। पूर्व सूत्रोंमें मन, वायु और वीर्य्यकी एकताका वर्णन कई स्थानोंपर आचुका है, तो तब प्राणायाम साधनसे प्राण और अपानकी गति रुद्ध होकर प्राणवायु ठहर जाता है, तो मन और वायुका एक सम्बन्ध होनेके कारण अन्तःकरण भी

ततः क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम्॥ ५२॥

ठहर जायगा, और जब अन्तःकरणकी वृत्तियाँ ठहर जायँगी तो स्वतः ही बुद्धिपरका मल दूर होकर बुद्धि पूर्णरूपेण प्रकाशित होने लगेगी ॥ ५२ ॥

फलान्तरका वर्णन किया जाता है—

तब धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है ॥५३॥

पूर्व-लिखितरूपसे जब प्राणायाम-साधनद्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब योगीके मनकी शक्तिकी वृद्धि होनेके कारण क्रमशः धारणा अर्थात् मन एकाग्र करनेकी शक्ति बढ़ जाती है। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि प्राणायाम-साधनसे पहले योगी केवल बहिर्जगत्‌में ही रहता है, परन्तु प्राणायाम-साधनमें योग्यता प्राप्त करनेसे तब वह मन-राज्यरूपी अन्तर्जगतमें अधिकार स्थापन कर सकता है। इस सूत्रका यह भी तात्पर्य है कि प्राणायाम भूमिके अनन्तर प्रत्याहार-भूमि होनेपर भी प्राणायाम केवल प्रत्याहारही का सहायक नहीं बनता है परन्तु मनको योग्य बनाकर धारणाका भी सहायक बना देता है ॥ ५३ ॥

अब क्रमप्राप्त पञ्चमाङ्गरूप प्रत्याहारका वर्णन किया जाता है—

इन्द्रियगण अपने-अपने विषयको त्याग करके चित्तके स्वरूपका जब अनुकरण करें तबही वह प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार प्रत्याहार अर्थात् पंचम योग-अंकका वर्णन कर रहे हैं। तन्मात्राकी शक्तिद्वारा जब मन इन्द्रियोंसे लगकर इन्द्रिय-द्वारा विषयको ग्रहण करके विषयवत् हो जाता है तब ही अन्तःकरण फँस जाता हैं। परन्तु जब ऐसी क्रिया

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

की जाय कि इन्द्रियगण विषयमें नहीं मिलें परन्तु विषयसे पृथक् होकर बुद्धितत्त्वका अनुमान करें तो उस अवस्थाका नाम प्रत्याहार कहावेगा। कछुआ जब कोई क्रिया करता है तब वह अपने हाथ-पैरोंको उदरसे बाहर निकालकर काम करता है, परन्तु जब वह काम करना नहीं चाहता तब वह अपने हाथ-पैरोंको सिकोड़ लेता है; उसी प्रकार इन्द्रियगणको विषयोंसे समेट कर अन्तः-करणके शुद्ध स्वरूपकी ओर चलानेका नाम प्रत्याहार है, जैसे प्राणा-याम-साधनकी बहुतसी क्रियाएँ हैं वैसे ही प्रत्याहार-साधनकी भी नाना-क्रियाएँ हैं; परन्तु वे क्रियासिद्धांश होनेके कारण श्रीगुरुदेव द्वारा ही उपदेश पानेके योग्य हैं। जिस प्रकार रानी मक्षिका (शहदकी रानी मक्खी) के अधीन और सब मक्षिकाएँ रहती हैं, अर्थात् वह जिधरको जाती है और कीट भी उधर ही उड़ भागते हैं; उसी प्रकार अन्तःकरण अर्थात् मन जिधरको चलता है उधर ही इन्द्रियाँ भी चलकर विषयमें लग जाती हैं। प्रत्याहार मनोराज्यका साधन है और सुकौशलपूर्ण-प्रत्याहारकी क्रियाओंसे मनका तन्मात्राओंद्वारा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध छूट जानेके कारण इन्द्रियों अन्तःकरणमें लय होकर स्थिर हो रहती हैं, यही प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारसाधनका फल बताया जाता है :—

प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वश हो जाती हैं ॥५५॥

अब इस सूत्र-द्वारा प्रत्याहारकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजानेसे जो अतिउत्तम फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। शब्दादि विषयोंमें पूर्णरूपेण विरक्ति हो जानेसे, अर्थात् विषयोंसे एकबार ही मुख फेर लेनेसे इन्द्रिय-जय कहाता है। परन्तु अनादि-

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

कालसे विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेके कारण विषयसे इन्द्रियोंका अपने-आप मुख मोड़ना असम्भव है, और इस कारण ही इन्द्रियोंकी यह स्वभावसिद्ध-विषयवती-शक्ति ही व्यसन कहाती है, इन्द्रियगणका यह व्यसन तब ही दूर हो सकता है जब इन्द्रियोंकी ऐसी पुरुषार्थहीन अवस्था कर दी जाय कि वे चलायमान ही न हो सकें। मन जब तन्मात्राओंको उत्तेजनाके कारण इन्द्रियोंसे आकर मिलता है तब ही इन्द्रियाँ अपने आपेसे बाहिर हो जाती हैं, परन्तु जब प्रत्याहार-साधनसे अन्तःकरण इतना वशीभूत हो जाता है कि वह पूर्णरूपेण वैराग्य उत्पन्न होनेके कारण विषयभोगके निमित्तसे इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध स्थापन करना ही नहीं चाहता; तब अपने आपही इन्द्रियाँ पुरुषार्थहीन होजाती हैं। यही प्रत्याहार-साधनकी पूर्णावस्था है। इस ही अवस्थामें यदि इन्द्रियोंका सम्बन्ध भी विषयोंसे हो जाता हो तो वे भी पुरुषार्थहीन होनेके कारण आसक्त होकर पूर्वरूपसे उन विषयोंमें नहीं लग सकतीं, अर्थात् विषयगण पूर्व अवस्थामें जैसे उनको मोहित कर लिया करते थे वैसा अब नहीं कर सकते। इस प्रकार प्रत्याहारसाधनकी सिद्धावस्थामें साधक विषयसे एकबार ही मुख फेर कर पूर्णरूपेण जितेन्द्रिय हो जाता है॥ ५५॥

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्यप्रवचन सम्बन्धीय योगशास्त्रके साधनपादके संस्कृतभाष्यका भाषानुवाद समाप्त हुआ।



इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधनपादः समाप्तः।

विभूतिपादः

—:०:—

प्रथमपादमें योग क्या वस्तु है सो कहा गया है। द्वितीयपाद में योगसाधन, उसके अवान्तर भेद तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका वर्णन किया गया है। अब इस पादमें उसका फलाफल वर्णन किया जाता है। योगरूपी महान् कल्पतरु यमनियमादिद्वाराप्राप्त बीज, आसनप्राणायामादिद्वारा अङ्कुरित तथा प्रत्याहारादिद्वारा कुसुमित होकर अब धारणाध्यानादिद्वारा सुमधुर शाश्वत फल प्रसव करेगा। इसलिये पूर्वपादमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार साधनका वर्णन करके अब क्रमप्राप्त धारणाङ्गका वर्णन किया जाता है—

अन्तर्जगत्के विशेष विशेष स्थानोंमें चित्तका स्थिर करना धारणा कहलाता है ॥ १ ॥

द्वितीयपादमें अन्तःशुद्धि, क्लेशोंका दूर करना, और योगाङ्गके पाँच अङ्गोंका वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार तृतीयपाद आरम्भ करते हैं, और इस सूत्रद्वारा योगके छठे अङ्ग धारणाका वर्णन कर रहे हैं। जब पूर्व साधनोंसे बहिर्जगत्को जीतकर साधक अन्तर्जगत्में प्रत्याहार-साधनद्वारा पहुँच जाता है तब ही वह अन्तर्जगत्में भ्रमण करनेके योग्य हो जाता है। अन्तर्जगत्के विशेष-विशेष स्थानोंमें अधिकार जमानेको धारणा कहते हैं; जिस प्रकार प्राणायाम आदिके बहुप्रकारके साधन हैं उसी प्रकार धारणा

देशबंधश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

अङ्गके भी बहुप्रकारके नियम हैं जो श्रीगुरुदेवसे ही प्राप्त हो सकते हैं। धारणा भी दो प्रकारकी है, यथा—स्थूल-धारणा और सूक्ष्म-धारणा; नाभिआदि शारीरिक स्थानोंमें जो धारणा की जाती है वह स्थूल अर्थात् एक प्रकारको है, और पञ्चसूक्ष्म महाभूतोंमें जो धारणा की जाती है वह सूक्ष्म अर्थात् दूसरे प्रकारकी धारणा है। इसी प्रकार बाह्य और अन्तरभेदसे भी इसके और दो भेद हैं; अर्थात् पूर्वलिखित दो प्रकारकी धारणा तो अन्तर्धारणा कहाती है, और प्रथम अधिकारियोंकेलिए जो बाहरसे धारणाका अभ्यास किया जाता है उसे बाह्यधारणा कहते हैं। धारणाकी क्रियामें सफलकाम होनेसे योगीके लिये पुनः बार-बार प्रत्याहार करनेकी आवश्यकता नहीं होती। वह तब बहिर्जगत्से उपराम हो अन्तर्जगत्में ही अपने अन्तःकरणको ठहरा रखनेमें समर्थ होता है। योगीकी धारणाकी अवस्थामें उसकी समाधिके पथमें कोई भी बहिर्विषय बाधा नहीं डाल सकता। यह धारणा-साधन ही समाधिमें जानेका प्रथम द्वार है ॥ १ ॥

क्रमप्राप्त ध्यानका वर्णन किया जाता है—

वहाँ ध्येयाकार चित्तवृत्तिकी स्थिरतासे ध्यानकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

अब महर्षि सूत्रकार योग - अंगके सप्तम अंग ध्यानका वर्णन कर रहे हैं। धारणासे धारण किये हुए स्थानोंमें धारणाक्रिया-साधनके अन्तमें धारणामेंकी ध्येय-वस्तुके साथ जो मनकी एकता है उसे ध्यान कहते हैं, अर्थात् उन-उन स्थानोंमें ध्येयके अवलम्बन-से उसके ज्ञानमें लय होकर अनुपम ज्ञानको प्राप्त करके उसी ज्ञानमें स्थायी सम्बन्ध रखनेका नाम ध्यान है। जिस प्रकार पूर्व

तत्र प्रत्ययकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

साधनोंके नाना प्रकारके भेद हैं उसी प्रकार ध्यानके भी हैं और वे श्रीगुरु-मुखसे ही प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार योगसाधन-मार्गके चार भेद हैं जिनका कि पूर्वमें वर्णन आचुका है, उसी प्रकार ध्यानके भी चार भेद हैं; यथा—स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, बिन्दु-ध्यान और ब्रह्मध्यान। ध्यानके विज्ञानको इस प्रकारसे समझ सकते हैं कि जब योगी स्थूलध्यान करते समय अपने इष्टदेवकी मनोमयी सर्वाङ्गसुन्दर स्थूलमूर्त्तिको अपने हृदयपटमें देखता है तो प्रथम उस मूर्त्तिकी धारणा क्रमशः अपने अन्तःकरणमें उत्पन्न करता है। तदनन्तर उसी धारणासे जब ध्येयाकार वृत्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसीको ध्यान कहते हैं। ज्योतिर्मय ज्योतिर्ध्यान और बिन्दुमय बिन्दुध्यानके भी सगुण होनेसे उनमें भी यही शैली रहती है। परन्तु ब्रह्मध्यानका उदय कुछ विचित्र ही है। सर्वोत्तम ब्रह्मध्यान करते समय प्रथम योगिराज सच्चिदानन्दमय भावत्रयद्वारा अपने अन्तःकरणको ब्रह्मधारणासे युक्त करता है, तदनन्तर त्रिभावमय ब्रह्मधारणासे युक्त अन्तःकरण त्रिभावके अवलम्बनसे लय होकर त्रिभावमय ब्रह्मस्वरूपके ध्यानमें समर्थ होता है। यह ध्यान-साधन ही समाधिमें जानेका दूसरा द्वार है, अर्थात् ध्यान-साधनके सिद्ध होजानेसे समाधिकी भूमि प्राप्त होती है ॥ २ ॥

अब अन्तिम अंग समाधिका वर्णन किया जाता है—

वही ध्यान जब ध्येयमात्र-स्फूर्त्तियुक्त हो और ध्यान स्वरूप-शून्य सा प्रतीत होने लगे तब उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

अब योगके शेष लक्ष्य अष्टांगयोगके शेष अंग समाधिका

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

वर्णन हो रहा है। जब तक ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्यान अर्थात् ध्यान करनेको शक्ति और ध्येय अर्थात् जिसका ध्यान किया जाता है वह वस्तु, ये तीनों ही अलग-अलग प्रतीत हों तब तक वह अवस्था ध्यान कहाती है; परन्तु जब यह तीनों अवस्थाएँ मिट जायँ अर्थात् इन तीनोंकी स्वतन्त्र सत्ता न रहे तभी वह समाधि कहावेगी। इस समाधिकी प्रथम अवस्था और संप्रज्ञात-योग जिसका वर्णन पूर्वमें आचुका है, इन दोनों अवस्थाओंमें इतना ही भेद है कि समाधिमें चिन्ता विनष्ट हो जानेसे ध्येयका स्वरूप ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं होता, परन्तु सम्प्रज्ञातयोग-अवस्थामें (जो अवस्था कि इस समाधिकी प्रथम अवस्थाके पश्चात् होती है) साक्षात्कारका उदय होनेसे समाधिकी अवस्थाके अगम्य विषय भी प्रतीत होने लगते हैं। साक्षात्कारसे युक्त एकाग्र-अवस्थामें वह सम्प्रज्ञात-योग अर्थात् सविकल्प समाधि हुआ करती है; इस प्रकारसे इस समाधि अवस्थाके तीन विभाग हो सकते हैं, यथा—प्रथम साधारण-समाधि-अवस्था, दूसरी सविकल्प-समाधि-अवस्था, और तीसरी निर्विकल्प-समाधि-अवस्था, जिसमें कि कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है; ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरेके अनन्तर हुआ करती हैं। समाधिकी प्रथम अवस्था जिसका कि इस सूत्रमें वर्णन हो रहा है तब ही हुआ करती है जब ध्यानरूपी स्वतन्त्र-वृत्ति ध्येयके रूपमें प्रतीत होने लगती है; अर्थात् ध्यानका स्वरूप उस समय नहीं प्रतीत होता; ध्यातामें ध्येय-स्वभावका आवेश हो जाना ही समाधिकी प्रथम अवस्था है; इसी भूमिको प्रथम साधक प्राप्त करके तब आगेकी भूमियोंमें अग्रसर होता है। साधारण समाधि सब व्यक्तियोंको हो सकती है। कोई कवि जब काव्य-भावमें भावित होकर कविता करनेमें प्रवृत्त होता है तो उस समय कभी-कभी वह अपनेसे अगम्य विषयोंको भी लिख

डालता है। योगी जब किसीके चित्तमें संयम करता है, जिस संयमके लक्षणका आगेके सूत्रमें वर्णन है तो उस समय संयममें इस प्रथम समाधिकेद्वारा ही योगी दूसरेके अन्तःकरणको देख लेता है। सब प्रकारकी योग-सिद्धियोंमें इसी दशाकी समाधि काम देती है। सगुण उपासनाके सब प्रकारके ध्यानकी प्रणाली द्वारा महाभाव प्राप्त करके अथवा हठयोगकी वायुनिरोध-प्रणाली द्वारा महाबोध प्राप्त करके अथवा लययोग-प्रणालीके नाद-बिन्दुके एकीकरण द्वारा महालय प्राप्त करके जो समाधि की जाती है, वे सब सविकल्प समाधियाँ हैं। और ज्ञानमय राजयोगकी सहायता-से आत्मज्ञानकी उपलब्धिसे जो विकल्पशून्य समाधि होती है उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। पहली समाधि केवल संयम-मूलक है और दूसरी तथा तीसरी समाधि एकतत्त्व-मूलक है। प्रथममें समाधि होती है परन्तु उसका अनुभव अपनेको नहीं होता है। समाधिसे केवल कार्य निकलता है। दूसरी दशामें समाधि अनुभूत होती है; परन्तु वह विकल्पशून्य और चिरस्थायी नहीं होती और तीसरी समाधि विकल्प-रहित और चिरस्थायी होकर अद्वैतदशाको उत्पन्न करती है। यहाँ सूत्रकार केवल प्रथमश्रेणीकी दशाको समझानेकेलिये ही समाधिका इस प्रकार लक्षण वर्णन करते हैं॥ ३॥

अब इन तीनोंके एक साथ प्रयोगका फल बताया जाता है—

उन तीनोंका एकमें मिलित होना ही संयम कहाता है॥ ४॥

पूर्वकथित धारणा, ध्यान और समाधि (साधारण समाधि) इन तीनोंको एक करनेसे संयम कहाता है, अर्थात् जब किसी

त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥

एक विषयमें इन तीनों अङ्गोंका एकत्र समावेश किया जाय तब वह अवस्था संयमकी हो जावेगी। एकतत्त्वका वर्णन पहले ही कर चुके और उस समय एकतत्त्वके साथ समाधिका सम्बन्ध भी दिखा चुके। अब संयमका स्वरूप बताकर समाधिके साथ संयमके सम्बन्धका रहस्य दिखाया जाता है। एकतत्त्वाभ्याससे द्वैतभान नष्ट हो जानेके कारण सविकल्प समाधिभूमिसे तुरन्त ही निर्विकल्प समाधिभूमिमें पहुँच कर अद्वैत आत्मस्वरूपकी उपलब्धिका सहज ही अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि एकतत्त्वद्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तब अन्तःकरण द्वैतभावशून्य हो जाता है परन्तु संयमसे सम्बन्धरखनेवाली जा साधारण समाधि है उसमें विषयकी धारणा रहती है, ध्येयका ध्यान रहता है और तो भी समाधि की जाती है। वैसा न हो तो अलौकिक योगसिद्धि-समूह कैसे प्राप्त हो सकते? इस कारण यह समाधि द्वैतभावसे पूर्ण होती है। उस गहन विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं। यथा—स्मृतिशास्त्रमें :—

संयमश्चैकतत्त्वञ्च शक्तिद्वयमलौकिकम्।
पुरो वो वर्णितं देवाः! मया सम्यक्तयाऽनघाः॥
जायते संयमस्तत्र धारणा-भूमितो ध्रुवम्।
ध्यान-भूम्यास्तु भो देवाः! एकतत्त्वं प्रजायते॥
त्रयं हि धारणाध्यानसमाधीति क्रियात्मकम्।
दृश्याश्रयात्प्रयुक्तं सन्निर्ज्जराः! संयमो भवेत्।
यदा त्वात्मानमुद्दिश्य त्रयमेतत्प्रयुज्यते।
एकतत्त्वं तदोदेति ह्येषा वैदान्तिकी श्रुतिः॥

हे निष्पाप देवतागण! मैंने जो संयम और एकतत्त्वरूपी अलौकिक दो शक्तियोंका वर्णन किया है हे देवगण! उनमें संयम धारणा-भूमिसे और एकतत्त्व ध्यानभूमिसे निश्चय प्रकट होता

है। धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों क्रियाएँ जब इस दृश्यके अवलम्बनसे प्रयुक्त होती हैं तब उनको संयम कहते हैं जब केवल आत्माके लक्ष्यसे प्रयुक्त होती हैं तब एकतत्त्वका उदय होता है, यही उपनिषद्‌का रहस्य है। एकतत्त्वमूलक समाधि चाहे सविकल्प हो या निर्विकल्प, उसमें धारणाभूमि और ध्यानभूमि-का कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि एकतत्त्व ध्यानभूमिके अन्तमें उत्पन्न होता है; परन्तु संयमके साथ धारणाका सम्बन्ध रहनेसे संयमकी क्रिया धारणभूमिसे प्रकट होती है और क्रमशः ध्यानभूमि तथा समाधिभूमिके साथ धारणाभूमि, इन तीनोंको मिलाकर एकसाथही तीनोंमें से अपनी क्रियाको पूर्णबलसे युक्त करके फलको उत्पन्न करती है। संयम क्यों किया जाता है और उन तीनोंके एकत्र अभ्यासरूप संयमक्रियासे कैसे-कैसे दिव्य फलोंकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन महर्षि सूत्रकार आगे के सूत्रोंमें करेंगे ॥ ४ ॥

संयमाभ्यासका फल कहा जाता है—

उसके जयसे प्रज्ञाका प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

पूर्वसूत्र-कथित संयमके साधनसे अर्थात् जब संयमका पूर्ण-रूपेण अभ्यास होजाता है तब समाधिविषयक बुद्धिका प्रकाश होता है। जितना जितना संयम स्थिर होता जाता है उतनी ही पूर्णज्ञानमय-परमात्माकी कृपासे समाधि-विषयिणी दिव्य-बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेषमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। समाधि-विषयिणी बुद्धिसे तात्पर्य्य यह है कि वह भ्रमहीन-बुद्धि जो योगसिद्धियोंमें कार्यकारिणी होती है सो संयम-सिद्धिसे ही उदय होती है ॥ ५ ॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

अब संयमकी प्रयोगविधि बताई जाती है :—

योगकी भूमियोंमें संयमका प्रयोग होता है ॥ ६ ॥

जैसे मनुष्य दो खंडयुक्त अट्टालिकाके दूसरे खंडमें तब तक नहीं पहुँच सकता जबतक कि प्रथम खंडको प्राप्त न कर लेवे; अर्थात् प्रथम वह नीचेसे प्रथम खंडमें चढ़ेगा और तत्पश्चात् प्रथम खंडसे चढ़ता हुआ दूसरे खंडमें पहुँच सकता है; वैसे ही पूर्वोक्त रूपसे संयमद्वारा प्रथम भूमिको जीत कर तत्पश्चात् योगी योगकी दूसरी उत्तम भूमिमें पहुँच सकेगा। इस प्रकार योगी जब भगवत्-कृपासे नीचेकी भूमिसे उच्चतर भूमिमें पहुँच जाता है तब वह नीचेकी भूमिमें आता ही नहीं, क्योंकि उन विषयोंको स्वयं ही जानता है। इससे यही तात्पर्य है कि योगावस्था-में योगसे ही योगकी प्राप्ति होती है; अर्थात् उन्नत-भूमिमें भगवत्-प्रकाश-रूप समाधि-ज्ञान ही संयमक्रियासे युक्त होकर एक अवस्था से साधकको दूसरी अवस्थामें पहुँचा देता है। संक्षेप यह है कि संयमक्रियाका प्रयोगस्थान केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन भूमियोंमें ही है और संयमक्रिया धारणाभूमिमें विषय-धारणासे प्रकट होकर विषयाकारवृत्तिसे ध्यानभूमिमें पहुँच कर समाधिभूमिमें जा सिद्धिको लाभ करती है। फलसिद्धिके लिये संयमक्रिया धारणाभूमिमें अंकुररूपसे प्रकट होकर समाधिभूमिमें सिद्धिरूप फल प्रसव करती है ॥ ६ ॥

अष्टाङ्गोंमेंसे इन तीनोंकी विशेषता बतायी जाती है—

पहले वालोंसे यह तीनों अन्तरंग हैं ॥ ७ ॥

केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों अङ्गोंको ही क्यों

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥

इस विभूति नामक तीसरे पादमें लिया गया है ? इसके विचारसे महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि यद्यपि योगसाधनके आठ अङ्ग हैं, इस कारण उनकी आठ क्रियाभूमियोंका होना भी स्वतः सिद्ध है। उन आठ योगभूमियोंमेंसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये सब बहिर्जगत्को जय करनेके अर्थ ही हैं। अन्तर्जगत्के साथ इन पांचोंका कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है क्योंकि प्रत्याहारद्वारा बहिर्जगत्को भूल कर अन्तर्जगत्में योगी पहुँचा करता है। अतः प्रथम पांच योगभूमि अन्तर्जगत्की किसी क्रियामें साक्षात्रूपसे नहीं काम आती हैं। धारणा, ध्यान और समाधिकी जो तीन भूमियाँ हैं, ये ही अन्तर्जगत्की भूमियाँ हैं। इन्हींका सम्बन्ध संयम-क्रियाके साथ दिखाया जाता है और यह सिद्ध किया जाता है कि संयमक्रियाका विस्तार धारणा, ध्यान और समाधिभूमि पर्यन्त है। योगके आठों अंगोंमेंसे प्रथम पाँच अङ्गोंके साथ बहिर्जगत्का इस प्रकार अधिक सम्बन्ध रहनेके कारण इनको द्वितीयपादमें लिखा गया था; परन्तु धारणा, ध्यान, और समाधिरूप जो तीन साधन हैं ये अन्तर्जगत्से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, इस कारण ही इनको अन्तरंग साधन समझकर सम्प्रज्ञात-साधनरूप विभूतिपादमें रक्खा गया है। इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि योगके प्रथम पांच अंग तो बहिरंग साधनके हैं और पिछले तीन अंग अन्तरंगरूपी सम्प्रज्ञात-योगसाधनके हैं ॥७॥

असंप्रज्ञात समाधिके साथ इनका सम्बन्ध कहा जाता है—

वह भी निर्बीज अवस्थाका बहिरंग है ॥ ८ ॥

जिस प्रकार प्रथम योगके पाँच अङ्गोंकी भूमियां बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेके कारण अन्तर्जगत्के धारणा, ध्यान समाधिरूपी

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥८॥

तीन अंगोंकी भूमियोंकी बहिरंग हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधिरूपी संयमक्रियासे की हुई सम्प्रज्ञात-योग-अवस्था निर्बीज रूपी असम्प्रज्ञात-योग अवस्थाकी बहिरङ्ग हैं। सम्प्रज्ञात-योग अर्थात् सविकल्प समाधिमें ध्याता, ध्येय और ध्यानका बोध रहता है और कुछ न कुछ अवलम्बन भी रहता है इस कारण उसमें प्रकृतिका बीज बना रहता है, परन्तु असम्प्रज्ञात-योगरूपी निर्विकल्प-समाधि बीजका नाम तक नहीं रहता; इस समाधिके निर्बीज होनेके कारण ही सम्प्रज्ञातरूपी सबीज-समाधि इसका बहिरंग है। इसी कारण स्मृतियोंमें कहा है :—

प्रोद्बोधयति जीवेषु नानाशक्तिर्हि संयमः।
ऐशीर्नैवाऽत्र सन्देहो नाऽलं मोचयितुं त्वसौ ॥
अविद्यापाशसन्नद्धाञ्जीवांस्तान्पाशबन्धनात्।
एकतत्त्वन्तु शक्नोति भक्तान् दृश्यप्रपञ्चतः ॥
हठादाकृष्य तेभ्यो हि शिवत्वं दातुमद्भुतम्।
साधनं संयमोपेतं योगस्याऽभ्युदयप्रदम् ॥
केवलं त्वेकतत्त्वस्य साहाय्यात् साध्यते तु यत्।
साधनं तद्धि योगस्य निःश्रेयसकरं ध्रुवम् ॥
एतदेवास्ति योगस्य रहस्यं श्रुतिमूलकम्।
योगस्य साधनानां हि तत्त्वज्ञानप्रकाशकम् ॥

संयम अनन्त ऐशीशक्तियोंको जीवोंमें प्रकट करता है; परन्तु पाशबद्ध जीवोंको पाशमुक्त नहीं कर सकता है और एकतत्त्व मेरे भक्तोंको दृश्यप्रपञ्चसे हटा कर उनको अद्भुत शिवत्वप्रदान करनेमें समर्थ है। संयमसे युक्त योगसाधन अभ्युदयकारी और केवल एकतत्त्वकी सहायतासे साधित योग ही निःश्रेयसकारी हो सकता है। यही श्रुतिमूलक और साधकोंके लिये योगके-तत्त्वोंको प्रकाश करनेवाला योगका रहस्य है। इस सूत्रका तात्पर्य

यह है कि संयमक्रियाका फल सम्प्रज्ञात-समाधिसे ही सम्बन्ध रखता है, निर्बीज निर्विकल्प समाधिसे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मोक्षरूपो परासिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है; परन्तु सकल प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना अपरासिद्धियां सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं और वे सब अवस्थाएँ निर्बीज समाधिका बहिरंग हैं इसको मुमुक्षु योगीको सदा स्मरण रखना उचित है॥ ८॥

अब निर्बीज समाधिके अन्तरंगरूप निरोधपरिणामका वर्णन किया जाता है—

व्युत्थान संस्कारोंका जो लय होना है और निरोध संस्कारोंका जो प्रकट होना है तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे निरोध-परिणाम कहते हैं॥ ९॥

जिस समय अन्तःकरण अपने स्वाभाविक गुणोंसे अथवा अपने अभ्यास तथा संस्कारके वश हो नाचता रहा है तब वह दशा व्युत्थान-संस्कारकी कहाती है और जब अन्तःकरणकी वह स्वाभाविक चञ्चलता एकतत्त्वाभ्यासद्वारा जाती रहती है तब वह अवस्था निरुद्ध-संस्कारकी कहाती है। जिस समय अन्तःकरणमें व्युत्थान-अवस्था होती है उस समय निरोध-अवस्था लयको प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार जब अन्तःकरणोंमें निरुद्ध-संस्कारका उदय होता हैं तो उसके साथ ही व्युत्थान-संस्कारका लय हो जाता है। इसही ठहरे हुए अन्तःकरणमें जो कुछ सूक्ष्मरूपेण परिणामी-अवस्थाएँ रहती हैं उन्हीं अवस्थाओंका नाम निरोध-परिणाम हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥

इस अवस्थासे तात्पर्य यह हैं कि जब अन्तःकरण चञ्चलरूप व्युत्थान-संस्कारसे अचञ्चलरूप निरोध-संस्कारमें परिणत होता है तब उसके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्तियाँ निरुद्ध तो हो गयी हों परन्तु बीजरूपेण अभी कुछ कुछ उपस्थित हों; इस प्रकार कारण-रूपेण सबीज-अवस्थाको निरोध-परिणाम कहते हैं; अर्थात् जब अन्तःकरणमें व्युत्थान संस्कार लय होते हैं और निरोध-संस्कार प्रकट होते हैं, तब अन्तः करण दोनों संस्कारोंसे युक्त होनेपर भी निरोधरूप ही प्रतीत होता है, अन्तःकरणकी इस दशाको निरोध-परिणाम कहते हैं। इस निरोध-परिणामकी दशामें ही रहकर निर्बीज समाधिमें स्थित जीवन्मुक्त योगिराज प्रारब्धभोग करते हैं। उस समय एकतत्त्वकी सिद्धिद्वारा ऋतम्भराके उदयसे ज्ञानाग्निकी सहायतासे सञ्चित और क्रियमाणसंस्कार उनके नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् सञ्चितका सम्बन्ध छूट जाता है और क्रियमाणका संस्कार संग्रह नहीं होता है। केवल निरोधपरिणामके द्वारा आये हुए जो कुछ शरीरजनक संस्कार अन्तःकरणमें रहते हैं उन्हींका फलरूपी कार्य होता रहता है ॥ ९ ॥

निरोधपरिणामका फल कहा जाता है—

निरोध संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है ॥ १० ॥

निरोध-संस्कारावस्थामें जीवन्मुक्त योगिराजको न पिछली बातोंपर आसक्ति रहती है और न आगेके विषयोंकी वासना रहती है; क्योंकि आत्मज्ञानद्वारा आसक्ति दूर होनेसे पूर्वका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और वासनाक्षयद्वारा भविष्यत्‌की इच्छा नष्ट हो जाती है। उस समय उस निर्विकल्प समाधिस्थित

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात ॥ १० ॥

योगिराजकेद्वारा केवल निरोधपरिणामद्वारा क्रमप्राप्त शरीरके प्रारब्धभोगजन्य कुछ संस्कार कार्य करते रहते हैं। वैसी सर्वोत्तम ज्ञानरूप ऋतम्भराकी दशामें रजोगुण और तमोगुणका सम्पूर्ण-रूपेण लय हो जाता है इस कारण उनके अन्तःकरणमें निरन्तर ज्ञान और परमानन्दपूर्ण शान्तिकी मन्दाकिनी अविच्छिन्न धारामें प्रवाहित होती रहती है ॥ १० ॥

असंप्रज्ञातकालमें होनेवाले निरोधपरिणामका स्वरूप कहकर अब संप्रज्ञातकालमें होनेवाले समाधिपरिणामका वर्णन किया जाता है :—

सर्वार्थताका क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है ॥ ११ ॥

संयमका लक्षण और उसकी उपयोगिता कहनेके अनन्तर निर्बीज समाधिमें पहुँचनेके अर्थ निरोधपरिणाम और उसके फलका वर्णन महर्षि सूत्रकारने मुमुक्षुयोगीके लक्ष्य स्थिर रखनेके लिये कह कर अब पुनः सबीज समाधिमें संयमकी सहायतासे पाने योग्य समाधिपरिणामका वर्णन करते हैं। नाना विषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है, उसका नाम ही सर्वार्थता है। यह सर्वार्थता भी अन्तःकरणका गुण है और एकाग्रता भी अन्तः-करणका गुण है। सर्वार्थता जिस समय लय होती जाती है उसी समय अन्तःकरणमें एकाग्रताका उदय होता जाता है; इस प्रकार सर्वार्थताकी क्षयावस्था और एकाग्रताकी उदयावस्थाकी प्राप्तिसे अन्तःकरणमें जो परिणामका उदय होता है वही समाधिपरिणाम कहाता है। यह पूर्व ही कह चुके हैं कि उन्नत-भूमिमें प्राप्त हुआ ज्ञान ही साधकको उन्नततर और श्रेष्ठभूमिमें स्वतः ही पहुँचा देता

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

है। इस प्रकार एकाग्रताको उन्नतभूमिमें जब अन्तःकरण पहुँच जाता है तब स्वतः ही वह पुनः समाधिभूमिको प्राप्त हो जाता है। उस समय निरोधपरिणामको प्राप्त न होकर वासनाजनित संस्काररूपी बीजके आश्रयसे सविकल्प समाधि दशामें अन्तःकरण-का जो परिणाम होता है उसीको समाधिपरिणाम कहते हैं जो ऐशीसिद्धि प्राप्तिका मूलकारण है ॥ ११ ॥

समाधिपरिणामके द्वारा सिद्धिप्राप्तिके लिये समाधिपरिणामा-नन्तर प्राप्त अन्य परिणामका वर्णन किया जाता है :—

तब शान्त-प्रत्यय और उदित-प्रत्ययकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही एकाग्रता परिणाम है ॥ १२ ॥

एकतत्त्वकी उत्पत्ति ध्यानभूमिसे और संयमकी उत्पत्ति धारणाभूमिसे हुआ करती है। अतः एकतत्त्वकी सहायतासे अन्तःकरण वासनाबीजसे रहित होकर चिरस्थायी निर्बीज निर्विकल्प समाधिकी उत्पत्ति करता है जिससे पूरासिद्धिरूपी कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है, परन्तु धारणाभूमिसे ही वासनाके बीजको साथ लेते हुए संयमक्रिया प्रकट होकर ध्यानभूमिसे समाधिभूमिमें पहुँचकर सिद्धिके वासना बीजको साथ लेते हुए समाधिपरिणामकी सहायतासे एकाग्रतापरिणामके द्वारा ऐशीसिद्धियोंको योगी प्राप्त कर लेता है। वे ही यावत् ऐशीसिद्धियाँ बहुप्रकारकी होती हैं और वे ही अपरासिद्धि कहाती हैं। जिस सिद्धिको सकामयोगी प्राप्त करना चाहता हो उस सिद्धिके स्वरूप और उस सिद्धिके प्राप्त करनेके कौशलकी धारणा-को अन्तःकरणमें रखकर धारणा, ध्यान, समाधिरूपी संयमक्रियाकी

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥१२॥

सहायतासे समाधिशक्तियुक्त होकर योगीका अन्तःकरण एकाग्रतापरिणामसे अपरासिद्धियोंके प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। वह एकाग्रता परिणाम शान्तप्रत्यय और उदितप्रत्यय की तुल्यतासे युक्त होकर होता हैं। एकाग्रतापरिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त होता है, इसी अवस्थाको शान्तप्रत्यय कहते हैं और साथ ही साथ सिद्धिकी इच्छाजनित वासनाबीजके वेगके सिद्धिके उन्मुख उसका अन्तःकरण रहता है, इसी दशाका नाम उदितप्रत्यय है। युगपत् अर्थात् एकही साथ इन दोनों अवस्थाओंको धारण करके एकाग्रतापरिणामकी सहायतासे योगी नाना ऐशीसिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

अब एकाग्रतापरिणामान्तर्गत अन्य परिणामका वर्णन किया जाता है—

इससे स्थूलसूक्ष्म भूत और इन्द्रियोंमें भी धर्म-परिणाम लक्षण-परिणाम और अवस्थापरिणाम वर्णित किये गये ऐसा समझना चाहिये॥ १३॥

पूर्व सूत्रमें जो चित्त अर्थात् अन्तःकरणके-परिणामका वर्णन किया गया है, उससे स्थूलभूत सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें जो तीन प्रकारके परिणाम होते हैं उनको भी समझना उचित है। अन्तःकरणमें व्युत्थान और निरोधरूपीधर्मके तिरोभाव और आविर्भावसे जो परिवर्त्तन होता है उसे धर्म-परिणाम कहते हैं, अर्थात् तब पूर्व-धर्म-निवृत्ति होकर उत्तर-धर्मकी स्थिति हो जाती है। अन्तःकरणका लक्षण-परिणाम तीन प्रकार का होता है; अर्थात्

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

जब अनागत लक्षणका परित्याग करके केवल अतीत-लक्षणका अनुसरण करता है उसे भूतलक्षण-परिणाम कहते हैं, इस भूतलक्षण-परिणाममें अतीतलक्षण-परिणाम अन्यकालके परिणामसे अभिन्न नहीं है क्योंकि वर्त्तमानलक्षण-परिणाम और अनागतलक्षण-परिणामका अंश भी उसमें रहता है; इसी रीतिसे वर्त्तमानलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षणपरिणामको भी समझना उचित है, क्योंकि जब योगीका चित्त समाधि अथवा निरोध दशाको प्राप्त हो जाता है तब यदि पुनः चंचलताको धारण करले तो उसकी तीन प्रकारकी अवस्था कहावेगी अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्त्तमान भेदसे उनका नाम रक्खा जा सकता है और अवस्था परिणाम उसको कहते हैं कि जिस क्षणमें निरोध-संस्कारके उदय होनेसे व्युत्थान-संस्कारका बल क्षीण हो जाता है, वही निरोध-संस्कारमें चलती हुई अवस्था तीसरी अवस्था है। इसप्रकार धर्मी अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पत्ति, स्थिति और लय-क्रियाको धारण करते हुए धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम-रूपी तीन परिणाम हुआ करते हैं। इससे यही समझना उचित है कि इन तीनों परिणामोंसे शून्य अन्तःकरण हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार त्रिगुणमयी प्रकृतिके अधीन होनेसे अन्तःकरणका उल्लिखित त्रिविध परिणाम स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार प्राकृतिक समस्त वस्तुभी त्रिगुणात्मक होनेसे प्रतिक्षण परिणामी है, अतः चित्तमें जिस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्थाभेदसे तीन प्रकार परिणाम हैं उसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म समस्त भूत तथा इन्द्रियोंमें भी धर्मधर्मीभावसे धर्म-लक्षण-अवस्था नामक त्रिविध परिणाम जान लेने चाहिए। यथाः—पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको धर्मपरिणाम कहते हैं क्योंकि इसमें पिण्डाकार धर्मके तिरोभाव-पूर्वक घटाकारभावका प्रादुर्भाव होता है और घटका जो अना-

गतलक्षणके त्यागपूर्वक वर्त्तमानलक्षणवाला होजाना घटरूप धर्मका लक्षणपरिणाम है और वर्त्तमानलक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षणक्षणमें पुरानापन है उसको अवस्था परिणाम कहते हैं। यही भूतोंमें त्रिविध परिणामका दृष्टान्त है। इसी प्रकार इन्द्रियोंमें भी विचार किया जा सकता है। यथा इन्द्रियोंका जो नीलादि विषयोंका आलोचन अर्थात् ज्ञान है वह इन्द्रियोंका धर्मपरिणाम है और नीलादि ज्ञानका जो वर्त्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसका नाम लक्षणपरिणाम है और वर्त्तमानता दशामें जो स्फुटत्व अस्फुटत्व है उसका नाम अवस्थापरिणाम है। इस प्रकारसे अन्तःकरणके पूर्वोल्लिखित त्रिविध परिणामकी तरह स्थूल सूक्ष्म समस्त भूत तथा इन्द्रियोंमें भी धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम नामक त्रिविध परिणाम संघटित हुआ करते हैं। यथार्थ-में परिणाम एकही है, केवल धर्म और धर्मीके भेदसे यह सब प्रपंच होता है अर्थात् धर्म ही रूपान्तरको प्राप्त होजाता है। जैसे सुवर्णमय पात्रको तोड़कर यदि कोई अलंकार अथवा और कोई पदार्थ बनवाना चाहे तो उस बनवाने रूप परिणामसे केवलमात्र उस पदार्थके रूपमें ही परिवर्त्तन देख पड़ेगा, परन्तु सुवर्णके स्वरूपमें कुछ भी भेद नहीं होगा। अब यदि कोई ऐसा सन्देह करे कि एकही व्यक्तिमें भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत लक्षणोंका होना असम्भव है यदि ऐसा हो तो उससे अध्वसङ्करता दोष हो जायगा? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि एक कालमें सब परिणाम नहीं होते, किन्तु यथाक्रमसे हुआ करते हैं, जैसे किसी मनुष्यमें जब राग होता है तब ऐसा नहीं कह सकते कि उस मनुष्यमें क्रोध नहीं है, परन्तु ऐसा देखनेमें आता है कि राग और क्रोध एक समयमें नहीं हुआ करते; जैसे जब कोई कामी पुरुष किसी स्त्रीमें अनुरक्त होता है तब वह और स्त्रियोंमें विरक्त

भी नहीं होता; वैसे ही पूर्वोक्त परिणामोंमें भी संकर-दोष नहीं आ सकता; अर्थात् परिणाम केवल धर्मीके धर्ममें और धर्मके लक्षणमें होता है; द्रव्य परिणाम एक ही रहता है ॥ १३ ॥

अब जिस धर्ममें इतने परिणाम होते हैं उसका लक्षण किया जाता है—

शान्त अर्थात् अतीत, उदित अर्थात् वर्तमान और अव्यपदेश्य अर्थात् भविष्यत् जो धर्म हैं, उनमें अनुपाती अर्थात् अनुगत होनेवाला धर्मी है ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त चित्तके परिणामसे जो कार्यकी अतीत अवस्था है, अर्थात् जो अपने अपने कार्यको करके अतीत मार्गमें प्रविष्ट हो चुके हैं वे ही शान्त कहाते हैं; अर्थात् न वे वर्त्तमान कालमें कुछ करते हैं और न भविष्यत्में उनका कुछ कर्त्तव्य है। यथा, भग्न घट या अङ्कुरित बीज अङ्कुरका शान्तधर्म बीज है और मृत्तिका खण्डका शान्त धर्म घट है। उदित उनको कहते हैं कि भविष्यत्-मार्गमें अभी प्रकट नहीं हुए, परन्तु वर्त्तमान-मार्गमें अपने कार्य-को कर रहे हैं। यथा, घटकालमें घट या बीजकालमें बीज जिसका कार्य अभी वर्त्तमान रहनेके कारण उदितधर्म कहाता है। अव्यपदेश्य वह है कि जो शक्तिरूपसे स्थित है, जैसे रखा हुआ धन; अर्थात् स्थित-शक्ति है परन्तु कार्य कुछ भी नहीं कर रही है। मृत्तिकाखण्ड या बीजके भीतर जो प्रच्छन्न शक्ति है जिससे भवि-ष्यत्में मृत्तिकासे घट और बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है उस शक्तिका नाम अव्यपदेश्य धर्म है। नियमित कार्यकारणरूप शक्ति-से संयुक्त जो हो वही धर्म कहाता है; इन तीनों धर्मोंको जो ग्रहण करें वे ही धर्मी कहाते हैं। मृत्तिका रूप धर्मीसे पहिले चूर्णरूप

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

विकार होता है, फिर पिण्डरूप और फिर घटरूप होता है। यहाँ पर जिस समय चूर्णसे पिण्ड बनाया जाता है उस समय वर्त्तमान दशाको प्राप्त हुआ वह पिण्ड अतीतावस्थावाले चूर्णसे तथा अनागतावस्थावाले घटसे भिन्न कहा जाता है, परन्तु मृत्तिकासे भिन्न नहीं कहा जाता है; क्योंकि मृत्तिका सभीमें अनुगत है। इसलिये चूर्ण-पिण्ड-घटरूप धर्मोंके भिन्न भिन्न होने पर भी सभीमें अभिन्नरूपसे अनुगत मृत्तिका धर्मी कहलाती है। इस सूत्रका प्रयोजन यह है कि सिद्धिप्राप्ति करनेमें इच्छावान् योगी संयम-क्रियामें प्रवृत्त होकर धर्म और धर्मी दोनोंको अलग अलग समझ सके। अन्यथा धर्म और धर्मिभावमें पार्थक्यके न समझनेसे अथवा एकमें दूसरेका सम्बन्ध भ्रमसे हो जानेसे संयममें रहनेवाली ज्ञानदृष्टि नष्ट हो जायगी। योगीकी इसी विपत्तिसे बचानेके लिये इन सूत्रोंका आविर्भाव हुआ है ॥ १४ ॥

अब एक धर्मीके अनेक परिणाम होनेका कारण बताया जाता है—

परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है ॥ १५ ॥

यदि ऐसा प्रश्न उठे कि एक धर्मीका एकही परिणाम होता है, अथवा सब परिणाम एक ही कालमें होते हैं? ऐसे प्रश्नकी मीमांसामें महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। क्रमके अदल बदलसे ही परिणामोंका परिवर्त्तन हुआ करता है; अर्थात् जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिंड बनता है, पुनः मिट्टीके पिंडसे घट बनता है, घट फूट कर कपाल होजाता है, कपालसे ठीकरे होजाते हैं, पुनः ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं; वैसे ही पूर्व्व-वृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्व्वकारण होता हुआ क्रमके

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

अनुसार धर्मान्तर-परिणामको धारण करता है। घड़ेका अनागत-भावसे वर्त्तमानभाव क्रम कहाता है और वर्त्तमानभावसे अतीत-भाव क्रम कहाता है; परन्तु अतीतभावका कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि पूर्वपर सम्बन्धसे क्रम होता है; जैसे घड़ेका परिणाम वैसे ही पूर्व्व सूत्रमें कहे हुए अतीत आदि परिणामोंका हेतु क्रम-परिणाम है; अर्थात् प्रकृतिके सब तरंगोंका परिवर्त्तन और अन्तः-करणमें सुख दुःख आदि धर्मोंका परिवर्त्तन सब ही इस क्रम-नियमके ऊपर ही है ॥ १५ ॥

संयमका लक्षण तथा विधि बताकर अब परवर्त्ती सूत्रोंमें संयमद्वारा उत्पन्न सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है—

धर्म लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें संयमसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है ॥१६॥

धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम जिनका कि वर्णन पूर्व आ चुका है, उनमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत् कालका ज्ञान होता है। संयमका वर्णन भी पूर्व कर ही चुके हैं, उस प्रकारसे यदि साधकको सिद्धिकी आवश्यकता हो तो इन तीनों परिणामोंमें संयमरूप साधन करनेसे योगीको पूर्णरूपेण कालका ज्ञान हो जायगा; अर्थात् धर्म-परिणाममें संयम करनेसे भूत-कालके ज्ञान, लक्षणपरिणाममें संयम करनेसे वर्त्तमान-कालके ज्ञान और अवस्थापरिणाममें संयम करनेसे भविष्यत्-काल-के ज्ञानद्वारा योगी त्रिकालदर्शी हो सकता है। इस प्रकार परिणामोंमें संयम करके योगी त्रिकालज्ञान लाभद्वारा सत् असत् विषयोंका अनुसंधान कर सकता है और भविष्यत् विघ्न आदिको

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

जान कर उनके मेटनेके अर्थ तीव्र पुरुषार्थ अर्थात् दृष्ट-कर्मोंकी सृष्टि कर सकता है। श्रीभगवदुक्ति है कि:—

सर्वास्वभ्युदयस्याऽपि बीजेषु योगसिद्धिषु।
मत्सायुज्यदशाप्राप्तौ बाधिकास्ता न साधिकाः॥

सब योगसिद्धियाँ अभ्युदयकी मूल होनेपर भी वे मेरी सायुज्यदशा प्राप्ति करानेमें बाधक हैं साधक नहीं हैं। इस वचन-से यही तात्पर्य है कि सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये एक प्रकारसे बाधक ही हैं तथापि उनके द्वारा सकाम साधकका अभ्युदय अवश्य होना सम्भव है। दूसरी ओर अन्यान्य प्रबल योगविघ्नोंको सिद्धियाँ दूर भी करनेमें समर्थ होती हैं। त्रिकालज्ञानसे अनेक योगविघ्न दूर हो सकते हैं और त्रिकालज्ञान सिद्धियोंमें सर्वोत्कृष्ट सिद्धि होनेके कारण उसका वर्णन पहले किया गया है॥ १६॥

दूसरी सिद्धिका वर्णन कर रहे हैं—

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ट मेल है, उनके विभागोंमें संयम करने-से सब प्राणियोंकी वाणीका ज्ञान होता है॥१७॥

शब्द, अर्थ और प्रत्ययके विचारसे वाणी अक्षरोंमें ही अर्थयुक्त होती है, क्योंकि बिना अक्षरको ठीक ठीक योजनाके किसी शब्द-का अर्थ नहीं होता है; कान केवल उस वाक्यध्वनिको ग्रहण करके अन्तःकरणमें पहुँचाता है; तत्पश्चात् बुद्धि उस ध्वनिके क्रम-ज्ञान-द्वारा शब्दार्थको ग्रहण करती है। शब्दके अक्षर सब एक समयमें उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि जब पहिला अक्षर अपने बोधको उत्पन्न करके नष्ट होजाता है तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है; इसी

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुत-ज्ञानम्॥ १७॥

प्रकारसे प्रत्येक अक्षरका आविर्भाव हुआ करता है; परन्तु वे सब अपने सहकारी अक्षरोंसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसे गौः शब्दमें गकार, औकार और विसर्ग अपने अपने क्रमसे उच्चारित होकर शब्दरूप-को धारण करके अपनी अपनी स्वतन्त्र शक्तिको परस्परमें मिला-कर जो एक ध्वनिविशेष उत्पन्न करते हैं, उस ही ध्वनि-विशेषसे जीवविशेषका ज्ञान होजाता है। जैसे प्रत्येक अक्षरकी ध्वनिकी व्यष्टिसे उत्पन्न हुए समष्टिरूप गौः शब्दका ध्वनिसे सम्बन्ध है, वैसे ही गौः शब्दकी ध्वनिसे गौरूप जीवका सम्बन्ध है; अर्थात् गौशब्दका उच्चारण होते ही गौरूप प्राणीका ज्ञान हो जाता है; इसके उदाहरणमें विचारना उचित है कि यदि किसी मूर्खके निकट कहा जाय कि "गौ लाओ" तो वह तुरंत ही गौरूपी शब्दके द्वारा "गौ" को ले आवेगा, परन्तु यदि उसे पूछा जाय कि 'गौ, शब्दमें कौन कौन वर्ण हैं तो वह नहीं बता सकेगा। जिस प्रकार व्यष्टि-रूपसे वर्णकी ध्वनिका सम्बन्ध है, वैसे ही समष्टिरूप शब्दकी ध्वनिसे शब्द-ज्ञानका सम्बन्ध है। इस कारण शब्दमें, अक्षरमें और ज्ञानमें अभेद-सम्बन्ध रहनेके कारण उन शब्द-विभागोंमें संयम करनेसे योगीको नाना जीवोंकी बोलीका ज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार मनुष्य जीव है उसी प्रकार और प्राणी भी जीव हैं, केवल मनुष्यमें ज्ञानकी अधिकतारूप भेद है, जैसे अपनी अन्तर्वृत्तिको मनुष्य वाक्यद्वारा प्रकाश कर सकता है, वैसे ही अपनी अन्तर्वृत्तिको और जीव भी उनके शब्द अर्थात् बोली द्वारा प्रकाश किया करते हैं। जैसे अंग-कम्पन, छींक आदि प्रकृतिके इंगित द्वारा जीवको भविष्यत्-ज्ञान हो सकता है, वैसे ही नाना जीवोंकी उच्चारित ध्वनिद्वारा भी भविष्यत् ज्ञान हो सकता है। समय समयपर ज्ञानकृत अपनी मनोवृत्तिको जीवगण प्रकाश किया करते हैं, परन्तु बुद्धिका अभाव होनेके कारण बहिःप्रकृतिकी

१४

शक्तिके वशीभूत होकर वे समय समयपर प्रकृतिके इंगितको प्रकाश किया करते हैं; यह प्रकृति इङ्गित प्रकाश करनेकी शक्ति गुणभेदके कारण विशेष विशेष प्राणियोंमें विशेष विशेषरूपसे होती है। इस प्रकार जीवके उच्चारित ध्वनि विभागमें संयम करनेसे योगि-गण उस जीवकी स्वाभाविक ध्वनिसे उसके अन्त:करणका भाव और अस्वाभाविक ध्वनिसे भविष्यत् घटनाका अनुमान कर ले सकते हैं। मनुष्यके द्वारा उच्चारित शब्द दो प्रकारके होते हैं, एक स्वाभाविक और एक अस्वाभाविक। प्रणव और बीज मन्त्रादि स्वाभाविक शब्द और अन्यान्य लौकिक साधारण शब्द अस्वाभाविक शब्द हैं। भेद यह है कि अन्त:करणके द्वारा अनुभूति प्रणवादि शब्द अथवा अन्त:करणके भावद्वारा विशेष विशेषरूपसे स्वभावसे ही प्रकट होनेवाले जो शब्द हैं वे ही स्वाभाविक कहाते हैं और बाह्य विषयको अनुभव करके उसके लिये यथायोग्य शब्द बना लेनेसे जो शब्द बर्तावमें आते हैं जैसे गौ आदि शब्द ये सब अस्वाभाविक कहाते हैं। पहलेमें प्रत्ययरूपी ज्ञान अथवा भावका अनुभव भीतरी विषयसे होता है, दूसरेमें शब्दकी सृष्टि होते समय विषयका अनुभव बाह्य जगतमें होता है; परन्तु ज्ञान अर्थ और शब्द अथवा भाववृत्ति और शब्द, इसी क्रमके अनुसार एक शब्दसे उस शब्दसे सम्बन्धयुक्त भाव अथवा ज्ञानका बोध होता है। मनुष्य जब कोई शब्द उच्चारण करता है तो उसी क्षणमें उसके शब्दकी ध्वनिवैचित्र्यपर संयम करके ज्ञानी पुरुष उस मनुष्यके चित्तके कई भाव एक ही शब्दके विभिन्न प्रकारके उच्चारण करनेसे जान लेता है। अस्वाभाविक शब्दमें ही यह बात बन सकती है। नानाप्रकारके जीव जन्तुओंके शब्दमें भी इसी उदाहरणसे समझने योग्य है। अन्यान्य जीव जब अपनी काम क्रोधादिक स्वाभाविक दशामें रहकर शब्द उच्चारण करते हैं, उनका वह स्वाभाविक शब्द है और जब वे जीवगण समष्टि-

प्रकृतिके दवावसे विशेष देश कालमें विशेष शब्द करते हैं वही उनका अस्वाभाविक शब्द है। इन्हीं अस्वाभाविक शब्दोंके साथ शकुन आदिका सम्बन्ध शास्त्रोंमें रक्खा गया है। मनुष्यके स्वाभाविक और अस्वाभाविक शब्दमें संयम करनेसे जिस प्रकार शब्दार्थप्रतिपादक ज्ञान अथवा शब्दद्वारा, प्रणोदित भावका अनुभव दूसरे व्यक्तिको होता है उसी उदाहरणसे समझ सकते हैं कि अन्यान्य नाना जीवोंके शब्दद्वारा, उनके स्वाभाविक शब्दों-से उनके अन्तःकरणके भावका ज्ञान अथवा उनके अस्वाभाविक शब्द द्वारा मूल प्रकृतिके इङ्गितका ज्ञान योगीको हो सकता है। शब्दके देश, काल, गुरुत्व, लघुत्व, बोलनेका ढंग आदिके साथ चित्तको संयम करते हुए पूर्वकथित सन्धियोंमें संयमको ले जाकर उक्त जीवकी प्रकृतिमें संयम पहुँचा देनेसे उक्त जीवोंकी भाषाका ज्ञान योगीको हो सकता है॥ १७॥

तीसरी सिद्धिका वर्णन कर रहे हैं—

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है॥ १८॥

पूर्वजन्मके संस्कार दो प्रकारके हुआ करते हैं, यथा—प्रबल और मंद; प्रबल-संस्कार वे कहाते हैं कि जिनके द्वारा कर्म-विपाक उपस्थित होकर बलपूर्वक कर्म करा डालते हैं; और मंद-संस्कार वे कहाते हैं कि जिनके द्वारा केवल वासना ही उपस्थित होकर इच्छारूपसे जीवके अन्तःकरणमें क्लेश उत्पन्न करती है। पूर्वजन्म-के कर्मफलरुपी संस्कारोंमें संयम करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान और परसंस्कारोमें संयम करनेसे परजन्मका ज्ञान योगीको हो सकता है; क्योंकि संस्कार कर्मसे ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संस्कार किये

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्॥ १८॥

हुए कर्मोंके छायारूप चिन्ह हैं; जैसे मनुष्यके छायारूप चिन्हको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण "फोटोग्राफ" में मनुष्यमूर्त्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते है, वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है। जैसे एक बटके बीज़में सारे बटवृक्षका शरीर अप्रकाशित रूपसे वर्तमान रहता है ठीक उसी प्रकार कर्मबीजरूपी संस्कारमें उक्त कर्मका संपूर्ण स्वरूप निहित रहता है अतः योगी यदि अपनी ज्ञानशक्तिद्वारा मनुष्यके वर्त्तमान जीवनकी पर्यालोचना करके उसके इस जीवनरूपी अङ्कुरित कर्म अथवा वृत्ति आदि देख कर उसके संस्कारकी खोज कर लेवे तो उस संस्कारमें संयम करनेसे उसकी पूर्वजातिका ज्ञान हो सकता है। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे फिर वृक्ष होता है वैसे ही कर्मसे संस्कार और संस्कारसे पुनः कर्म होनेका इस प्रकारका सिलसिला बराबर बना रहता है। अस्तु, यदि विचारद्वारा संस्कारका पता लगाया जाय तो इस संस्कारमें संयम करनेसे जिस कर्मके द्वारा वह संस्कार बना था उसका पता अनायास योगीको लग सकता है॥ १८॥

चौथी सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

ज्ञानमें संयम करनेसे पराये चित्तका ज्ञान होता है॥ १९॥

सब अन्तःकरण एक जातीय हैं और ज्ञानके द्वारा ही सब वस्तुओंका ज्ञान हुआ करता है। अन्तःकरण-स्थित-ज्ञान एकजातीय होनेपर भी केवल अहंकारके कारण स्वतंत्र होरहा है और इसी स्वतन्त्रताके कारण ही एक ज्ञान दूसरेके ज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता; परन्तु योगी जब ज्ञानमें संयम करने लगता है तब ही वह

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ १९॥

अपने अन्तःकरणका दूसरे अन्तःकरणके साथ सम्बन्धस्थापन करके दूसरे अन्तःकरणके भावको ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार योगी बुद्धिमें संयल करके पराये चित्तका ज्ञाता हो सकता है। स्वरूपज्ञान जिस प्रकार परमात्मासे सम्बन्ध रखता है, तटस्थज्ञान उसी प्रकारसे जीवसे अर्थात् जीव-अन्तःकरणसे सम्बन्ध रखता है। स्वरूपज्ञान आत्माका स्वरूप है और तटस्थ ज्ञान उसी प्रकारसे जीव-अन्तःकरणका धर्म है। अन्तःकरणके चार अवयव हैं, यथा-मन, वुद्धि, चित्त और अहंकार। परन्तु वैसा होनेपर भी बुद्धिका प्राधान्य सर्वोपरि है। इसी कारण अन्तःकरणमें ज्ञानकी व्यापकता नित्यस्थित है। तटस्थज्ञानमें त्रिपुटिका स्वाभाविक सम्बन्ध रहनेसे जैसा जिस जीवका अन्तःकरण होता है अर्थात् जिस अन्तःकरणमें जैसा गुणपरिणाम रहता है, वैसे ही उस अन्तःकरण-से सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। फलतः यदि किसी जीव विशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस ज्ञानविशेषमें यदि योगी योगयुक्त होकर संयम करे तो उस जीवके अन्तःकरणका सब हाल जान सकता है ॥ १९ ॥

इसमें विशेषता बतायी जाती है—

उससे अवलम्बनका ज्ञान नहीं होता है क्योंकि वह इस प्रकार संयमविषयके अन्तर्भूत नहीं है ॥ २० ॥

पूर्व सूत्रमें कह चुके हैं कि ज्ञानमें संयम करनेसे दूसरेके अन्तःकरणका ज्ञान हो सकता है; अब महर्षि सूत्रकार इस सूत्र-द्वारा स्पष्ट करते हैं, कि यदि च उससे दूसरेके अन्तःकरणका ज्ञान होता है, परन्तु अन्तःकरणके विषयका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो

न तत्सावलम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

सकता; यदि उससे समष्टिरूप अन्तःकरणका साधारण ज्ञान हो जाता है, परन्तु सृष्टिरूप विशेषज्ञानके अर्थसंयमको स्थानान्तरमें बढ़ाना पड़ता है। जब योगी दूसरे अन्तःकरणमें संयम द्वारा पहुँच कर तद्विषयोंमें पुनः संयमको बढ़ाता है तबही उसको विस्तारित विषयोंका ज्ञानभी हो सकता है। इसी प्रकार प्रथम ज्ञानमें संयम द्वारा दूसरेके अन्तःकरणमें पहुँचकर पुनः तद्विषयोंमें संयमद्वारा योगी दूसरेके अन्तःकरणका विस्तारित विवरण जान सकता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि यदि योगी यह जानना चाहे कि अमुक व्यक्तिने इस पापकर्मको किया है या नहीं, तो केवल उस व्यक्तिके ज्ञानमें संयम करनेसेही वह योगी इतना जान सकता है; परन्तु यदि वह योगी उस पापनिरत व्यक्तिके पापकर्मके सम्बन्धमें देश काल और पात्र विचारसे अधिक विवरण जानना चाहे तो उक्त कर्मसे सम्बन्धयुक्त विषयान्तरोंमें उसको पुनः संयम करना पड़ेगा ॥२०॥

पांचवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्यशक्तिका स्तम्भ होजाता है और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता; तब योगीके शरीरका अन्तर्धान होता है ॥२१॥

यह पाञ्चभौतिक शरीररूपवाला होनेसे नेत्रजन्य ज्ञानका विषय है अर्थात् रूपद्वारा ही यह शरीर चक्षुग्राह्य है इसलिये जब योगी अपने शरीरगतरूपमें संयम करते हैं तो उनके रूपमें जो

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

ग्राह्यशक्ति थी सो अन्यके नेत्रपथमें नहीं पड़ती है। इस प्रकारसे जब द्रष्टाकी दृक्शक्ति स्तम्भित हो गई तब आपही वह द्रष्टा या द्रष्टृगण योगीको देख नहीं सकेंगे। इस प्रकार अपनी कायाके रूपमें संयम करनेसे योगी दूसरेकी दृष्टिसे बच कर अन्तर्धान हो सकता है। संसारमें दृक्शक्ति स्तम्भनको क्रिया प्रायः देखनेमें आती है; कभी कभी स्वाभाविक रीतिपर नेत्र खुले रहनेपर भी दृष्टि-शक्ति स्तम्भित हो जाने पर मनुष्य कुछ नहीं देख सकता; ऐसी क्रिया इन्द्रजालके खेलोंमें भी देखनेमें आती है; अर्थात् जब खेल दिखाने वाले अनेक पदार्थोंका संयोग और वियोगरूप खेल दिखाया करते हैं तब इन्द्रजाल-विद्यासे दर्शकोंके नेत्र स्तम्भित हो जानेसे वे उन पदार्थों के संयोग वियोगका अन्वेषण नहीं कर सकते। जब इन्द्र-जालकी साधारण क्रियाद्वारा इस प्रकारसे दृष्टिशक्ति स्तम्भित हो जाती है तो योगिराज महात्माओंकी संयम-क्रियासे क्या नहीं हो सकता? जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता हैं उसीप्रकार शब्दविषयक संयम करनेसे शब्दकी श्रोत्रग्राह्य शक्ति भी रुक जाती है जिससे श्रोत्रका शब्दके साथ असन्निकर्ष होनेके कारण शब्दका अन्तर्धान होता है अर्थात् योगीका शब्द किसीको सुनाई नहीं देता है। इसी प्रकार स्पर्श, रस और गन्धका भी उल्लिखितरूपसे संयमद्वारा अन्तर्धान होता है; अर्थात् शब्दादि पांचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्धको समीपस्थित पुरुष जान नहीं सकता है ॥२१॥

छठी सिद्धिका वर्णन किया जाता है।

सोपक्रम और निरूपक्रम जो दो प्रकारके कर्म हैं, उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है; अथवा त्रिविध

अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

पूर्वपादके सूत्रोंमें कर्म-विपाकसे आयुका स्थिर होना प्रमाणित हो चुका है। जिस कर्मफल द्वारा आयु स्थिरीकृत होती है उसको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा-सोपक्रम और निरुपक्रम। जैसे जलसे भींजे हुए वस्त्रको निचोड़ कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है; जैसे शुष्क काष्ठमें अग्नि लगा देनेसे काष्ठ शीघ्र जलकर भस्म हो जाता है; वैसे ही कर्म-विपाककी तीव्रताके कारण जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है; वह शीघ्र कार्य्यकारी कर्मकी अवस्था सोपक्रम कहाती है। जैसे विना निचोड़ा पिंडीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है; जैसे गीली लकड़ीके ढेरमें एक ओरसे आग लगाने पर बहुत कालान्तरमें वह ढेर भस्मीभूत होता है; वैसे ही कर्म्मविपाककी मंदताके कारण विलम्बसे फलदायक होते हैं; यह विलंबसे कार्य्यकारी कर्मकी अवस्था निरुपक्रम कहाती है। इन दोनों प्रकारके कर्म विपाकोंमें संयम करनेसे योगीको यह विचार हो जाता है कि मृत्यु कितने दिनमें आनेवाली है और अमुक स्थान तथा अमुक रीतिपर शरीर छूटनेवाला है। मीमांसाशास्त्रके अनुसार कर्म तीन प्रकारके होते हैं, यथा—सहज, ऐश और जैव। मनुष्यके लिये सहज और ऐश कर्म केवल परम्परा सम्बन्धसे उपयोगी हैं। जैव कर्म ही स्वाधीन जीव मनुष्यका कर्म माना गया है। उस जैव कर्मके तीन भेद हैं, यथा—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। सञ्चित-कर्मका सम्बन्ध भविष्यत्कालके गर्भमें छिपा रहता है और केवल प्रधानतः प्रारब्धकर्म तथा गौणतः क्रियमाण कर्म इन दोनों पर ही आयुनिर्णय करनेके लिये योगीको संयम करना होता है। क्रियमाण कर्म जब प्रबल होता है तभी वह आयुको सदसत् कर्मानुसार बढ़ाता है

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरांतज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

या घटाता है, नहीं तो क्रियमाणकर्म सञ्चितकर्ममें जा मिलता है। इस कारण मनुष्यका कौन कौन क्रियमाण कर्म प्रबल है, उसकी गतिपर संयम करना होता है और उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मके जो जो लक्षण मनुष्य जीवनमें प्रकट हैं उनका लाघव और गौरव विचार करके योगीको संयम करना होता है इसी शैलीसे संयम करनेसे मनुष्यकी मृत्युका पता लग सकता है और जिस प्रकार पहले ज्ञानमें संयम करके और पीछेसे विशेष विशेष-वृत्तियोंमें संयम करके जीवके अन्तःकरणके भावोंका पता लगता है उसी प्रकार साधारणतः प्रारब्धकर्म और प्रबल-क्रियमाण कर्ममें संयम करनेसे मृत्युके समयका पता लगता है और तदनन्तर उनकी आनुषङ्गिक सूक्ष्मतापर विचार करनेसे मृत्युके समयकी अवस्था व गतिका भी पता लग सकता है। जिस प्रकार योगीको सोपक्रम और निरुपक्रम रूपी कर्म-विपाकमें संयम करनेसे मृत्युज्ञान होता है उसी प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अरिष्टोंमें संयम करनेसे भी मृत्युज्ञान हो सकता है। आध्यात्मिक अरिष्टके फलसे ज्ञानेन्द्रियकी शक्तिमें आन्तरिक निर्बलता आ जाती है; जिसके उदाहरणमें शास्त्रोंमें लिखा है कि "तब कान बन्द करनेसे साधारण रीतिपर जो एक शब्दकी ध्वनि सुनाई देती है वह नहीं सुनाई देती नेत्र बन्द करनेसे जो बहुप्रकार की अन्तर्ज्योति दिखाई देती है वह तब नहीं दिखाई देती" इत्यादि आन्तरिक शक्तिकी हीनता ही आध्यात्मिक अरिष्ट है। जब विना मनन और विना कारण ही यमदूत और पितरोंके दर्शन होने लगें तो उन अलौकिक लक्षणोंको आधिदैविक अरिष्ट समझता उचित है। उसी प्रकार जब बिना किसी विशेष कारणके अधिक सुखदायक लोक अथवा दिव्यदेवशरीरोंका दर्शन हो तो उन दैव लक्षणोंको भी आधिदैविक अरिष्ट समझना उचित है। शारीरिक रोगादिके

विशेष विशेष लक्षण आचार-व्यवहारके विशेष विशेष लक्षण इत्यादि आधिभौतिक अरिष्टके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार शरीरका असाधारण परिणाम, जैसे, बलवान्का एकदम निर्बल होजाना, या कृशकायका एक बार ही हृष्ट पुष्ट अतिस्थूलकायका अतिकृश हो जाना इत्यादि आधिभौतिक अरिष्टमें माने गये हैं। आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक अरिष्टमें संयम करनेसे मृत्युज्ञान भली भाँति हो सकता है; परन्तु विचार इतना ही है कि यह अरिष्ट मृत्युसे बहुत निकट समयपर ही दिखाई देते हैं; इस कारण इनसे बहुत दिन पूर्व मृत्यु-ज्ञानकी सम्भावना नहीं; परन्तु पूर्वकथित सोपक्रम और निरुपक्रम विपाकोंमें संयम करनेसे जब चाहे तब ही योगी मृत्युका ज्ञानलाभ कर सकते हैं ॥२२॥

सातवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है।

मैत्री आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धीय बलकी प्राप्ति होती है ॥२३॥

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा, ये चार प्रकारकी श्रेष्ठ भावना कहाती हैं। यह पूर्व ही कह चुके हैं कि साधकको सुखी प्राणियोंमें प्रीति भावना, दुःखी प्राणियोंमें करुणा भावना, धर्मात्माओंमें मैत्री-भावना और पापिगणमें उपेक्षाभावना करना उचित है अर्थात् ऐसा अभ्यास करनेसे योगी योग-मार्गमें अग्रसर होता है। अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि उन चारोंमें संयम करनेसे योगी मैत्री-बल, करुणा-बल, मुदिता-बल और उपेक्षा-बलकी प्राप्ति करके पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है और पुनः योगीके अन्तःकरणमें कोई प्रतिबन्धन नहीं कर सकता। आत्मबल ही सब बलोंका मूल है। श्रुति जो कहती है

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यहां पर आत्मबलसे ही तात्पर्य है अर्थात् विना आत्मज्ञानका लाभ होना असम्भव है। उस आत्मज्ञानके लाभ करनेमें जिस आत्मबलकी आवश्यकता होती है वही शुद्ध तेज कहाता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियों-में गिरने न देकर नियमितरूपसे स्वरूपकी ओर खैंचती रहती है उसीको तेज या आत्मबल कहते हैं। पूर्वकथित श्रेणियोंकी शुद्ध शक्तियोंमें जब योगी संयम करता रहता है और अपने अन्तःकरण में उनकी प्रतिष्ठा करा देता है तो पुनः उसके अन्तःकरणको नीचे गिरानेवाला और कोई नहीं रहता है। तभी वह आत्मबल प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

आठवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

बलमें संयम करनेसे हस्तिके बलादि प्राप्त हो सकते हैं ॥ २४ ॥

बल दो प्रकारका है, एक आत्मबल और दूसरा शारीरिक बल, आत्मबल-प्राप्तिके सम्बन्धीय सिद्धिका वर्णन पहले सूत्रमें करके अब इस सूत्रद्वारा स्थूल शारीरिक बलप्राप्तिकी सिद्धिका वर्णन कर रहे हैं। यदि च सब बल एकही रूप हैं, परन्तु प्रकृति विभिन्न होनेके कारण बलमें स्वतंत्रता है; यथा—सिंहबल, हस्तिबल, खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचर मकर आदिका बल इत्यादि। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें संयम करनेसे योगीको उस प्रकारके बलके सदृशबलकी प्राप्ति हुआ करती है। उसी प्रकार वायुमें संयम करनेसे साधारण बलकी अधिकता हो जाती है क्योंकि वायु ही सब बलका आधार है। साधारण बलप्राप्तिके लिये

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

वायुसंयम परम हितकर होनेपर भी विशेष विशेष पशुजातीय वल प्राप्त करनेके लिये उस उस पशुकी बलसम्बन्धीय दशाकी पर्यालोचना करके उसमें संयम करनेसे योगी हस्ती आदि बलशाली पशुओंके बलके सदृश स्थूलबल अपनेमें प्राप्त कर लेता है ।।२४।।

नवीं सिद्धिका वर्णन होता है—

पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर संयम करनेसे सूक्ष्म, गुप्त तथा दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है ।। २५ ।।

प्रथमपादमें जो साम्यावस्थायुक्त सात्त्विक-प्रकृतिका दर्शन अर्थात् ज्योतिदर्शनका वर्णन हो चुका है; उस अन्तर्ज्योतिको पदार्थोंमें न्यस्त करके संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है । सत्त्वगुण ही पूर्णप्रकाशरूप है; जहाँ सत्त्वगुणका पूर्ण प्रकाश है वहीं ज्ञानका पूर्ण उदय हो सकता है; इस प्रकार सात्त्विक तेजमें संयम करके उसकी सहायतासे योगी सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म-विषय, गुप्तसे अतिगुप्त-विषय और दूरसे अतिदूरस्थित पदार्थका ज्ञान लाभ कर सकता है; अर्थात् सात्त्विक प्रकाशरूप ज्योतिष्मती प्रवृत्ति साम्यावस्थारूप सत्त्वगुणका रूप है, उसकी सहायता द्वारा योगी यदि अन्वेषण करना चाहें तो वे सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म परमाणु तकको दृष्टिगोचर कर सकेंगे; भूमिमें छिपे हुए अतिगुप्त पदार्थोंको भी जान सकेंगे; बहुत दूरवर्ती पदार्थोंको भी समझ सकेंगे । योगसाधनके क्रियासिद्धांशके अनुसार योगके साधनोंको चार मार्गोंमें विभक्त किया गया है,

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।। २५ ।।

यथा-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन्हीं चारों साधन-शैलियोंके अनुसार मन्त्रयोगमें मनःकल्पित स्थूलमूर्त्तिका ध्यान, हठयोगमें मनःकल्पित स्थूल ज्योतिका ध्यान, लययोगमें विशेष विशेष साधनोंद्वारा सत्त्वगुणमयी सूक्ष्मप्रकृतिसे उत्पन्न ज्योतिष्मती नामक बिन्दुका ध्यान और राजयोगमें प्रज्ञासे उत्पन्न आत्मध्यानकी व्यवस्था की गयी है। लययोगमें जो बहुप्रकारके साधनोंकी शैली बतायी गयी है उसके अनुसार लययोगी अपने अन्तर राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजःपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपमें आर्विभूत होकर जब स्थिर होने लगती है, वही बिन्दुध्यानकी सिद्धावस्था है। सकाम योगी यदि चाहे तो उसी बिन्दुकी सहायतासे अपने शरीरकी विभिन्न सूक्ष्मनाड़ी और षट्चक्रादि शरीरस्थ नाना पीठोंके दर्शन करनेमें समर्थ होता है। उसी प्रकार सकाम योगी यदि चाहे तो उसी बिन्दुके विस्तारसे उसीमें होकर अपनी संयम शक्तिकी सहायतासे ज्योतिष्मयी प्रवृत्तिकी सहयोगिताद्वारा अनेक गुप्त विषय और अनेक जलमग्न और पृथिवी गर्भस्थित दृश्यसमूहके देखलेनेमें समर्थ होता है॥ २५॥

दसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

सूर्य्यमें संयम करनेसे भुवनका यथार्थ ज्ञान होता है॥ २६॥

सूर्यके द्विविधरूपमें संयम करनेसे यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्मलोकोंका ज्ञान योगीको होता है। स्थूललोक प्रधानतः यह मृत्युलोक है और सप्त स्वर्ग तथा सप्त पाताल, ये सूक्ष्मलोक कहाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञान लाभ करना भी सूक्ष्म-

---

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्॥ २६॥

लोकसे सम्बन्धयुक्त ज्ञान है। भूर्भुवः स्वः आदि सप्त स्वर्गोंमेंसे भूलोक चार भागमें विभक्त है। इत्यादि विषय स्मृतियोंमें यथा—

अहं चतुर्दशानां हि भुवनानां स्वधाभुजः !।
पञ्चानाञ्चैव कोषाणां सम्बन्धादद्य वो ब्रुवे ॥
प्राधान्यं देववृन्दस्य श्रूयतां सुसमाहितैः।
दैवसृष्टिरहस्यं स्याज्ज्ञातं येन यथार्थतः॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यं त्रिमूर्त्ति त्रिगुणात्मकम्।
यदाऽहं पितरो धृत्वा स्वशक्तेरवलम्बनात् ॥
आददे सगुणं रूपं तिस्रस्ता एव मूर्त्तयः।
प्राधान्यं सर्वदेवेषु धरन्त्योऽलं भवन्ति ते ॥
ब्रह्माण्डे किल प्रत्येकं मुख्या देवा न संशयः।
आवहन्तस्त्रिदेवाख्यां प्राशस्त्यं यान्ति सर्वथा।
अस्य मूर्त्तित्रयस्यास्ते प्रति ब्रह्माण्डवर्त्तिनः।
नैव भेदो मया सार्द्धं वस्तुतः कश्चिदप्यणु ॥
एतदेवाधिदैवं हि मुख्यं मूर्त्तित्रयं मम।
प्रोच्यते पितरो विज्ञैः प्रतिब्रह्माण्डमीश्वरः ॥
ब्रह्मण्यध्यात्मशक्तिर्मे ह्यधिदैव्यपि भाति वै।
लोकस्रष्टृत्वतो वोऽयं नायकोऽस्ति तथाप्यहो ॥
तथा शिवेऽधिभूतायामाधिदैव्याञ्च पूर्णतः।
शक्तौ विकाशितायां हि सत्यामपि स्वधाभुजः ! ॥
नायको ज्ञानदातृत्वादृषीणामेष मन्यते।
संविकाशितयोः शक्त्योः पूर्णाध्यात्माधिभूतयोः॥
विष्णौ सत्योस्तथाप्येष वर्त्तते देवनायकः।
दैवशक्तिकदम्बस्य केन्द्रीभूतो यतोऽस्त्ययम् ॥
पितरः ! वोऽधिकारोऽस्ति स्थूले जगति केवलम्।
पिण्डपुञ्जेऽपि मर्त्यानां पिण्डेष्वेव विशेषतः ॥

केवलं ज्ञानिजीवेषु त्वधिकारस्तथास्त्यलम् ।
ऋषीणां नात्र सन्देहः किन्तु देवगणस्य वै ॥
ब्रह्माण्डानां हि सर्वेषां भागेष्वास्तेऽखिलेषु च ।
अधिकारोऽस्त्यतस्तेषां देवानां सर्वमान्यता ॥
पितरः ! पञ्चकोशाश्च भुवनानि चतुर्दश ।
समष्टिव्यष्टिरूपायां पिण्डब्रह्माण्डसंहतौ ॥
ओतप्रोतस्वरूपेण संतिष्ठन्ते न संशयः ।
मम ब्रह्माण्डरूपस्य विराड्देहस्य कल्यदाः ! ॥
लोकाः सप्तोर्द्ध्वगा नाभिमुपर्य्युपरि सन्त्यहो ।
अधोऽधः सप्त वर्त्तन्ते ध्रुवं नाभिञ्च संस्थिताः ॥
अतः समष्टिरूपेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे वै चतुर्दश ।
भुवनानि प्रधानानि विद्यन्ते नात्र संशयः ॥
पञ्चकोषास्तु तिष्ठन्ति व्याप्ता गौणतयाऽत्र हि ।
जीवदेहस्वरूपेषु कोषाः पिण्डेषु पञ्च च ॥
प्रधानास्सन्ति तेषां हि सम्बन्धाच्च चतुर्दश ।
भुवनान्यप्रधानानि संतिष्ठन्ते निरन्तरम् ॥
अतो मे ज्ञानिनो भक्ता ऐशीं शक्तिं समाश्रिताः ।
स्वपिण्डेष्वपि तिष्ठन्तः सूक्ष्मैर्नानाविधैर्द्रुतम् ॥
संस्थापयितुमर्हन्ति देवलोकैः सहान्वयम् ।
अन्यान्यसूक्ष्मलोकेषु निवसन्तोऽप्यतस्तथा ॥
संस्थापयितुमर्हन्ति स्वाधिपत्यं स्वधाभुजः ।
देवासुरगणा सर्वे जीवपिण्डेष्वनुक्षणम् ॥
पितरः ! पञ्चकोषा हि सर्वपिण्डप्रतिष्ठिताः ।
आवृण्वन्तो विराजन्ते मत्स्वरूपं न संशयः ॥
मध्यमासु निकृष्टासु तथोच्चैर्देवयोनिषु ।
सर्वास्वप्यवतिष्ठन्ते पञ्चकोषा न संशयः ॥

एतावाँस्तत्र भेदोऽस्ति नूनं निम्नासु योनिषु ।
पञ्चकोषा विकाशन्ते नैव सामान्यतोऽखिलाः ॥
निखिलानान्तु कोषाणां मर्त्यपिण्डेषु निश्चितम् ।
विकाशः सर्वतः सम्यग् जायते नाऽत्र संशयः ॥
ततोऽपि देवपिण्डेषु विकाशन्ते हि शक्तयः ।
अधिकं खलु पञ्चानां कोषाणां नात्र संशयः ॥
पाञ्चकौषिकभूमीनां समानानां स्वभावतः ।
सम्बन्धः सर्वपिण्डानां भूमिभिः सह वर्त्तते ॥
ऋषयोऽतो भवन्तश्च ममोपासकयोगिनः ।
देवाः शक्तिविशेषैश्च विधातुं शक्नुवन्त्यलम् ॥
कार्यं कोषविशेषस्य पिण्डेष्वन्येषु चैकतः ।
नैवात्र संशयः कश्चित्सत्यं जानीत सत्तमाः ॥
वसन्ति देवाः पितरः ! ऊर्द्ध्वलोकेषु सप्तसु ।
सन्तिष्ठन्तेऽसुराः सर्वे ह्यधोलोकेषु सप्तसु ॥
तमो मुख्यतया सृष्टेरसुराणां हि सप्तमे ।
लोकेऽस्त्यसुरराजस्य राजधानी त्वधस्तने ॥
दैव्याः सत्त्वप्रधानत्वात्सृष्टे राजानुशासनम् ।
उच्चैर्देवेषु लोकेषु नैवावश्यकमस्त्यहो ॥
अस्त्यतो देवराजस्य राजधानी तृतीयके ।
उर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥
विशेषतोऽसुराः सर्वे सदा प्राबल्यसञ्जुषः ।
कुर्वाणा विप्लवं दैवे राज्ये सृष्टेः प्रबाधितुम् ॥
सामञ्जस्यं विचेष्टन्ते नितान्तं सन्ततं बहु ।
अतोऽपि देवराजस्य राजधानी तृतीयके ॥
ऊर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं विद्यते पितरो ध्रुवम् ।
उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु प्रवेशोऽप्यस्त्यसम्भवः ॥

असुराणामतोऽप्येषु देवराजानुशासनम् ।
नावश्यकत्वमाप्नोति विशेषेण कदाचन ॥
विभिन्नोपासकेभ्यो हि स्वरूपं सगुणं धरन् ।
सालोक्यञ्चैव सामीप्यं सारूप्यं पितरस्तथा ॥
दातुं मोक्षञ्च सायुज्यं नानारूपैर्हि सप्तमे ।
ऊर्द्ध्वलोके तथा षष्ठे विराजेऽहमनुक्षणम् ॥

उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु सात्त्विकेषु स्वधाभुजः ! ।
राजानुशासनस्यातः का वार्त्ता वर्त्तते खलु ॥
शब्दानुशासनस्यापि नास्ति तेषु प्रयोजनम् ।
विचित्रो मध्यवर्त्त्यस्ति मृत्युलोको विभूतिदाः ॥

यथा गार्हस्थ्यमाश्रित्य पुष्टाः स्युः सर्व आश्रमाः ।
मृत्युलोकं समाश्रित्य भुवनानि चतुर्दश ॥
स्वातन्त्र्यं पूर्णमत्रास्ति कर्मसम्पादने यतः ।
मृत्युलोकप्रतिष्ठाऽतो विद्यते निखिलोपरि ॥
यद्यप्युत्पद्यते मोक्षफलमुद्यान उत्तमे ।
मृत्युलोके न सन्देहस्तद्बीजं किन्तु लभ्यते ॥
आर्य्यावर्त्तप्रदेशे हि कर्मभूमिस्वरूपिणि ।
विशुद्धे याज्ञिके रम्ये सर्वर्त्तुव्रातशोभिते ॥
का वार्त्ताऽतोऽस्ति देवानामवतारीयविग्रहम् ।
आविर्भवितुमिच्छाम्यप्यार्य्यावर्त्तेऽहमाश्रयन् ॥
मृत्युलोकस्य भूलोकान्तर्गतस्यास्ति विस्तृतिः ।
महतो नाऽत्र सन्देहस्तद्विभागश्चतुर्विधः ॥

एको वः पितृलोकोऽस्ति मृत्युलोको द्वितीयकः ।
प्रेतलोकस्तृतीयोऽस्ति चतुर्थो नरकाभिधः ॥
भूलोके भवतामेव लोकः स्वर्गः सुखप्रदः ।
वस्तुतो नात्र सन्देहो विधातव्यः स्वधाभुजः ॥

कर्मभूर्मृत्युलोकोऽस्ति कर्मक्षेत्रञ्च यं जगुः।
प्रेतलोकस्तथैव स्तो लोकोऽपि नरकाभिधः॥
दुःखदावानलज्वालापूरितौ भीषणावलम्।
प्रेतलोकोऽस्ति संश्लिष्टो मृत्युलोकेन सर्वथा॥
भुवर्लोकादयोऽन्ये वो लोकादूर्द्ध्वमवस्थिताः।
अस्त्यतश्चोर्द्ध्वलोकानामधोलोकव्रजस्य च॥
वैलक्षण्येन सार्द्धं वः सम्यक् परिचयो न हि।
यद्यप्यस्याश्चतुर्लोक्यां धर्मराजानुशासनम्॥
वरीवर्त्त्यैव विस्तीर्णं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः।
दृढं कुर्य्यात् ग्वेद्यत्नं पितरो यूयमन्वहम्॥
यमदण्डस्य साहाय्यमन्तरेणैव तर्ह्यलम्।
कृतार्था भवितुं सृष्टेः सामञ्जस्यस्य रक्षणे॥
दण्डेनैव प्रजाः सर्वाः कर्तुं धर्मपरायणाः।
यत्नो यद्यपि वर्त्तेत निस्सन्देहं शुभावहः॥
किन्त्वहो येन यत्नेन प्रजाः सर्वाः कदाचन।
दण्डार्हा एव नैव स्युः स यत्नो ज्ञानिसन्निधौ॥
प्रजाकल्याणवृद्ध्यर्थमधिकं स्यात् सुखप्रदः।
नास्ति कोऽप्यत्र सन्देहः सत्यमेतद् ब्रवीमि वः॥
मृत्युलोकाधिकारोऽस्ति सर्वलोकहितप्रदः।
यतो देवासुरैः सर्वैः पितरः! कर्मभूमितः॥
मानवाल्लोकतो गत्वा प्राप्यन्ते चोक्तयोनयः।
भोगावसानजे जाते पाते तेषां स्वलोकतः॥
भूयोऽप्यभ्युदयं प्राप्तुं मृत्युलोकोऽयमेव वै।
भवेदाश्रयणीयो हि सर्वथैव न संशयः॥
अस्त्यङ्ग प्रेतलोकस्तु मृत्युलोकस्य निश्चितम्।
मृत्युलोकेन सम्बद्धौ लोकौ च द्विविधौ परौ॥

ऊर्द्ध्वाधः संस्थितौ पितृनरकाख्यौ यथाक्रमम्।
आश्रये मृत्युलोकस्य संस्थितौ नाऽत्र संशयः॥
आसाते खलु तौ यस्माद्भोगलोकावुभावपि।
मृत्युलोकव्यवस्थातो जायन्तेऽतः स्वधाभुजः॥
स्वतो व्यवस्थानीह भुवनानि चतुर्दश।
पूर्णधर्मस्वरूपस्य विकाशेन निरन्तरम्॥
आत्मज्ञानप्रकाशस्य सहजं स्थानमुत्तमम्।
नन्वार्य्यावर्त्त एवास्ते कर्मभूमिर्न संशयः॥

हे पितृगण! अब मैं चतुर्दश भुवन और पञ्चकोषके सम्बन्धसे देवताओंकी प्रधानता आपको कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो, जिससे आपको दैवी सृष्टिका यथार्थ रहस्य विदित हो जायगा। हे पितृगण जब मैं ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी त्रिगुणात्मक त्रिमूर्त्तिको धारण करके अपनी शक्तिकी सहायतासे सगुण होताहूँ तो वही मेरी त्रिमूर्त्ति सर्वदेव-प्रधान होकर प्रत्येक ब्रह्माण्डमें निस्सन्देह प्रधान देवता कहाते हैं और त्रिदेव नामको धारण करके सर्वथा प्रसिद्ध होते हैं। वास्तवमें प्रत्येक ब्रह्माण्डके इन त्रिमूर्त्तियोंमें और मुझमें कोई भी भेद नहीं है। हे पितृगण! ये तीनों प्रधान अधिदैव मूर्त्तिही प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ईश्वर कहाते हैं। ब्रह्माजीमें मेरी आध्यात्मिक शक्ति, और अधिदैवशक्तिका पूर्ण विकाश रहनेपर भी वे लोकस्रष्टा होनेके कारण आपलोगोंके नायक कहाते हैं। उसी प्रकार हे पितृगण! शिवमें अधिभूत शक्ति और अधिदैव-शक्तिका पूर्ण विकाश रहनेपर भी वे ज्ञानदाता होनेके कारण ऋषियोंके नायक माने जाते हैं और उसी प्रकार विष्णुमें अधिभूतशक्ति और अध्यात्मशक्तिका पूर्ण विकाश रहनेपर भी वे दैवीशक्तिसमूहके केन्द्र होनेसे देवताओंके नायक हैं। हे पितृगण! आपलोगोंका अधिकार केवल स्थूलजगत् और पिण्डोंमें मनुष्य-पिण्डोंपर ही विशेष रूपसे है। ऋषियोंका अधिकार केवल ज्ञानी

जीवोंमें ही है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु देवताओंका अधिकार प्रत्येक ब्रह्माण्डके सब विभागोंपर होनेसे वे सर्वमान्य हैं। हे पितृगण! पञ्चकोष और चतुर्दश भुवन समष्टि और व्यष्टिरूप ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूहमें निस्सन्देह ओत प्रोत हैं। ब्रह्माण्डरूपी मेरे विराट् शरीरके नाभिसे ऊपर सात ऊर्द्ध्वलोक और नाभिसे नीचे सात अधोलोक स्थित हैं। इस कारण समष्टिरूपी ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवन प्रधान हैं और पञ्चकोष प्रधान और उन पञ्चकोषोंके सम्बन्धसे चतुर्दश भुवनोंका सम्बन्ध अप्रधान रहता है। यही कारण है कि मेरी ऐशीशक्ति प्राप्त करनेसे मेरा ज्ञानी भक्त अपने पिण्डमें रहकर भी नाना सूक्ष्म दैवीलोकोंके साथ सम्बन्ध स्थापन कर सकता है और इसी कारण हे पितरो! देवतागण अथवा असुरगण भी अन्यान्य सूक्ष्मलोकोंमें रहनेपर भी जीवपिण्डोंपर अपना अधिकार स्थापन सर्वदा कर सकते हैं। हे पितृगण! पञ्चकोष सब प्रकारके पिण्डोंमें प्रतिष्ठित होकर मेरे स्वस्वरूपको आवरण किये हुए रहते हैं। चाहे निकृष्ट योनि हो, चाहे मध्यम मनुष्ययोनि हो और चाहे उन्नत देवयोनि हो, सबमें अवश्यही पञ्चकोष विद्यमान हैं। भेद इतना ही है कि निकृष्ट योनियोंमें सब कोषोंका समान विकाश नहीं होता। मनुष्यपिण्डमें सब कोषोंका सम्यक् विकाश होजाता है और देवपिण्डमें उसके अतिरिक्त पञ्चकोषकी शक्तियोंका अधिक विकाश होजाता है; परन्तु पञ्चकोषकी समानभूमिका सम्बन्ध सब पिण्डोंके पञ्चकोषोंकी भूमियोंके साथ स्वाभाविकरूपसे बने रहनेसे मेरे उपासक योगिगण, आपलोग, ऋषिगण अथवा देवतागण विशेष विशेष कोषका कार्य विशेष शक्तिके द्वारा एक पिण्डसे दूसरे पिण्डमें कर सकते हैं, इसको निस्संशय सत्य जानें। हे पितृगण! ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंमें देवताओंका वास है और अधः सप्तलोकोंमें असुरोंका वास है। असुरगणकी सृष्टि तमःप्रधान होनेसे असुरराज-

की राजधानी सप्तम अधोलोकमें स्थित हैं; परन्तु दैवीसृष्टि सत्त्व-प्रधान होनेके कारण और उन्नत दैवलोकोंमें राजानुशासनकी आवश्यकता न रहनेसे देवराजकी राजधानी तृतीय ऊर्द्ध्वलोकमें स्थित है, इसमें कोई विचारकी बात नहीं है। विशेषतः हे पितृगण! असुरगण सदा प्रबलता लाभ करके दैवीराज्यमें विप्लव करते हुए सृष्टिसामञ्जस्यमें बाधा डालनेमें सचेष्ट रहते हैं, इस कारणसे भी देवराजकी राजधानी सदा तृतीय ऊर्द्ध्वलोकमें ही स्थित रहती है। हे पितृगण! उन्नत ऊर्द्ध्वलोकोंमें असुरोंका प्रवेश भी सम्भव नहीं है, इस कारणसे भी वहाँ देवराजके राजानुशासनकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती है। पितृगण! मैं सगुणरूपको धारण करके विभिन्न उपासकोंको सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्रदानकेलिये नानारूपसे षष्ठ और सप्तम ऊर्द्ध्वलोकमें सदा विराजमान रहता हूँ। इस कारण उन उन्नत ऊर्द्ध्वलोकसमूहमें राजानुशासनकी तो बात ही क्या है शब्दानुशासनका भी वहाँ अधिकार नहीं है। हे पितृगण! मध्यवर्त्ती मृत्युलोक अतिविचित्र है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका पोषक है उसी प्रकार मृत्युलोक ही चतुर्दश भुवनोंका पोषक है; क्योंकि मृत्युलोकमें कर्म करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होनेके कारण उसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। मोक्षरूपी फलकी उत्पत्ति मृत्युलोकरूपी उद्यानमें होनेपर भी उसका बीज विशुद्ध, याज्ञिक, सब ऋतुओंसे सुशोभित, कर्मभूमि आर्यावर्त्तमें सदा प्राप्त होता है। इस कारण देवतागणकी तो बात ही क्या है, मैं भी अवतार विग्रहको धारण करके आर्यावर्त्तमें आविर्भूत होने की इच्छा रखता हूँ। हे पितृगण! मृत्युलोक भूलोकके अन्तर्गत होनेपर भी भूलोकका विस्तार अधिक है। भूलोकके चार विभाग हैं, यथा—आपलोगोंका पितृलोक, मृत्युलोक, प्रेत-लोक और नरकलोक। वस्तुतः हे पितृगण! आप लोगोंका लोक

ही भूलोकमें सुखप्रद स्वर्गलोक है। मृत्युलोक कर्मभूमि है जिसको कर्मक्षेत्र कहते हैं और प्रेतलोक और नरकलोक घोर दुःखदावानलसे पूर्णलोक हैं। वस्तुतस्तु प्रेतलोक तो मृत्युलोकसे ही सर्वथा संश्लिष्ट है। हे पितृगण! भुवर्लोक आदि अन्यलोक आपके लोकसे परे स्थित हैं, इसी कारण उन ऊर्द्ध्वलोकों तथा अधोलोकोंके वैचित्र्यके साथ आपलोगोंका विशेषरूपसे परिचय नहीं है। हे पितृगण! यद्यपि धर्मराजका अनुशासन इन चारों लोकोंमें विस्तृत है; परन्तु आप लोग यदि प्रयत्न करें तो विना यमदण्डकी सहायता लिये ही सृष्टिके सामञ्जस्यकी सुरक्षामें कृतकार्य्य हो सकते हैं। दण्डके द्वारा प्रजाको धार्मिक बनानेका प्रयत्न तो शुभ ही है इसमें सन्देह नहीं तथापि यदि ऐसा प्रयत्न हो कि प्रजा दण्डार्ह बने ही नहीं तो ऐसा प्रयत्न प्रजाकल्याणके लिये दण्डकी अपेक्षा अधिक कल्याणप्रद ज्ञानियोंके निकट समझा जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, आप लोगोंसे सत्य कहता हूँ। हे पितृगण! मृत्युलोकका अधिकार सर्वलोकहितकर है क्योंकि देवता और असुर सब ही कर्मभूमि मनुष्यलोकसे ही जाकर उक्त योनियोंको प्राप्त करते हैं और उनके भोगावसानसे पतन होने पर पुनः उनको अभ्युदय प्राप्तिके लिये मनुष्यलोकका ही सर्वथा आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। प्रेतलोक तो मृत्युलोकका अङ्गरूप ही है और मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त अन्य दोनों अधः ऊर्द्ध्वलोक जो यथाक्रम नरकलोक और पितृलोक नामसे अभिहित होते हैं, वे सब मृत्युलोकके आधार पर ही स्थित हैं क्योंकि वे सब भोगलोक ही हैं। इस कारण हे पितृगण! मृत्युलोककी सुव्यवस्था होनेसे चतुर्दश भुवनोंकी सुव्यवस्था स्वतः ही हुआ करती है और धर्मके पूर्णस्वरूपके विकाशके द्वारा आत्मज्ञानका प्रकाश होनेका सहजस्थान तो कर्म-भूमि आर्यावर्त्त ही है। ज्योतिषशास्त्रसे यह प्रमाणित है कि अपने सौर्य्यजगत्के सूर्य्य ही अपने ग्रह पृथ्वीके केन्द्ररूप

हैं और इनके प्रकाशसे ही अपने सौर्य्यजगत् अर्थात् स्वर्ग, मर्त्य और पाताललोक आदि प्रकाशित हुआ करते हैं। जैसे अपने सौर्य्यजगत्के केन्द्र अपने सूर्य्य हैं वैसेही और बहुतसे सौर्य्यजगतोंके केन्द्र एक वृहत् सूर्य्य हैं; उसी प्रकार पुनः अगणित वृहत् सौर्य्य-जगतोंके केन्द्र एक विराट् सूर्य्य हैं; इसी प्रकार उत्तरोत्तर विस्तार होता हुआ सृष्टिका अनन्त प्रवाह है। यदि च पूर्वापर विराट् सूर्य्यसे वृहत् सूर्य्य और वृहत् सूर्य्यसे हमारे सूर्य्यका सम्बन्ध है तत्र च हमारे सौर्य्यजगत् ग्रह और उपग्रहगण हमारे सूर्य्यसे ही प्रकाशको प्राप्त होते हैं। अपने सूर्य्यदेव ही अपने सौर्य्यजगत्के केन्द्र हैं, अपने सूर्य्यदेव ही अपने सौर्य्यजगत्रूपी त्रिभुवनमें शक्ति और तेजके प्रकाशक हैं। इसकारण योगी यदि उनमें संयम करें तो उस संयमद्वारा भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकमें जितने भुवन अर्थात् ग्रह उपग्रह आदि हैं उन सबके पदार्थोंका उनको भली भांति ज्ञान हो सकता है। सूर्य्यका अनुभव तीन प्रकारसे करने योग्य है—अध्यात्म सूर्य्यरूप वह है कि जो सब ज्योतियोंकी ज्योति और ज्योतिष्मती प्रवृत्तिका कारणरूप शुद्ध प्रकाश है। अधिभूत सूर्य्य वह सूर्य्यमण्डल है कि जिसका दर्शन स्थूलनेत्रके द्वारा प्रतिदिन हुआ करता है और इनमें परिव्याप्त जो अधिदैवशक्ति है वही अधिदैव सूर्य समझने योग्य है। परिदृश्यमान विषयरूपी यह संसार भी दो भागोंमें विभक्त है, यथा—स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत्। हमारी पृथिवीपर या प्रत्येक ग्रहोपग्रहमें जो स्थूल मृत्युलोक है वही स्थूललोक और सप्त स्वर्ग, सप्तपाताल आदि सूक्ष्मलोक कहाते हैं, सूर्यदेवके अध्यात्म स्वरूपमें संयम करनेसे सूक्ष्म जगत्का सम्पूर्ण ज्ञान और अधिभूत स्वरूपमें संयममें योगीको वही शैली अवलम्बन करनी होती है जैसे ज्ञानमें संयम करनेसे परचित्त ज्ञान होता है। वहाँ जैसे योगी परचित्तका साधारण स्थूलज्ञान लाभ करनेके लिये संयम प्रारम्भ करता है

और विशेष ज्ञान लाभ करनेके लिये पुन; सूक्ष्मराज्यमें प्रकारान्तरसे संयम करता है; उसी प्रकार उन्नत योगी सिद्धिलाभकी इच्छासे प्रथम अपने ब्रह्माण्डके सूर्यमण्डलमें संयम करके योग्यता प्राप्त करता हुआ तदनन्तर उसके अध्यात्मस्वरूपमें संयम करनेसे सूक्ष्म जगतोंको देख सकता है ॥२६॥

ग्यारहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

चन्द्रमामें संयम करनेसे नक्षत्रके व्यूहका ज्ञान होता है ॥२७॥

नक्षत्र किस प्रकारके लोक हैं यदि च इसका विस्तारित विवरण जाननेकी दूसरी रीति है; तथापि नक्षत्र-व्यूहके रूप अर्थात् ताराओंकी राशिश्रेणिका बोध चन्द्रमामें संयम करनेसे ही हो सकता है। अपने सौर्य्यजगत्का सीधा सम्बन्ध तारागणसे ही है; अर्थात् जैसे अपने सूर्य्यसे अपने ग्रहोंका सम्बन्ध है वैसा सम्बन्ध अपने सूर्य्यसे नक्षत्रोंका नहीं है; नहीं तो अपने सूर्य्यमें संयम करनेसे ही सम्पूर्णतः नक्षत्रगणका बोध हो सकता था। नक्षत्रराशि-से अपने चन्द्रमाका कुछ विलक्षण सम्बन्ध है; इसी कारण नक्षत्रराशिके विषयमें यदि योगी कुछ जानना चाहें तो वे चंद्रमामें संयम करनेसे जान सकेंगे। पृथ्वी केवल एक दिनमें प्रायः दो घंटे तक बारह राशियोंको एक-एक बार देखा करती है, किन्तु अपना चन्द्र-उपग्रह प्रतिदिन अपनी पृथ्वी की एकबार प्रदक्षिणा कर लेता है और अपने केन्द्रमें भी कई बार घूमा करता है, सुतरां प्रत्येक दिनमें वह चारों ओरसे राशियोंको कई बार दर्शन कर सकता है; इसीकारण चन्द्रलोकमें संयम करनेसे योगीको राशिचक्रका ज्ञान सुगमरीतिसे भलीभाँति हो सकता है। राशि-विचारमें चन्द्रकी यही विलक्षणता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२७॥

ज्योतिषका यह सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबोंमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुतही कम समयतक रहता है। इस हिसाबसे भी प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अतिघनिष्ट सम्बन्ध है। अतः उसी आकर्षण विकर्षणशक्तिके अवलम्बनसे उक्त ताराव्यूहोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है ॥ २७ ॥

बारहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

जैसे अपने सूर्यसे अपने ग्रहोंका सम्बन्ध है; वैसे ही ध्रुव नामक महासूर्यसे नक्षत्रगणोंका सम्बन्ध है; इस कारण ध्रुवमें संयम करनेसे उन नक्षत्रगणकी गतिका ज्ञान हो सकता है। ध्रुव निश्चल रूपसे उत्तर दिशामें स्थिर रहते हैं; यदि च प्राकृतिक नियम-के अनुसार ग्रह, उपग्रह, महासूर्य्य, नक्षत्र, धूमकेतु आदि सब ग्रह और महाग्रहगण अपनी अपनी रीतिपर अपने अपने पथमें भ्रमण किया करते हैं और उन सबोंका यथावत् भ्रमण करना भी प्रकृतिके दुर्दमनीय नियमसे स्वतःसिद्ध है; तत्रच ध्रुवलोक हमारे सौर्य्य-जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख रहे हैं; जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्नि-शिखाकी उसके स्वभावसे ही चंचल होने पर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं, वैसे ही ध्रुवके चलने फिरनेपर भी उस चलनेका हमारे लोकसे कोई संबंध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेके कारण हमलोग ध्रुवको अचंचल ध्रुव ही निश्चय करते हैं; परंतु ध्रुवसे नक्षत्रोंका

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

निकट सम्बन्ध है, प्रत्येक नक्षत्र और प्रत्येक राशिके अन्तर्गत जितने तारे हैं, वे सब एक एक ब्रह्माण्डके सूर्य हैं, वे सब ब्रह्माण्ड हमारे ब्रह्माण्डके चारों ओरके प्रतिवेशी हैं, इसी कारण राशि और नक्षत्रका सम्बन्ध हमारी पृथिवीके साथ है। यह ज्योतिष-शास्त्र सिद्ध करता है। हमारी पृथिवीकी चारों ओर गोलाकारमें स्थिर हमारे प्रतिवेशी ये ब्रह्माण्डसमूह एक साथ होकर महासूर्यरूपी ध्रुवके चारों ओर घूम रहे हैं। अतः ध्रुवलोकके साथ हमारी पृथिवी अथवा हमारे ब्रह्माण्डका जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध तारागणके साथ होनेके कारण तथा सबका केन्द्र ध्रुवलोक होनेके कारण उसमें संयम करनेसे नक्षत्रोंकी गतिका भली भांति बोध हो सकता हैं ॥ २८ ॥

तेरहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीरके समुदायका ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिनमेंसे छः चक्रोंमें साधना करके सिद्धि प्राप्त होनेपर तब सातवेंमें पहुँचकर मुक्ति प्राप्त होती है; इसलिये योग-मार्गके चार मार्गोंमेंसे लययोगवालोंने इस षट्चक्रभेदन-क्रियाको ही प्रधान मानकर ग्रहण किया है। उन साधनके छः चक्रोंमेंसे नाभिके निकट स्थित जो तीसरा चक्र है, उस चक्रमें संयम करनेसे योगीको शरीरका विशेष-ज्ञान हो सकता है; अर्थात् शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है; वात, पित्त और कफ, ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, बसा (चर्बी) और वीर्य यह सात धातु किस प्रकारसे हैं; नाड़ी आदि कैसी कैसी हैं इसका विस्तारित ज्ञान नाभि-चक्रमें संयम करनेसे प्राप्त होसकता है। नाभि-

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

स्थान प्राणवायु और अपानवायुका अर्थात् ऊर्द्ध्वशक्ति और अधः-शक्तिका मध्यस्थान है; इस कारण उस केन्द्रस्थानमें संयम करनेसे समस्त शरीरके सब पदार्थोंका बोध भली भांतिसे सुगम रीतिपर हो सकता है। वायु-विकारसे ही शरीरमें नाना धातु-विकार हुआ करता है, अर्थात् जीवनी-शक्तिको ही वायुनाम प्राप्त हुआ है, उस जीवनी शक्तिकी अधः और ऊर्द्ध्वगतिका केन्द्र नाभिचक्र है; इसी कारण नाभिचक्रमें संयमद्वारा जीवनी-शक्तिकी गतिके ज्ञानसे शारीरिक सब पदार्थोंका ज्ञान भली भांति हो सकता है॥ २९॥

चौदहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है॥ ३०॥

सकाम व्यक्तियोंकेलिए जो नानाप्रकारकी सिद्धियोंका अनुसन्धान शास्त्रोंमें पाया जाता है उनके अनेक भेद होनेपरभी कहीं-कहीं तैंतीस भेद गिनाये गये हैं। उनमेंसे अष्टसिद्धि मुख्य हैं, जिनका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा। उन तैंतीसोंके नाम स्मृतियोंमें, यथा—

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
वशित्वं गरिमेशित्वे तथा कामावसायिता॥
दूरश्रवणमेवालं परकायप्रवेशनम्।
मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम्॥
वह्निस्तम्भो जलस्तम्भश्चिरजीवित्वमेव वा।
वायुस्तम्भः क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भनमेव च॥
कायव्यूहश्च वाक्सिद्धिर्मृतानयनमीप्सितम्।
सृष्टिसंहारकर्त्तृत्वं प्राणकर्षणमेव च॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः॥ ३०॥

प्राणानाञ्च प्रदानञ्च क्षोभादीनाञ्च स्तम्भनम् ।
इन्द्रियाणां स्तम्भनञ्च बुद्धिस्तम्भनमेव च ।
कल्पवृक्षत्वसत्यानुसन्धाने अमरत्वकम् ॥

अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, वशित्व, गरिमा, ईशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, अभीप्सित सर्वज्ञत्व, बुद्धिस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवित्व, वायुस्तम्भ, क्षुत्स्तम्भ, पिपासास्तम्भ, निद्रास्तम्भ, कायव्यूह, वाक् सिद्धि, ईप्सितमृतानयन, सृष्टिकर्त्तृत्व, संहारकर्त्तृत्व, प्राणाकर्षण, प्राणप्रदान, क्षोभादिस्तम्भन, इन्द्रियस्तम्भन, बुद्धिस्तम्भन कल्पवृक्षत्व, अमरत्व और सत्यानुसन्धान। इनमेंसे क्षुधाजय और पिपासाजय नामक जो दो सिद्धियाँ हैं उनकी प्राप्तिका उपाय कहा जाता है। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके अर्थ जो कण्ठछिद्र है उसहीको कण्ठकूप कहते हैं; वहाँ संयम करनेसे क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति होती है। जैसे तीसरा चक्र नाभिके समस्थानमें स्थिति है, वैसेही पञ्चम चक्र कण्ठकूपके समस्थानमें स्थित है; क्षुत्पिपासाकी क्रियासे उस चक्रका घनिष्टसम्बन्ध है; इस कारण उस कण्ठकूप स्थितिचक्रमें संयम करनेसे योगी भूख और प्यासको जीत सकता है॥ ३०॥

पन्द्रहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है॥ ३१॥

पूर्व जैसा कह चुके हैं कि क्रिया-सिद्धांशके सब विषय श्रीगुरुदेवके श्रीमुखसेही प्राप्त हुआ करते हैं; वैसेही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना आदियोंके स्थान और गति, कूर्म्म आदि नाड़ियोंके स्थान और षट्चक्रका विशेष विवरण इत्यादि क्रिया-सिद्धांश भी श्रीमुखसेही प्राप्त हुआ करता है; क्योंकि प्रत्यक्ष-पदार्थ प्रत्यक्ष-

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥३१॥

शब्दोंसे यदि च कहा जा सकता है, परन्तु प्रत्यक्ष करके दिखा देनेमेंही अभ्रान्तरूपेण अनुभव होसकता है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी नाड़ी है, उसको कूर्म्मनाड़ी कहते हैं; उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है इसी कारण उस कूर्म्मनाड़ीमें संयम करनेसे शरीर स्थिरताको प्राप्त होता है और शरीर स्थिर होनेसे मनभी स्थिर हो जाता है। कण्ठकूपके समस्थानमें मेरुदण्ड स्थित पञ्चमचक्र है, उसीके निकट तथा ऊपर कूर्मनाड़ीका स्थान है। जैसे कूर्म्मदेवने मन्दराचलको धारण किया था उसी प्रकार मस्तकको धारण करनेमें यह नाड़ी सहायक है। इस नाड़ीकी सहायतासे अनेक लययोगकी क्रियाओंका वर्णन लययोगशास्त्रमें पाया जाता है। शरीरत्याग करते समय योगी विचलित न हो, ऐसी बड़ी सन्धिमें अर्थात् मृत्युकी सन्धिमें धैर्य दिलानेकी जो क्रियाएँ हैं सो भी अज्ञाचक्र और कूर्मनाड़ीकी सहायतासे की जाती हैं। मेरुदण्ड ही शरीरको धारण करता है उसमें धृति उत्पन्न करनेके लिए भी कूर्मनाड़ीकी शक्ति सर्वप्रधान है। अतः मस्तिष्कके साथ, मेरुदण्डके साथ और समस्त शरीरकी वायवीय शक्तिके साथ विशेष सम्बन्ध रहनेसे उक्त नाड़ीमें संयम करनेसे स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरका धैर्य उत्पन्न होता है। आचार्य्यगणने लिखा है कि जैसे सर्प अथवा गोह अपने अपने बिलमें जाकर चंचलता और क्रूरताको त्याग देता है, वैसेही योगीका मन इस कूर्मनाडीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चंचलताको त्याग कर देता है ॥ ३१ ॥

सोलवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धगणोंका दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है, उसको ब्रह्मरंध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरंध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश दृष्टिगोचर होता है; उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध महात्मा-गणका दर्शन हुआ करता है। जिस सात्त्विक प्रकाशका पूर्व वर्णन हो चुका है, वह प्रकाश ब्रह्मरंध्रमें भी दिखाई दिया करता है; ब्रह्मरंध्र एक ऐसा स्थान है कि जहाँ प्रकाशका अंश नित्य विराजमान रहता है; बहिःप्रकाशकी नित्यताके संग अन्तःप्रकाश-की नित्यताका नित्य सम्बन्ध है। जितने सिद्ध महात्मागणका उल्लेख महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं, उनसे यह तात्पर्य्य है कि ऐसी विभूतिधारी सिद्ध महात्मागण अर्थात् जो जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके मङ्गलार्थ ऐशी-शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण किया करते हैं। सिद्धमहात्मागण चतुर्दश भुवनमेंही विराजते हैं। जैसे ऊपरके सात लोगोंमें देवता विराजते हैं, जैसे भूलोकके अन्तर्गत पितृलोकमें पितृगण विराजते हैं; वैसे ही ज्ञानराज्यके प्रवर्त्तक ऋषिगण चतुर्दश भुवनोंमेंही विराज सकते हैं। उनकी गति सब भुवनोंमेंही अप्रतिहत है। वैसे सिद्ध महात्मा और ऋषिकोटिके महापुरुष उच्चतर लोकोंमें प्रायः रहनेपर भी स्वइच्छासे भुवनान्तरोंमें भ्रमण करते हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्डका समष्टि-व्यष्टि-विचारसे एकत्व सम्बन्ध रहनेसे ब्रह्मरन्ध्रकी ज्योतिमें उनका दर्शन मिल सकता है। बहिर्ज्योतिसे अन्तर्ज्योतिका सम्बन्ध होनेके कारण, ब्रह्मरंध्रस्थित ज्योतिमें संयम करनेसे साधकको उन महात्मागणका दर्शन होजाता है ॥ ३२ ॥

सतरवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

प्रातिभमें संयम करनेसे संपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

प्रतिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

योगसाधन करते करते योगिगणको ध्यानावस्थामें एक तेजोमय तारा दिखाई दिया करता है, इसी तारेका नाम प्रातिभ है। इस ज्योतिर्मय प्रातिभ तारेमें संयम करनेसे योगीको पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है कि चंचल-बुद्धि मनुष्यगण प्रातिभका दर्शन नहीं कर सकते; भगवान्‌की और गुरुकी कृपासे जब साधक योगमार्गमें अग्रसर होने लगता है, तब ही उसकी बुद्धि ठहरने लगती है; इस प्रातिभका दर्शन होना उसके स्थिर बुद्धि होनेका पूर्व लक्षण है। इस कारण प्रातिभमें संयम करनेसे योगी पूर्णज्ञानको शीघ्र लाभ कर सकता है। जैसे योगयुक्त व्यक्तिके मनके स्थिर होनेका लक्षण नादश्रवण है क्योंकि जब योगीका मन ठहरने लगता है तभी उसको प्रणवध्वनिरूप नादका श्रवण उसके पिण्डमें ही होता है; ठीक उसी प्रकार योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर सत्त्वगुणको प्राप्त होने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगीको प्रातिभका दर्शन और उसके आन्तर राज्यमें प्रातिभकी स्थिति होने लगती है। मनके स्थैर्यके लक्षण नादश्रवणसे जैसे उच्चकोटिकी सिद्धियोंका सम्बन्ध है उस प्रकार प्रातिभकी स्थिरतासे बुद्धिसम्बन्धीय सिद्धियोंका सम्बन्ध है। इसी प्रातिभको स्थिर करके उसमें संयम करनेसे योगी यथाक्रम ज्ञानराज्यकी सब सिद्धिओंको प्राप्त कर सकता है। इसी प्रातिभसिद्धिद्वारा पूज्यपाद महर्षिगण मन्त्रद्रष्टा बनते थे और ज्ञानराज्यको करतलामलकवत् कर देते थे ॥ ३३ ॥

अठारवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है ॥३४॥

षट्-चक्रोंमेंसे चतुर्थ-चक्र हृदयके समस्थानमें स्थित है, उसको हृत्कमल भी कहते है, इस कमलसे अन्तःकरणका एक विलक्षण

हृदये चित्तसंवित् ॥३४॥

सम्बन्ध है। इसी हृदय-चक्रमें संयम करनेसे योगीको अपने अन्तःकरणका सम्पूर्ण ज्ञानलाभ हो सकता है। पूर्वसूत्रमें द्विदलमें प्रातिभके दर्शन और उसमें संयमके द्वारा बुद्धिराज्यके विषयोंका ज्ञानलाभ करनेका मार्ग बताकर अब इस सूत्रद्वारा हृदयचक्रमें संयम करके अपने मनोराज्यके ज्ञान-लाभका उपाय महर्षि कह रहे हैं। चित्त और मन दोनों पारस्परिक सम्बन्धसे युक्त हैं। चित्तमें नवीन और प्राचीन सब कर्मोंका संस्कार रहता है और चित्तके नचानेसे मन नाचता है अतः मनकी क्रियामें चित्त ही प्रधान है। चित्त अपने ही सूक्ष्मशरीरका अङ्ग होने पर भी उसका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। चित्तके साथ विलक्षण सम्बन्ध रखनेवाले इस चक्रमें जब योगी संयम करता है तब वह अपने चित्तका पूर्णज्ञाता बन सकता है ॥३४॥

उन्नीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त भिन्न है। इन दोनोंके अभिन्नता ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है। उससे भिन्न स्वार्थ अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्ब में संयमसे पुरुषका ज्ञान होता है ॥३५॥

रज और तमोगुणकी प्रधानतासे जो बुद्धिसत्त्व है उसमें वैधर्म्यभावकी अधिकताके कारण पुरुषसे वह अत्यन्त विभिन्न है और सत्त्वगुणयुक्त बुद्धिपर आत्माका प्रतिबिम्ब रहनेपर भी परिणामादि विकारके वशवर्त्ती होनेके कारण वह भी कूटस्थ पुरुषसे अत्यन्तासंकीर्ण अर्थात् अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थ-संयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

अत्यन्तासंकीर्ण बुद्धि पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब सम्बन्धद्वारेण अभेदज्ञान है वही पुरुषनिष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोगरूप प्रत्यय पदार्थ है अर्थात् पुरुषके हेतु ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है जो बुद्धि प्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है; उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों स्वतन्त्र हैं। दोनोंके सम्बन्धसे दृश्य-रूपी जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वही द्वैतरूप बन्धनका हेतु है। पुरुष निर्लिप्त और निर्विकार है; परन्तु प्रकृति पराधीना, लिप्ता, परिणामिनी और विकारमयी होनेसे उसका प्रथम परिणामरूपी महत्तत्त्व ही बुद्धिपदवाच्य है। महत्तत्त्वरूपी बुद्धि ही निर्लिप्त पुरुषके फँसानेकी हेतु बनती है। वह महत्तत्वरूपी बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त भिन्न होनेपर भी जब अघटनघटनापटीयसी प्रकृतिके स्वस्वभावसे पुरुष और बुद्धिका अभेदभाव प्रतीत होने लगता है तभी भोगरूपी बन्धन दशाकी उत्पत्ति होती है। यही सृष्टिका रहस्य है, यही बन्धनदशाका वैज्ञानिक स्वरूप है। अस्तु महत्त-त्वरूपी बुद्धिकी स्वतन्त्रता न होनेसे वह परार्थ ही है; क्योंकि पुरुषके लिये ही प्रकृतिका सब परिणाम हुआ करता है। पुरुषकी स्वार्थदशा उससे भिन्न है अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि अविद्याजनित जो भोगकी परार्थदशा है उससे विलक्षण, विद्याकी कृपासे उत्पन्न, जैव अहंकारसे शून्य जो चिद्विलासकी एक स्वाभाविक दशा है, उसीको स्वार्थदशा कह सकते हैं। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभावमय, जैव अहंकारसे शून्य, आत्म-ज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसीमें जब योगी संयम करता है तो उसको पुरुषके स्वरूपका बोध हो जाता है। यह सिद्धि सब प्रकारकी सिद्धियोंमें उत्तम परासिद्धिकी हेतु है जिसके लिये स्मृतिमें वर्णन है—

अतो विज्ञवरा अत्र प्रकृतेर्मे दशाद्वये।
मम सिद्धिस्वरूपस्य विकाशोऽपि द्विधा भवेत्॥
अपरा सिद्धिरेकास्ति द्वितीया च पराभिधा।
नैकोक्तसिद्धिरूपाणि नानारूपाणि बिभ्रती॥
सिद्धिर्मेऽस्त्यपरा नाम्नी नात्र वः संशयो भवेत्।
ज्ञानाधिकारिणो विप्राः! पूज्यासिद्धिः परामिधा॥
चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिताऽद्वैतविधायिनी।
स्वरूपानन्दसन्दोहद्योतिनी सा प्रकीर्तिता॥

इसी कारण हे विज्ञवरो! मेरी प्रकृतिकी परापरा नाम्नी इन दो दशाओंमें मेरे सिद्धिके स्वरूपका विकास भी द्विविध होता है। एक परासिद्धि और दूसरी अपरासिद्धि। सिद्धिके जो अनेक रूप पहले कहे गये हैं वह नानारूपधारिणी सिद्धि मेरी अपरासिद्धि है, इसमें आपलोगोंको सन्देह न होना चाहिये। हे ज्ञानके अधिकारी ब्राह्मणो! जो पूज्या परानाम्नी सिद्धि है वह चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिता अद्वैतकारिणी और स्वरूपानन्दसन्दोह-प्रकाशिनी कही गयी है॥ ३५॥

पूर्वसूत्र कथित परासिद्धिके उपयोगी योग्यताको प्राप्त करके योगीकी व्युत्थानदशा होनेपर जिन सिद्धियोंको प्राप्त करना सम्भव है सो बताया जाता है—

प्रतिभा, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्त्तानामक षट्सिद्धियाँ योगीको प्राप्त होती हैं॥ ३६॥

पूर्व सूत्रमें जो स्वार्थसंयमजनित सिद्धिका वर्णन कर चुके हैं उसके अनन्तर अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार अवान्तरफलोंका वर्णन कर रहे हैं। पूर्व सूत्रमें कही हुई रीतिपर जो अहंकार-रहित चिन्मात्र स्वार्थप्रत्यय है उसमें योगी संगम करता हुआ जब

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

आगे बढ़ता है तो योगीको छः सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है जिसकी प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्त्ता नामसे महर्षिजीने कथन किया है। प्रातिभसिद्धिसे योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट, सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका भी ज्ञान हो जाता है और श्रावणसिद्धिसे दिव्य-श्रवण-ज्ञानकी पूर्णता, वेदनासिद्धिसे दिव्य-स्पर्शज्ञानकी पूर्णता, आदर्शसिद्धिसे दिव्यदर्शन ज्ञानकी पूर्णता, अस्वादसिद्धिसे दिव्यरसज्ञानकी पूर्णता और वार्त्तासिद्धि-से दिव्यगन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ये सब सिद्धियां स्वार्थसंयमका आनुषङ्गिक फल है तात्पर्य यह है कि योगसाधनद्वारा स्वरूपज्ञानरूपी पुरुषज्ञानकी उपलब्धि हो जाने पर भी पूर्वसंस्कारजन्य व्युत्थानदशाको योगी जब प्राप्त करता है तो उसको इस प्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति स्वतः ही हो सकती है। ये योगिराजके लिये एक प्रकारकी स्वाभाविक सिद्धियाँ हैं। स्वस्वरूपको प्राप्त, पुरुषकी उपलब्धिमें समर्थ, आत्मज्ञानी योगिराजकी तीन प्रकारकी दशाओंका वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है। वे पूर्वसंस्कारजन्य होती हैं। इन अवस्थाओंके तारतम्यानुसार पूर्वकथित व्युत्थानदशाका भी तारतम्य होता है। अवश्य इन सिद्धियोंकी प्राप्ति प्रारब्धसंस्कारजनित होती है॥ ३६॥

योगीको सावधान किया जाता है—

ये सब समाधिकी विघ्नकारक हैं परन्तु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं॥ ३७॥

ये सब अर्थात् पूर्वकथित स्वाभाविक सिद्धियाँ जो पूर्वसूत्रमें वर्णन कर आये हैं, वे सब सिद्धियाँ ही योगिगणको मुक्तिपदके प्राप्त करनेमें विघ्नकारी हैं। चाहे जीवगणका पार्थिव ऐश्वर्य्य हो,

---

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

चाहे देवतागणकी दैवी-सिद्धि हो, यह सब ही मायामय प्रकृतिकी विचित्र लीला है; परन्तु सबकी रुचि एकसी नहीं होती और जब तक वासना रहे तब तक उसका पूरा करना भी अवश्य है, इस कारण वे चञ्चलचित्त योगी जो बीचमें ठहर कर सिद्धिकी अपेक्षा करते रहेंगे, उनके लिए ही दयामय महर्षि सूत्रकारने इस अध्याय-में सिद्धियोंके नाना भेद लिखे हैं। विशेषतः पूर्वकथित स्वाभाविक सिद्धियोंका तो व्युत्थान दशामें योगीको स्वतः ही प्राप्त हो जाना सम्भव है। ये सब प्राकृतिक परिणामजनित और क्षणभङ्गुर होनेसे समाधिके नित्यानन्द शुद्ध अद्वैत-दशामें विघ्न करनेवाली हैं। इस कारण महर्षि सूत्रकारने योगिराजको अधिक सावधान करनेके लिये इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यद्यपि पुरुषकी उपलब्धि होनेपर योगिराज प्रकृतिकी लीलामें पुनः साधारणतः फँस नहीं सकता है; परन्तु व्युत्थानदशाजनित पूर्वकथित सिद्धियोंमें अधिक आकृष्ट होनेपर जड़भरतकी नाईं कदाचित् विपन्न हो सकता है। इस कारण प्रधानरूपसे उन्नत योगीकी सावधानताके लिए यह सिद्धान्त कहा गया है। वस्तुतः सिद्धि चाहे ऐहलौकिक हो, चाहे पारलौकिक हो, चाहे पार्थिव हो और चाहे अलौकिक हो सभी मुमुक्षके लिए हेय हैं। इस विषयमें योगशास्त्रोंका यह तात्पर्य है, यथा—श्रीधीशगीतामें—

अघट्यघटनायां या प्रकृतिर्मे पटीयसी।
जगद्विमोहिनी सैव महामाया पराभिधा॥
महतो ज्ञानिनश्चैवं योगिनोऽपि तपस्विनः।
सिद्धिसार्थैरनेकैर्हि मोहयन्ती निरन्तरम्॥
आवागमनचक्रेऽस्मिन् स्वविलासात्मके मुहुः।
मोक्षमार्गं च रुन्धाना घूर्णयेत समन्ततः॥
ब्राह्मणाः! प्रकृतिर्मेऽसौ महामाया पराभिधा।
किन्तु मे ज्ञानिनो भक्तान् मोहितुं न कदाप्यलम्॥

कुलाङ्गनानां साध्वीनामङ्गानामिव दर्शनम् ।
ज्ञानिनां मम भक्तानां भवेत् सिद्धिप्रकाशनम् ।।
पुरुषांश्चापरान् काँश्चिद् यथा काश्चिद्कुलाङ्गनाः ।
दर्शनाय निजाङ्गानां न क्षमन्ते कदाचन ।।
भवन्त्युत्कण्ठिताः किन्तु सर्वथा जनसंसदि ।
दर्शनाय निजाङ्गानां निर्लज्जाः कुलटाः मुहुः ।।
सर्वसामर्थ्यवन्तोऽपि मद्भक्ता ज्ञानिनस्तथा ।
सिद्धिं स्वां नैव भो विप्राः ! द्योतयन्ते कदाचन ।।
योगिनो भक्तिहीनास्तु लक्ष्यहीनास्तपस्विनः ।
साधका उग्रकर्म्माणो ज्ञानहीनास्तथा द्विजाः ।।
स्वीयाः सिद्धीर्वणिग्वृत्त्या सम्प्रकाश्य पतन्त्यलम् ।
प्रकाश्याः सिद्धयो नैव सर्वथाऽतो महात्मभिः ।।
कदाचित् भ्रातरः पुत्रा आत्मीयाः स्वजना उत ।
दैवादनिच्छयेक्षेरन् यथाङ्गानि कुलस्त्रियाः ।।
ज्ञानिनां मम भक्तानां सिद्धीनां वैभवं तथा ।
प्रकटत्वं हठाद्याति दैवाल्लोके कदाचन ।।

जो अघटघटना पटीयसी जगद्विमोहिनी मेरी प्रकृति है और जिसका दूसरा नाम महामाया है वही तपस्वियोंको योगियोंको और बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी नानासिद्धियोंके द्वारा ही निरन्तर विमोहित करके मुक्तिमार्गको रोकती हुई अपने विलासस्वरूप इस आवागमनचक्रमें चारों ओर वार वार घुमाया करती है । परन्तु हे ब्राह्मणो ! महामाया नाम्नी वह मेरी प्रकृति मेरे ज्ञानी भक्तोंको कदापि विमोहित नहीं कर सकती । मेरे ज्ञानी भक्तोंका सिद्धियों-को प्रकाश करना सती कुलकामिनियोंके अङ्ग दिखानेके समान होता है । जिस प्रकार हे विप्रो ! कोईभी कुलकामिनियाँ कदापि किन्हीं परपुरुषोंको अपने अङ्गोंको नहीं दिखा सकतीं परन्तु निर्लज्जा कुलटा अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जनसमाजमें सब

प्रकारसे अपने अङ्गोंको वार वार दिखलानेके लिये उत्कण्ठित रहती हैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तगण सर्वसमर्थ होनेपर भी अपनी सिद्धिको कदापि प्रकट नहीं करते; किन्तु हे ब्राह्मणो ! लक्ष्यहीन तपस्वी; भक्तिहीन योगी और ज्ञानहीन उग्रकर्मा साधक वणिक्वृत्तिसे अपनी सिद्धियोंको प्रगट करके अत्यन्त पतित होते हैं इसलिये सर्वथा महात्माओंको सिद्धियाँ प्रकाशित नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार भ्राता पुत्र आत्मीय और स्वजन अनिच्छासे कभी कभी कुलकामिनीका अङ्गदर्शन दैवात् कर लेतेहैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तोंका सिद्धिवैभव दैवात् कभी कभी जगत्‌में हठात् प्रकाशित हो पड़ता है; परन्तु उन्नत निष्काम मुमुक्षुगणको कदापि मुँह फेर करके भी सिद्धियोंकी ओर देखना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥

बीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और संयमद्वारा चित्तकी प्रवेशनिर्गममार्गनाडीके ज्ञानसे चित्त पराये शरीरमें प्रवेश कर सकता है ३८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार और प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन कर रहे हैं, चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्ति होनेसे क्रमशः स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरका यह बन्धनशिथिल हो जाता है और इसी प्रकार संयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानद्वारा स्वतः ही सूक्ष्मशरीरको कहीं पहुँचा देनारूप प्रवेशक्रिया और पुनः सूक्ष्म-शरीरको ले आनारूप निर्गम क्रियाका बोध योगीको हो जाता है। तव योगी जब चाहे तव अपने शरीर

बंधकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

से निकल कर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। योगी पहले सविकल्प समाधिमें अग्रसर होता हुआ वितर्क और विचाररूप समाधि भूमियोंको अतिक्रम करके जब अस्मितानुगतसमाधिमें पहुँच जाता है तब वह इस अधिकारकी योग्यताको प्राप्तकर सकता है। उस समय यम नियमादिसे उत्पन्न आत्मबलको प्राप्त करके शारीरिक द्वन्द्व और शारीरिक आसक्तिको जय कर लेता है, तब यदि उस योगीमें इस प्रकारकी सिद्धिकी वासना रहे तो आसन-जयद्वारा स्थूलशरीरको जय करके प्राणायामकी शक्तिसे प्राणजय करता हुआ प्राणमयकोषसहित सूक्ष्मशरीरको वर्त्तमान स्थूल-शरीरसे निकाल कर प्राणशक्ति द्वारा दूसरे शरीरमें ले जाने तथा वहाँसे ले आनेकी योग्यताको योगी प्राप्त कर लेता है। जैसे रानी मक्खी जहाँ जाती है वहाँ उसके साथ और सब मधुमक्खियाँ भी चली जाती हैं, वैसेही जीवके दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेसे उसके इन्द्रियगण भी उसके साथ रहते हैं। दूसरेके शरीरमें जाकर योगी अपने शरीरके समान ही सब व्यवहार कर सकता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं, जब उनकी भोगतृष्णा मिट जाती है तब उनको सब स्थानोंमें ही आनन्द मिलता है, क्योंकि भोगके साधक कर्म शिथिल हो गये हैं इस कारण उनको सर्वत्र स्वतंत्र भावसे सुखको प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार संयमक्रियासे बन्धनकी शिथिलता हो जानेसे योगीको परकाय-प्रवेशकी शक्ति प्राप्त होजाती है ॥ ३८ ॥

इक्कीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कंटक आदि पदार्थोंका स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत होजाता है ॥ ३९ ॥

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

वायुसे ही शरीरकी स्थिति है, सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियोंमें रहनेवाला वायु पाँच भागमें विभक्त किया गया है, यथा—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नासिका द्वारा गति करनेवाला नासिकामूलसे नाभि तक व्यापी जो वायु है उसका नाम प्राणवायु है। नाभिके अधोभागमें, नाभिसे लेकर पदके अंगुष्ठतक स्थितवायुको अपानवायु कहते हैं। यह प्राण और अपान वायु दोनों परस्पर एक दूसरेको खैंचते हुए प्राण-क्रियाको चलाया करते हैं। नाभिके चारों ओर दूर तक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी-क्रियाको साम्यवास्था-में रखता है उस वायुको समानवायु कहते हैं। ऊर्द्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिर तक व्यापक जो वायु है वही उदानवायु कहाता है और समस्त शरीरमें व्यापक साधारण-वायु व्यानवायु कहाता है। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, कण्ठमें उदान और समस्त शरीरमें व्यानवायु ढूढ़नेसे तत्काल अनुभव होजाते हैं। उदानवायु ऊर्द्धवगमनकारी है इसकारण उसमें संयम करनेसे शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता, अर्थात् इतना हलका रहता है कि न तो जलमें डूबता है, न पङ्कमें फँसता है और न कांटे आदिसे छिदता है। प्राणवायुके द्वारा जिस प्रकार स्थूल-शरीर जीवित रहता है और स्थूलशरीरकी सब क्रियाएँ यथावत् निर्वाहित होती हैं, उदानवायुके द्वारा उसी प्रकार सब स्नायुओं की क्रियाएँ नियमित रहती हैं, मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रह कर चेतनाकी क्रिया बनी रहती है और इसके अतिरिक्त उदानवायु द्वारा प्राणमयकोश सहित सूक्ष्म शरीरपर आधिपत्य बना रहता है इस कारण उदानवायुके जयसे इस प्रकारकी सिद्धिकी प्राप्ति होती है। उदानवायुको अधीन करनेसे योगी उत्क्रान्ति अर्थात् इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्रमणरूप इच्छामृत्युको भी प्राप्त कर

सकता है। यहाँ इच्छामृत्युसे यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार भीष्म पितामहने अपनी मृत्युको सन्निकट देखकर भी अपनी इच्छासे उत्तरायणकी प्रतीक्षा की थी वैसे ही कालका परिवर्त्तन योगी कर सकता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मको हटाकर तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मको दृष्टजन्मवेदनीयमें परिणित करके जो आयुको बढ़ानेकी शैली है वह सिद्धिकी शैली और प्रकारकी है। अतः यहाँ इच्छामृत्युसे पितामह भीष्मकी इच्छामृत्यु सदृश ही समझना उचित है॥ ३९॥

बाईसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

समान-वायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है॥४०॥

शारीरिक तेजश्शक्ति ही जीवनीक्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। जब समानवायुसे भी इस शारीरिक समानताका प्रधान सम्बन्ध है, तब वह तेजश्शक्ति भी समानवायुके आधीन है ऐसा समझना उचित है। इस कारण पूर्वोक्त समानवायुको संयम द्वारा जीत लेनेसे योगी तेजःपुंजमय हो जाता है। समान-वायु समता उत्पन्न करता है। जहाँ समता है वहीं अन्य प्रकारकी शक्तियोंका आकर्षण हो सकता है। जैसे मर्यादावान् समभावापन्न समुद्र पृथ्वीकी सब जलराशियोंको नदीरूपसे आकर्षण करता है, जैसे समदर्शी सूर्य अपनी समभावापन्न किरणोंसे असमभावसे इतस्ततः विकीर्णरसोंको खींचता है; उसीप्रकार पिण्डस्थित समान-वायु यथार्थरूपसे नियोजित होने पर चारों ओर विकीर्ण तेजश्-शक्तिको आकर्षण करके योगीके शरीरको ज्योतिर्मय बना देता है और तब जैसे देवता आदिकोंके शरीरसे तेजोमय किरण प्रकाशित

समानजयाज्ज्वलनम्॥४०॥

हुआ करते हैं; यदि योगी इच्छा करे तो उस प्रकारके देवतेजको समानवायुके जीतनेसे प्राप्त कर सकता है ॥४०॥

तेईसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्यश्रवण प्राप्त होता है ॥४१॥

समस्त प्राणियोंकी कर्णेन्द्रियका आधार आकाश ही है; उसी प्रकार सम्पूर्ण शब्दोंका भी आधार आकाश ही है। एक स्थानमें शब्द उच्चारित होनेसे जो वह शब्द दूसरे स्थलमें पहुँचता है इसका कारण आकाश ही है। क्योंकि दोनों स्थानोंके बीचमें आकाशके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; इस कारण शब्दका आधार आकाश है यह सिद्ध हुआ। ऐसा देखनेमें आता है कि जब तक कर्णेन्द्रियके सङ्ग आकाशका सम्बन्ध रखा जाता है तबही तक शब्द सुनाई दिया करता है; परन्तु और किसी प्रकारसे वह सम्बन्ध छिन्न कर देनेसे अर्थात् श्रवण-इन्द्रिय बन्द कर लेनेसे पुनः शब्द नहीं सुनाई देता, इससे यह प्रमाणित है कि आकाशसे श्रवण इन्द्रियका भी साक्षात् सम्बन्ध है और पूर्वोक्त कारणसे आकाशका आवरणराहित्य भी सिद्ध होता है और उसका सर्वव्यापी होना तो सिद्ध ही है, इस कारण कर्णेन्द्रिय और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है उसमें संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवण शक्तिको प्राप्त होता है; अर्थात् तब वह सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म, छिपे हुएसे अतिछिपे हुए, दूरवर्तीसे अतिदूरवर्ती और नाना प्रकारके दिव्यशब्दोंको श्रवण कर सकता है। जहाँ जो कुछ शब्द हुआ है, होता है या होगा उन सबोंके साथ आकाशका सम्बन्ध है क्योंकि शब्द आकाशका गुण है। जैसे दाहिकाशक्तिके साथ

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

अग्निका सम्बन्ध है वैसे ही शब्दके साथ आकाशका सम्बन्ध है। गुणकी स्थिति गुणीमें ही रहती है। दिव्य और लौकिक कोई शब्द हो आकाश उसका आधार है। उस आकाशकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सीमाके साथ पिण्डस्थित श्रोत्रेन्द्रियका साक्षात् सम्बन्ध है। उस सीमामें स्थित आश्रयाश्रयिसम्बन्धमें योगी जब संयम करेगा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म दिव्य श्रवण उसको स्वतः ही प्राप्त होगा इसमें सन्देह ही क्या है ॥४१॥

चौबीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और लघु अर्थात् रुई आदि पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है ॥४२॥

जहाँ जहाँ शरीर जाता है वहाँ वहाँ सर्वव्यापी आकाशका होना सिद्ध ही है; और आकाश इस चलने फिरने रूप क्रियामें अवकाश देनेवाला है, अर्थात् आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है और आकाश ही सब भूतोंसे हलका और सर्वव्यापी है, इस कारण योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें संयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलकेसे हलके पदार्थोंकी धारण भी रखता है, तो इस क्रियासे उसमें हलकेपन की सिद्धि होजाती है। स्थूलशरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे यथेच्छ शरीर लेजानेकी शक्ति और उस समय सबसे अधिक हलके पदार्थको धारणसे यथेच्छ हलके हो जानेकी योग्यता योगीको हो जाती है अर्थात् योगी तब जहाँ चाहे तहाँ ठहर सकता है; आकाश-पथमें जहाँ चाहे तहाँ भ्रमण कर सकता है। इसी सिद्धिद्वारा महात्मा आकाशमें

कायाकाशयोस्सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

विचरण करते हुए एक स्थानसे स्थानान्तरमें भ्रमण किया करते हैं ॥ ४२॥

पच्चीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम महाविदेह-धारणा है; उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

स्थूलशरीरसे बाहर, शरीरके आश्रयकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे महाविदेह कहते हैं; क्योंकि उससे अहंकारका वेग दूर हो जाता है । उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है उस संयमसे प्रकाशका ढकना दूर होजाता है; अर्थात् सात्त्विक अन्तःकरणको ढकनेवाले अविद्या आदि कर्म और क्लेश तब लय हो जाते हैं । इससे अभिप्राय यह है कि जब तक शरीरका अहंकार रहता है तबतक मनकी बाह्यवृत्ति रहती है; परन्तु जब शारीरिक अहंकारको त्याग कर स्वतंत्रभावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है तब ही योगीका अन्तःकरण मलरहित और निस्संग रहता है अर्थात् शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाह्यवृत्ति है उसका नाम कल्पिता है, परन्तु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविक और निराश्रयी बाह्यवृत्ति है, वह अकल्पित कहाती है। इन दोनों वृत्तियोंमेंसे कल्पितवृत्तिको छोड़कर अकल्पित महाविदेह-वृत्तिका साधन किया जाता है जिसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप जो बुद्धि है उसका पूर्ण प्रकाश होजाता है। इस समयमें अहङ्कारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मका फल, इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त होजाता है, तमोगुण और रजोगुणसे उत्पन्न हुए सब आवरण तब अलग रहजाते हैं। यह उन्नत-अवस्था है। पूर्वसूत्रमें महर्षि सूत्रकारने स्थूलशरीरको यथेच्छ लेजानेकी

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

सिद्धिका वर्णन करके अब इस सूत्रद्वारा अन्तः-कारणको यथेच्छ लेजानेकी सिद्धिका वर्णन किया है। पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने सिद्धिसमूहको तीन भागमें विभक्त किया है। प्रथम प्रकारकी सिद्धियोंको पूर्व ही भलीभांति वर्णन करके, पुनः सिद्धियोंमें योगीको फँसनेका निषेध करके तत्पश्चात् मध्यम सिद्धियोंका वर्णन किया है। अब आगे उत्तम सिद्धियोंका विविध उपाय वर्णन करेंगे ॥ ४३ ॥

छब्बीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

पञ्चतत्त्वोंकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्व, ये पाँच अवस्थाविशेष हैं इनमें संयम करनेसे भूतोंपर जय लाभ होता है ॥ ४४ ॥

सृष्टिप्रकाशिनी अनादि-कारणरूपा प्रकृतिका विस्तार पञ्चभूत हैं; इन पञ्चभूतोंके सम्बन्ध और विस्तारसे ही यावन्मात्र सृष्टि है इसकारण इन पाँचोंके जयसे प्रकृतिका जय होता है यदि सूक्ष्म विचार करें तो पञ्चभौतिक सृष्टिको पांच भागमें विभक्त कर सकते हैं। यथा-स्थूलावस्था, स्वरूपावस्था, सूक्ष्मावस्था, अन्वयावस्था और अर्थवत्त्वावस्था। भूतोंकी स्थूल-अवस्था वह है जो दृष्टि-गोचर हुआ करती है, दूसरी अवस्था वह है जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो, यथा-उष्णता तेजमें, तीसरी अवस्था तन्त्रमात्रा-ओं की है, चतुर्थ अवस्था व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है और पञ्चम अवस्था फलदायक होती है। इसको और प्रकारसे समझा जाय कि पृथिवी आदि स्थूलभूत जो अनुभवमें आवे, यथा-स्थूल-पृथ्वी, यह प्रथम अवस्था हैं; द्वितीय जैसे उष्णतासे तेज अनुभव किया जाता है, यह दूसरी अवस्था है, भूतोंकी सूक्ष्म-अवस्था अर्थात् पञ्चतन्मात्रा, जैसे शब्दसे आकाशका अनुभव

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

करना, यह तीसरी अवस्था है, तत्त्वोंकी ख्याति-प्रकाश-क्रिया और स्थित-स्वभाववाले जो गुण हैं, वह अति-सूक्ष्म अवस्था चतुर्थ अवस्था है और पंचभूतोंको सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म भोग-मोक्ष-दायक शक्तिमान् अवस्था ही पंचम अवस्था कहाती है; इनमेंसे प्रथम तीन अवस्था स्थूल और पिछली दो अवस्था सूक्ष्म होनेके कारण स्थूल अवस्था तो साधारण बुद्धिगम्य और सूक्ष्म-अवस्था योग-बुद्धिगम्य है। जब योगी पंचभूतोंकी अवस्थाओंको भलीभाँति पहचान कर उनके विचारसे भूतोंमें संयमद्वारा उनको जय कर लेता है तो प्रकृति आपही आप उस योगीके अधीन होजाती है, जैसे गौ अपने आपही बच्चेको दूध पीलाया करती है वैसे पञ्चभूतके जयसे प्रकृति बशीभूत होजानेपर वह प्रकृति माता अपनेआपही उस योगी-की सेवामें तत्पर होजाती है। प्रकृतिजय होनेसे अद्भुत ऐशी-सिद्धिकी प्राप्ति होती है, जैसे सर्वशक्तिमान् भगवान् अथवा उनकी साक्षात् विभूति ब्रह्मा, विष्णु, महेशके अधीन उनकी प्रकृति हो जाती है। येही सब सिद्धियाँ ऐशीसिद्धियाँ कहाती हैं। उसका विस्तारित विवरण आगे करेंगे ॥ ४४ ॥

अब भूतजयफल वर्णन किया जाता है:—

इसके अनन्तर अणिमादि (अष्टसिद्धि) सिद्धियोंका प्रकाश, शरीर सम्बन्धी सब सम्पतियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिधात होजाता है ॥ ४५ ॥

भूतजयानन्तर आठ तरहकी सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, यथा-अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व। अणिमा-सिद्धि उसे कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

हो अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर सके। लघिमा-सिद्धि उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल-शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहाँ भ्रमण कर सके। महिमा-सिद्धि वह कहाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। गरिमा-सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही अपने शरीर-को चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। प्राप्ति-सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें अर्थात् किसी ग्रह, किसी उपग्रह, किसी सूर्य अथवा किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। प्राकाम्य-सिद्धि वह कहाती है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तब ही वह पदार्थ उसको प्राप्त होजाय, अर्थात त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। वशित्व-सिद्धि वह कहाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पंचभूत और समस्त भौतिक पदार्थ आजाते हैं और वह चाहता है वैसेही पंचभूतोंसे काम ले सकता है, परन्तु वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं आता और ईशित्वसिद्धि वह कहाती है कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है; अर्थात् यदि वह नवीन सृष्टि कुछ करना चाहे सो भी कर सकता है। यही आठों प्रकारकी सिद्धियाँ अष्ट-सिद्धि कहाती हैं, ये सिद्धियाँ ईश्वरकी सिद्धियाँ हैं। जब योगी ईश्वररूप होजाता है। तबही ईश्वर-कृपासे उसको इन आठ सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। ये सिद्धियाँ सब प्रकारकी पूर्व कथित-सिद्धियोंसे श्रेष्ठ हैं। यदि ऐसा सन्देह हो कि योगी ऐसीसिद्धियोंको प्राप्त करके क्या दूसरा ईश्वर बन जाता है? इस प्रश्नका यह उत्तर है कि योगी तब दूसरा ईश्वर नहीं बनता, परन्तु ईश्वरमें तद्गतहो मिल जाता है; जब योगी ईश्वरमें मिले रहते हैं तो ईश्वर-इच्छा अथवा ईश्वर-नियमके विरुद्ध वे

कुछ काम करते ही नहीं, उनकी ऐशीविभूति द्वारा यदि कोई काम होता भी है वह रेखपर मेखकी नाई ईश्वरके नियम अथवा आज्ञाके अनुकूल ही होता है, परन्तु इन सिद्धियोंके प्राप्त करनेसे योगी सब कुछ कर सकता है, अर्थात् कठिनसे कठिन पाषाणमें भी प्रवेश कर सकता है और आवरणरहित आकाशमें भी छिप सकता है और तव पंचभूतोंमेंसे कोई भूत भी उसको कुछ क्लेश नहीं दे सकता, जैसे प्रभुरूपसे प्रकृति माता परम पिता ईश्वर-की सदा सेवा किया करती हैं, वैसे ही ऐशीअधिकारको प्राप्त होनेसे प्रकृति माता तव स्नेहमयी जननीकी नाई उस योगीकी भी सदा सेवा करती रहती हैं। इसी प्रकार कायसम्पत् भी भूतजय द्वारा प्राप्त होती है जिसका वर्णन आगेके सूत्रमें आवेगा। रूपादि शरीरधर्मका अनभिघात भी उस समय भूतजयी योगीको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि आदि भूतसमूह उनके शरीरधर्मको नष्ट नहीं कर सकते, जिससे पृथिवी उसकी शरीरक्रियाको रोक नहीं सकती, वह अनायास शिला आदिके भीतर प्रवेश कर सकता है, जल उसके शरीरको आर्द्र नहीं कर सकता, अग्नि उसके शरीरको जला नहीं सकती, वायु शुष्क या कम्पित नहीं कर सकता इत्यादि। यही सब भूतजयकृत सिद्धियाँ हैं ॥ ४५ ॥

अब पूर्वसूत्रोक्त कायसम्पत्का वर्णन किया जाता है—

रूप, लावण्य, बल, वज्र-तुल्यदृढ़ता, ये सब काय-सम्पतियाँ हैं ॥ ४६ ॥

भूतोंके जय करनेसे योगी प्रकृतिमुक्त होकर प्रकृतिके जयसे जिस अद्भुत ऐशीशक्ति अर्थात् अन्तःकरणके बलको प्राप्त करता है

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानिकायसम्पत् ॥ ४६ ॥

है उसका वर्णन पूर्वसूत्रमें भली भाँति आ चुका है, अब महर्षि सूत्रकार पंचभूतोंके जय करनेसे योगीको जो शरीरकी विशेष योग्यता आपही आप प्राप्त होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। रूप और लावण्यता उसे कहते हैं कि यह स्थूलशरीर ऐसी दिव्य सुन्दरताको धारण करे कि तब उस शरीरके रूपकी मधुरतासे सब प्रकारके दर्शक ही मोहित हो जावें, चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, पशु हो चाहे और जीव, सब ही उस मूर्त्तिको देखते ही मोहित हो जायँ। बलसे यही तात्पर्य है कि तब योगी परमबल-शाली होजाता है। जब उसके बलसे प्रकृति ही वशीभूत होजाती है तो उस बलकी और क्या तुलना हो सकती है। वज्रसंहननत्व से यही तात्पर्य है कि सब शस्त्रोंसे महातीव्र वज्रकी तरह उसका शरीर दृढ़ होजाता है। इस प्रकार योगी तब दिव्यशरीरको प्राप्त होजाता है। पूर्व सूत्रमें जिन सिद्धियोंका वर्णन है उनके प्रादुर्भाव करनेके लिये योगिराजको इच्छाशक्तिका प्रयोग तथा संयम करना होता है, परन्तु इस सूत्रोक्त सिद्धिकी प्राप्तिके लिये वैसा प्रयत्न करना नहीं होता है। जिस योगिराजमें पूर्वकथित सिद्धियों-का अधिकार प्राप्त होता है उसमें इस सूत्रोक्त अधिकार स्वतः ही उपस्थित हो जाता है। इसी कारण इस सूत्रका स्वतन्त्र रीतिसे आविर्भाव किया गया है ॥ ४६ ॥

सत्ताईसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पंचवृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियों का जय होता है ॥ ४७ ॥

सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं, वे बहिर्विषय सब ग्राह्य कहाते हैं; उन ग्राह्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

वृत्ति जाती है उस वृत्तिको ग्रहण कहते हैं। किसी रीतिसे विना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही स्वरूप-वृत्ति कहाता है। उस अवस्थामें जो अहंकारका सम्बन्ध रहता है, वह अहंकार-मिश्रित भाव अस्मिता-वृत्ति कहाता है। पुनः बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको अर्थात् जब बुद्धि सत्, असत्, सामान्य और विशेषका विचार करने लगती है उस वृत्तिको अन्वय कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थिति-शील, अहंकारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चमवृत्ति अर्थवत्त्ववृत्ति कहाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचों वृत्तियोंमें संयम करके इनको अपने अधीन ले आनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है, पूर्व जो इन्द्रियजयका विषय आचुका है यह उस रीतिपर नहीं है। पूर्व जो वर्णन हुआ है वह इन्द्रियदमन सामान्य है; परन्तु अब इस रीतिसे जो सिद्धिकी प्राप्ति होती है वह विलक्षण ही होती है; अर्थात् अब योगीको कोई विषय भी विचलित नहीं कर सकते और वह जितेन्द्रियताकी पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥ ४७ ॥

इन्द्रियजयका फल वर्णन किया जाता है—

इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय योगीको प्राप्त हो जाते हैं ॥४८॥

मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तमगति प्राप्तिको मनोजवित्व कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजन व्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम मनोजवित्व है। शरीरके सम्बन्धको त्याग करके जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसको विकरणभाव कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

या विषयोंमें अभिलाषा हो शरीरके विना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा गतिप्राप्त होनेको विकरणभाव कहते हैं। इससे योगी एक स्थानपर बैठकर अन्य दूरवर्त्ती स्थानोंके दृश्यको देख सकता है। प्रकृतिके विकारोंके मूलकारणको जय करनेका नाम प्रधान-जयत्व है जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। इस प्रकार मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय करके योगी पूर्णरूपेण सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था मधुप्रतीक कहाती है। मधु मीठा होता है और यह सिद्धियाँ भी मीठी लगती हैं, इस कारण सिद्धिकी पूर्णावस्थाका नाम मधुप्रतीक है। पूर्व सूत्रोक्त उन्नत सिद्धिके प्राप्त करनेसे यह सिद्धि स्वतः ही प्राप्त होती है इस कारण इस सिद्धिकी प्राप्तिका उपाय महर्षि सूत्रकारने नहीं कहा है ॥४८॥

अट्ठाईसवां सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्यज्ञानसम्पन्न योगीको सर्व-भावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है ॥४९॥

पूर्वसूत्रों में सिद्धियोंका वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार यह वर्णन कर रहे हैं कि क्रमशः अन्तःकरणकी ऐसी स्वच्छ अवस्था हो जाती है कि तब आपही आप परमात्माका निर्मल प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है जिससे योगीको बुद्धिरूपी दृश्य और पुरुषरूपी द्रष्टाके बीचमें जो तात्त्विक भेद है सो स्पष्टतया अनुभव होने लगता है और ऐसी अवस्था प्राप्त होनेसे योगी निखिल भावका स्वामी तथा सकल विषयोंका ज्ञाता वन जाता है। पूर्व वर्णनके अनुसार योगिराज जब यथार्थरूपसे इन्द्रियोंको जय करके इन्द्रियोंका स्वामी वन जाता है, उस दशामें स्वतः ही वह महात्मा बुद्धि और उसके परपारस्थित पुरुष दोनोंकी पृथक्कताकी अपरोक्षानुभूति करनेमें समर्थ होजाता है। यही परा

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥४९॥

सिद्धि है। सिद्धि दो प्रकारकी है, यथा—परा और अपरा। विषयसम्बन्धीय सब प्रकारकी उत्तम, मध्य, अधम सिद्धियाँ अपरा सिद्धि कहाती हैं जो मुमुक्षु योगीकेलिये हेय हैं और स्वस्वरूप-अनुभवके उपयोगी जो सिद्धि है वह परासिद्धि कहाती है। वैसी परासिद्धिकी उपयोगी जो सिद्धियाँ हैं वे ही योगिराजके लिये उपादेय हैं। जो कुछ सिद्धियाँ हैं वे सब ही मार्ग चलनेवाले पथिकके भुलानेवाली पथके दोनों ओरकी उत्तम उत्तम भोग वस्तुएँ हैं। यदि साधक पथिक तीव्र वैराग्यसे युक्त होकर मनकी दृढ़ताके कारण उस भ्रमकारी पथके दोनों ओर बिखरे हुए ऐश्वर्योंकी ओर मुँह फेरके भी नहीं देखता है तो वह आपही आप ऐसे शांतिमय स्थानमें पहुँच जाता है जहाँ उसकी सब मनोवासनाएँ स्वतः ही पूर्ण होजाती हैं और वह भगवद्दर्शन करनेमें समर्थ होजाता है। इस प्रकार जब सत्त्वगुणके प्रभावसे तम और रजोगुण रूपी मल धुल जाता है तो आपही आप अन्तःकरण स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है और तबही उस अन्तःकरणमें ऋतम्भरा नामक पूर्णज्ञानमय बुद्धिका उदय होता है। मलके कारण ही अन्तःकरण भगवत्साक्षात्कार नहीं कर सकता था; जब मल रहा ही नहीं तब अन्तःकरण स्वतः ही भगवद्दर्शनमें समर्थ हो जाता है। योगीकी इस अवस्थाका नाम विशोक अर्थात् शोकरहित अवस्था है ॥४९॥

विशोक अवस्थाका फल बताया जाता है—

विवेकख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज नाश होजानेसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

साधन और वैराग्यरूपी दोनों परोंसे उड़ता हुआ साधक जब विशोक-अवस्थामें पहुँचकर आत्मदर्शन करनेमें समर्थ होजाता है

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

और तीव्र वैराग्ययुक्त होनेके कारण पथमें कहीं भी नहीं फँसता है तब शनैः शनैः वह भगवत्-साक्षात्कारसे भगवत्-कृपाका अधिकारी होकर मुक्तिरूपी कैवल्यपदमें पहुँच जाता है। जब योगी पूर्वोक्त अवस्थाको प्राप्त करके क्लेशरूपी कर्मोंसे अलग होजाता है और पूर्ण-सत्त्व-रूपी अभ्रांत-बुद्धिको प्राप्त करके जीव-अवस्थासे दूसरी अवस्थामें पहुँच जाता है, तब उसका अन्तःकरण संकल्प-विकल्पसे रहित होकर पूर्णानन्दको प्राप्त होजाता है और तब वह पुनः आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिकरूपी त्रितापमें फँसता ही नहीं; तब ही परम कल्याणरूपी कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है। साधक तीन प्रकारके हुआ करते हैं, यथा—उत्तम, मध्यम और अधम। अधम साधक वे हैं कि जो साधन-पथमें चलते-चलते सिद्धियोंको भोग करने लगते हैं; मध्यम-साधक वे हैं कि जो सिद्धियोंको देखते हैं परन्तु भोग नहीं करते और वैराग्य-बुद्धि द्वारा उनसे बचते जाते हैं, परन्तु उत्तम साधक वे ही कहाते हैं कि जो सिद्धियोंकी ओर नेत्र फेर कर भी नहीं देखते। इसी कारण परवैराग्ययुक्त उत्तम साधक ही मुक्तिपदके यथार्थ अधिकारी हैं। उन्हींको कैवल्यपदकी प्राप्ति शीघ्र हुआ करती है ॥ ५० ॥

समाधि भूमिमें विघ्नोंका वर्णन किया जाता है—

स्थानी अर्थात् उच्चस्थानप्राप्त देवताओंके उपनिमन्त्रण अर्थात् समीप आकर प्रार्थना करनेमें आसक्ति या अभिमान प्रकट न करें क्योंकि इससे पुनरनिष्टप्राप्ति हो सकती है ॥५१॥

योगी चार प्रकारके होते हैं, यथा—कल्पिक, मधुप्रतीक,

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥५१॥

भूतेन्द्रियजयी और अतिक्रान्तभावनीय। प्रथम जब योगी अष्टांग-योगसाधनसे आगे बढ़ने लगते हैं, उस अवस्थाका नाम कल्पिक है, जब ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्तकर लेते हैं तब उनकी अवस्थाका नाम मधुप्रतीक है, जब भूतोंपर पूर्ण अधिकार हो जाता है तब उनका नाम भूतेन्द्रियजयी है और जब योगकी पूर्णावस्थाको प्राप्त करके कैवल्य-भूमिमें पहुँच जाते हैं, तब उनकी अवस्थाका नाम अतिक्रान्तभावनीय है। इस चौथी अवस्थाकी सात भूमियाँ हैं। योगीको विघ्नोंका डर तो प्रथमसे ही है, इस कारण विना वैराग्य-के साधक चल ही नहीं सकता; परन्तु इस चौथी अवस्थाकी सात भूमियोंमें योगीको और भी विशेष डर है। शास्त्रोंमें ऐसा लेख है कि इस समयमें देवतागण योगीके सम्मुख आकर नाना प्रकारके दिव्य-पदार्थ, नाना प्रकारकी भोग्य वस्तुएँ, मनोहर स्त्रियाँ, मनोहर स्थान, मनोहर पदार्थ और अनेक सिद्ध औषधियाँ आदि के प्रदान द्वारा उनको अपनेमें मिलाना चाहते हैं। यदि इस समय योगी फँस जाय और अभिमानयुक्त होकर उसीमें अपनेको कृतकृत्य समझे तो पुनः उसकी अधोगति होती है, नहीं तो परवैराग्ययुक्त योगी सातों भूमियोंको अतिक्रम करता हुआ कैवल्यपदको प्राप्त करके मुक्त होजाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड चतुर्दश भुवनोंमें विभक्त है। चौदह भुवनोंमेंसे ऊपरके सात लोकोंमें देवताओंका आवास और नीचेके सात लोकोंमें असुरोंका आवास है। असुर भी एक प्रकारके देवता ही हैं। जिस प्रकार चतुर्दश भुवनोंका ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध है वैसेही प्रत्येक पिण्डके साथ सम्बन्ध है और पञ्चकोष भी मनुष्यपिण्ड और दैवपिण्ड दोनोंमें ही विद्यमान है। अतः जब योगिराज पञ्चकोषों पर आधिपत्य करने लगता है तो प्राणमय आदि कोषोंकी सहायतासे अपने ही पिण्डमें देवलोकों-का अनुभव करने लगता है। उन्नतयोगिराजका अन्तःकरण जब स्वतः ही दैवलोकके साथ युक्त सम्बन्ध हो जाता है तो

केवल उसीको इस प्रकार दैवीदृष्टिसे नाना भोगप्रदानकारी देवताओंके दर्शन हो सकते हैं। परवैराग्य होनेपर वैसे दर्शन-की ओर योगिराजका चित्त नहीं जाता है, यह उन्नत दशा है ॥ ५१ ॥

उन्तीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं, उनमें संयम करनेसे विवेक अर्थात् अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

द्रव्य जब घटते घटते ऐसी सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होजाय कि उससे और सूक्ष्म न हो सके तो उस अवस्था का नाम परमाणु है; अर्थात् भौतिक-पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको परमाणु कहते हैं। उसी प्रकार कमसे कम कालभागको अर्थात् जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न होसके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालभागको क्षण कहते हैं। यहाँ क्षणसे महर्षि सूत्रकारका यही तात्पर्य है कि जितने कालमें एक परमाणु पूर्वस्थानको त्याग करके अगले स्थान-को प्राप्त करता है वही सूक्ष्मातिसक्ष्म कालकी अवस्था क्षण कहाती है और उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको क्रम कहते हैं। क्षण और उसके क्रमका एकत्रित होना असम्भव है, परन्तु क्षणादि व्यवहारवाली बुद्धि ही अपनी स्थिरता से मुहूर्त्त, दिन, रात्रि और वर्ष आदि कालज्ञानकी व्यवस्था करतो है; इस कारण यह काल यथार्थमें वस्तु-शून्य द्रव्य है और केवल बुद्धिका परिणाममात्र है। शब्द-ज्ञानसे ही वह काल

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

सांसारिक मनुष्योंको वस्तुशून्य होनेपर भी वस्तुके समान जान पड़ता है; परन्तु योगिगण उसको और ही प्रकारसे देखते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है, उसीको कालज्ञ योगी काल कहते हैं। यथार्थमें काल एकही है, क्योंकि वर्त्तमान क्षणके पूर्व-क्षण और उत्तर-क्षण दोनों इस वर्त्तमान क्षणके पूर्व उत्तर भेद ही हैं; अथवा यों कह सकते हैं कि भूतक्षणका परिणाम वर्त्तमान-क्षण है, वर्त्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत्-क्षण होगा; इससे तीनों ही एक हैं और एक ही तीनों हैं। इस विचारसे सब काल एकही क्षणका परिणाम है; इस विचारसे ही समस्त ब्रह्मांडोंकी सृष्टि-क्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस प्रकारकी योग-बुद्धि द्वारा क्षण और क्रममें संयम करके उनके साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे विवेकरूपी अभ्रान्त, पूर्ण और सर्वव्यापक ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस अभ्रान्त और पूर्णज्ञानके उदय होनेसे सन्देह शब्दका लोप योगीके अन्तःकरणसे होजाता है; अर्थात् तब योगी जिस विषयको देखता है उसका ही यथार्थ और पूर्ण रूप देख लेता है; जहाँ तक योगी ज्ञान-दृष्टि फैलाता है वहीं तक उसकी अभ्रान्तबुद्धि देश-कालसे अपरिच्छिन्न हो पहुँच जाती है, योगीकी यह अवस्था ही त्रिकालदर्शी अवस्था है ॥ ५२ ॥

विवेक ज्ञानका फल बताया जाता है—

समान पदार्थोंमें जाति, लक्षण और देशसे एक दूसरेकी भिन्नता निश्चय नहीं होती परन्तु विवेक ज्ञानद्वारा उनका भेद निर्णय होता है ॥ ५३ ॥

पदार्थोंके भेदके हेतु जाति, लक्षण और देश हैं; अर्थात् इन

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५३॥

तीनोंसे ही पदार्थोंमें भेद जाना जाता है। कहीं जातिसे भेद जान पड़ता है, जैसे गो और महिष, अर्थात् गो और महर्षि कहनेसे गोत्व और महिषत्वरूप जातिभेदसे पदार्थोंका भेद समझा गया। कहीं लक्षण भेदसे भेद जान पड़ता है, जैसे दो गौओंमें लक्षण-विभागसे एक गौ कृष्ण और दूसरी रक्त समझी गयी; दोनों गौ ही हैं, परन्तु लक्षणभेदसे दो स्वतन्त्र पदार्थोंका अनुभव हुआ। और कहीं देशभेदसे वस्तुभेदका अनुभव होता है, जैसे दो पदार्थोंमें जाति और लक्षण की एकता पायी जाने पर भी जो अनैक्य हो वह देशसे ही होता है; जैसे समान प्रमाणवाले दो आँवलोंका भेद केवल स्थल-विशेषसे होता है; परन्तु एक देशमें जब दो परमाणु एकही जाति और एकही लक्षणयुक्त रहते हैं तब उनमें भेदभाव होना कठिन है; किन्तु पूर्व सूत्रमें जो विवेक ज्ञान की विधि बतायी गयी है उसीकी सहायतासे जाति, लक्षण और देशके पूर्ण भेदज्ञानकी प्राप्ति होसकती है; अर्थात् इस रीतिसे भेदोंमें संयम करनेसे योगी तत्त्वोंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदोंको भी पूर्णरूपेण जान सकेगा। सूक्ष्म-तत्त्वोंमें जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उसकी विशेष संज्ञा आगे वर्णन की जायगी ॥५३॥

विवेकज्ञानकी विशेषता बतायी जाती है—

तारक अर्थात् संसारसिन्धुसे तारनेवाला, सकल पदार्थों को सकल प्रकारसे ज्ञापन करनेवाला और भूत भविष्यत् और वर्त्तमान क्रमको युगपत् विदित करनेवाला विवेकजज्ञान कहलाता है ॥५४॥

तारक उसको कहते हैं जिसके द्वारा जीव संसार-सागरसे उत्तीर्ण हो सके। पूर्वोक्त विवेकज ज्ञान द्वारा संसार-सिन्धुका

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

सन्तरण होनेके कारण उसको तारक कहा गया है। विवेकज ज्ञानसे निखिल पदार्थ सकल प्रकारसे ज्ञान-गोचर होते हैं। इसलिये इसको सर्वविषय और सर्वथा विषय कहा गया है। अक्रमका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त विवेकज्ञान द्वारा क्रमके विना ही जितने पदार्थोंका कार्य जगत्में हो सकता है उन सबको ही योगी पूर्णरूपेण जान सकता है, अर्थात् भूतकालमें जो कुछ हुआ था, वर्त्तमान कालमें जो कुछ हो रहा है और भविष्यत् कालमें जो कुछ होगा, वह सब ही युगपत् योगी जान सकेगा। इसी ज्ञानको प्राप्त करके त्रिकाल-दर्शी महर्षिगण वेदका संग्रह और विभाग कर गये हैं; इसी ज्ञान-को प्राप्त करके वे पूज्यपादगण, दर्शन, उपवेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र आदि नाना शास्त्र अपनी अपनी रीति और लक्ष्यके अनुसार जीवगणके उपकारार्थ प्रणयन कर गये हैं। विवेकज वह पूर्णज्ञान ही निस्सहाय जीवको अपार संसार-सागरसे तार कर भगवत् पदमें पहुँचा देता है। इसकारण उस ज्ञानका नाम तारक है, यही परासिद्धि है ॥५४॥

परम्परा सम्बन्धसे कैवल्यके हेतुभूत संयमोंका निरूपण करके अन्तमें अब साक्षात्रूपसे कैवल्यसाधनका वर्णन किया जाता है—

बुद्धि और पुरुष दोनों ही जब शुद्धतामें समान हो जाते हैं तब मोक्षपदकी प्राप्ति होती है ॥५५॥

पूर्वोक्त तारक बुद्धिके प्राप्त करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है उसका ही वर्णन अब महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। जब सत्त्व-गुणके प्रबल प्रवाहसे रजोगुण और तमोगुणका मल पूर्णरूपेण धुल जाता है और उनके नाममात्र भी न रहनेसे बुद्धि पूर्ण निर्मल हो जाती है, तब पुरुषसे भिन्न जो कुछ अधिकार था वह

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

सब ही लयको प्राप्त हो जाता है और तब ही पुरुष अपने यथार्थ रूपको प्राप्त हो जाता है। पुरुषमें जो भोगका अभाव है वही पुरुषकी मुक्त अवस्था है। भोगके अभाव होनेसे पुरुष अब मुक्त होजाता है, इस अवस्थामें द्वैतका भानमात्र भी नहीं रहता, जो कुछ रहता है वह एक ही एक रह जाता है, जब द्वैत नहीं रहा तो विषयका भान भी नहीं रहता, जब विषयनिवृत्ति हो जाती है तो सब क्लेशोंका स्वतः ही लय हो जाता है; क्लेशोंका लय होनेसे कर्म और कर्म-फल भी निवृत्त हो जाते हैं; तब एकमात्र पुरुष ही रह जाते हैं। इस सूत्रमें बुद्धिकी शुद्धि—बुद्धिमेंसे वृत्तिका अभाव है और पुरुषकी शुद्धि—पुरुषमें चित्तधर्मके अनारोप द्वारा स्वरूपावस्थान है। इन दोनों शुद्धियोंकी समता हो जानेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है। इस विषयको यों भी समझ सकते हैं कि तटस्थ और स्वरूपज्ञानके अनुसार बुद्धि दो प्रकारकी होती है। जब तक जैव अहंकारका सम्बन्ध रहता है, तब तक ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटि द्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियाँ बनी रहती हैं। योगीके अन्तःकरणमें रज और तमका दमन होकर जितना जितना सत्त्वगुणका विकास होता जाता है उतना ही त्रिपुटिका विलय होते हुए बुद्धिकी शुद्धि होती जाती है। अन्तमें पूर्ण सत्त्वगुणके उदय हो जानेसे त्रिपुटिका नाश होकर स्वरूपज्ञानका उदय हो जाता है। दूसरी ओर जब तक बुद्धि शुद्ध नहीं थी, जब तक अन्तःकरणकी वृत्तियाँ पूर्णरूपसे विलीन नहीं हुई थीं तब तक वृत्तियों-के प्रतिबिम्बसे पुरुष स्वरूपको प्राप्त नहीं हो सकता था। योगीकी इस उन्नति दशामें वृत्तियोंके न रहनेमें पुरुषके स्वस्वरूपका यथार्थ प्रकाश हो जाता है। तब द्रष्टा अपने स्वरूपमें अद्वैतभावसे स्थित रहता है। इस दशाका बुद्धिकी शुद्धि भी कह सकते हैं और पुरुषकी शुद्धि भी कह सकते हैं। पुरुषकी इस अवस्थाका नाम

कैवल्यपद ही योग-साधनका लक्ष्य है; वही परम पुरुषार्थका चरम-फल है। इस कैवल्यपदका विस्तारित विवरण अगले पादमें किया जावेगा। इति शब्द पादसमाप्तिका बोधक है॥ ५५॥

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादः।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्यप्रवचनसम्बन्धी योग-शास्त्रके विभूतिपादके संस्कृत भाष्यका भाषानुवाद समाप्त हुआ।

कैवल्यपादः ।

प्रथम तीन पादोंमें यथाक्रम समाधिस्वरूप, तदर्थ साधन तथा योगैश्वर्यों का वर्णन करके अब योगके अन्तिम फल कैवल्यप्राप्तिके अर्थ कैवल्यपादका वर्णन किया जाता है; परन्तु जब तक कैवल्ययोग्य चित्त, क्षणिक विज्ञानातिरिक्त आत्म तथा प्रसंख्या नकी पराकाष्ठा आदि विषयोंका प्रतिपादन न हो तब तक कैवल्यके स्वरूपका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता है। इसलिये इस पादमें इन सबोंका क्रमशः निरूपण किया जाता है—

सिद्धि जन्मसे, औषधिसे, मंत्रसे, तपसे और समाधि उत्पन्नसे होती है॥ १ ॥

पूर्व-पादमें नाना प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन किया गया है; यदिच वे योगिगणको मुक्तिपदकी ओर चलते हुए पथमें मिला करती हैं, तत्रच जितने प्रकारोंसे सिद्धियोंकी प्राप्ति हो सकती है उनका विस्तारित विवरण अब महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। सिद्धि जन्मसे भी उत्पन्न होती है, जैसे परमहंस शुकदेव और महर्षि कपिल आदियोंमें सिद्धि जन्मसे ही उत्पन्न हुई थी। औषधिके द्वारा भी सिद्धि उत्पन्न होती है, जैसे रसायन आदिक औषधिके द्वारा भी सिद्धि उत्पन्न होती है, जैसे रसायन आदिक औषधियोंसे तांबेका सुवर्ण बना लेना और कल्प आदि औषधियों द्वारा जरा नाश करके दीर्घ आयुवाला बन जाना इत्यादि। मंत्रोंसे भी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है, जैसे गुटिकासिद्धि द्वारा आकाशगमन करना और तान्त्रिक-मंत्र-साधनद्वारा मारण, वशीकरण,

---

जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ॥१॥

उच्चाटन आदि कार्य करना इत्यादि। तपद्वारा भी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है, जैसे तप-साधन द्वारा महर्षि विश्वामित्रका क्षत्रियसे ब्राह्मण बन जाना और भक्तप्रधान नन्दिकेश्वरका मनुष्यसे देवता बन जाना इत्यादि और समाधिसे जो सब प्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, उसका विस्तारित विवरण तो तृतीयपादमें आही चुका है। चाहे सिद्धि जन्मसे प्राप्त हो, चाहे औषधिसे हो, चाहे मन्त्रसे हो और चाहे तपसे हो, ये सब सिद्धियाँ समाधिसिद्धिसे नीचे हैं और ऐसा भी कह सकते हैं कि उन सबोंका पूर्वकारण अथवा सहायताकारी साधन समाधि ही है। जन्मसे जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका पूर्वकारण समाधिसाधन ही होता है, क्योंकि शुकदेव आदिका पूर्व-साधन किया हुआ था; इस कारण उन्हें वर्त्तमान जन्ममें सिद्धि स्वतः ही प्राप्त हुई थी। उसी प्रकार औषधि आदि द्रव्ययोगसे जो सिद्धि होती है, उससे भी शरीर ऐसा उपयोगी हो जाता है कि जैसा उस सिद्धिकेलिये समाधि द्वारा होता। वैसे ही मन्त्र और तपःसिद्धिको भी समझना उचित है; क्योंकि मन्त्र और तपःसाधन द्वारा भी शनैः शनैः साधकका शरीर और मन ऐसा उपयोगी हो जाता है जैसा उस क्रियाके लिये समाधिद्वारा होना उचित था। इस विषयमें अन्य शास्त्रोंमें जो प्रमाण मिलते हैं सो ये हैं—

जन्मौषधिपदोपास्तितपोमन्त्रसमाधिभिः।
संयमेनाऽपि लभ्यन्ते सिद्धयोऽलौकिका द्विजाः! ॥
अष्टोपायाः प्रधाना हि सन्तीमे सिद्धिलब्धये।
सन्ति जातिस्मरत्वादि सिद्धयो जन्मसिद्धयः ॥
या सिद्धगुटिका कायकल्पैश्चैव रसायनम्।
अन्या चैवंविधा सिद्धिरोषधी सिद्धिरुच्यते ॥
नैमित्तिक्यश्च या देव-शक्तयो राजशक्तयः।
अन्याश्चैवंविधाः सर्वाः शक्तयः पदसिद्धयः ॥

उपास्तेः सिद्धयः सन्ति देवतादर्शनादयः।
यासु सिद्धिषु लब्धासु जायतेऽभ्युदयो ध्रुवम् ॥
षड्वशीकरणादीनि यानि कर्माणि सन्ति च।
अन्यान्यन्तर्भवन्त्येवं मन्त्रसिद्धौ न संशयः ॥
नैवास्त्येवंविधा सिद्धिर्दैवी वा कापि लौकिकी।
या संयमसमाधिभ्यां लभ्येत तपसा न वा ॥
चतुर्विधा हि लभ्यन्ते सिद्धयो निश्चितं द्विजाः ! ।
उपायैरष्टभिः प्रोक्तैर्नात्र कार्या विचारणा ॥
अनन्ताः सिद्धयो याश्च लोके मच्छक्तिसंभवाः।
विभक्तास्सन्ति तास्सर्वाश्चतुर्धैव मया पुरा ॥
तासाञ्च लब्धये नूनमुपाया अष्ट निर्मिताः।
तैरेव ताश्च प्राप्यन्ते निश्चितं विप्रपुङ्गवाः ! ॥
कुर्वाणा लौकिकं कार्यं सन्ति याः सिद्धयोऽखिलाः।
ता ज्ञेया निखिला विप्रा आधिभौतिकसिद्धयः ॥
या दैवकार्यकारिण्यः सिद्धयः सम्प्रकीर्त्तिताः।
ता ज्ञेया आधिदैविक्यः सिद्धयो निखिलाः खलु ॥
सिद्धयो ज्ञान-विज्ञान-प्रकाशिन्यश्च या इह।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विप्रपुङ्गवाः ! ॥
सहजाख्या तु या सिद्धिर्वर्त्तते विज्ञसत्तमाः ! ।
एताभ्यः सर्वसिद्धिभ्यः सा नितान्तमलौकिकी ॥
ममावतारवृन्देऽसौ स्वत एव प्रकाशते।
तत्त्वज्ञानैर्महात्मानो मनोनाशेन वै ध्रुवम् ॥
निर्वासनतया चैवोन्मूलयन्तः स्वजीवताम्।
शिवरूपीभवन्तश्च समाधौ निर्विकल्पके ॥
तिष्ठन्तो यान्ति मय्येव लयमेकान्ततो यदा।
मदिच्छया तदा तेषु सहजा कर्हिचिद्भवेत् ॥

हे विप्रो ! जन्म, पद, औषधि, मन्त्र, उपासना, तप, संयम

और समाधिके द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धि लाभके लिये ये ही आठ उपाय प्रधान हैं। जातिस्मरत्व आदि सिद्धियाँ जन्म सिद्धियाँ हैं। सिद्धगुटिका कायाकल्प रसायन और इस प्रकारकी अन्यान्य सिद्धियाँ औषधिसिद्धियाँ कहाती हैं। राज-शक्ति और नैमित्तिक देवशक्ति और अन्यान्य इस प्रकारकी सब शक्तियाँ पदसिद्धियाँ कहाती हैं। देवदर्शनादि उपासना-सिद्धियाँ कहाती हैं जिनके प्राप्त होनेपर अवश्य अभ्युदय होता है। वशीकरणादि षट्कर्म तथा उसीप्रकारकी और सिद्धियाँ मन्त्रसिद्धिके अन्तर्गत हैं इसमें सन्देह नहीं। तप, संयम और समाधिद्वारा दैवी या लौकिकी ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं जो प्राप्त न हो सके। हे विप्रो! इन आठ उपायोंके द्वारा चतुर्विधही सिद्धियाँ निश्चय प्राप्त हुआ करती हैं। इसमें विचार न करो। संसारमें मेरी शक्तिसे उत्पन्न जो अनन्त प्रकारकी सिद्धियाँ हैं, मेरे द्वारा पहले हीसे वे सब चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं और उनकी प्राप्तिके लिये ही आठ उपाय मैंने विधान किये हैं। हे ब्राह्मणो! उन्हींके द्वारा वे अवश्य प्राप्त होती हैं। हे विप्रो! सब लौकिककार्य-कारिणी सिद्धियोंका आधिभौतिक सिद्धियाँ, दैवकार्यकारिणी सब सिद्धियोंको आधिदैविक सिद्धियाँ और ज्ञानविज्ञानप्रकाशक सब सिद्धियोंको संसारमें बुधगण आध्यात्मिक सिद्धियाँ कहते हैं। मन्त्रद्रष्टा आपलोगोंकी सिद्धियाँ हे विप्रश्रेष्ठो! इसी सिद्धिके अन्तर्गत हैं इसमें विस्मय न करो। परन्तु हे विज्ञवरो! सहजनाम्नी जो सिद्धि है वह इन सब सिद्धियोंसे अत्यन्त अलौकिक है। मेरे अवतारोंमें इस सहज सिद्धिका स्वतः ही अत्यन्त विकास होता है और महापुरुषगण जब तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशकेद्वारा अपने जीवभावको निश्चय नाश करके ही शिवस्वरूप हो निर्विकल्प समाधिस्थ रहते हुए मुझमेंही एकदम लीन होते हैं तब उनमें मेरी इच्छासे कभी कभी सहज सिद्धिका

विकाश हुआ करता है। कुछ ही हो सिद्धि सिद्धिही है; मुमुक्षुगण को इसपर ध्यान देना उचित नहीं हैं ॥१॥

यदि जन्मजन्मान्तरमें परिपाकप्राप्त सुकृतिवशात् सिद्धियां प्राप्त होती हैं तो नन्दीश्वरादिकोंका जात्यन्तर परिणाम इसी जन्ममें कैसे हुआ था इस प्रकार आशङ्काके समाधानकेलिये कहा जाता है—

शरीर और इन्द्रियोंका दूसरा परिणाम प्रकृतिके अनुप्रवेशके कारण प्राप्त हुआ करता है ॥ २ ॥

जिन सिद्धियोंका विस्तारित विवरण पूर्व आचुका है उनमें जो असाधारण परिवर्त्तन होता है यदि उन परिवर्त्तनोंके कारण कोई ऐसा प्रश्न करे कि प्रकृतिमें कैसे उस प्रकारका परिवर्त्तन सम्भव होता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वह सब प्रकृतिके परिणामसेही हुआ करता है; जब प्रकृतिमें परिणाम होगा तो शरीर और इन्द्रियोंमें भी अवश्य होगा। शरीरके उपादान-कारणरूप पञ्चभूत और इन्द्रियोंके उपादानकारणरूप सूक्ष्मतत्त्वके अनुप्रवेशद्वारा एकही जन्ममें अन्यशरीर तथा अन्यजाति प्राप्त होना असम्भव नहीं है। जब एक जन्मसे जन्मान्तरकी प्राप्ति होती है तब एक प्रकृतिसे दूसरी प्रकृतिका परिवर्त्तन हुआ ही करता है, अर्थात् एक जीव प्रथम जन्ममें मनुष्य था परन्तु अब दूसरे जन्ममें वह देवता हुआ तो उसके इस जन्म-परिवर्त्तनसे मनुष्यप्रकृतिका परिवर्त्तन होकर देव-प्रकृतिमें प्राप्त हो गया; इस कारण जन्म द्वारा प्रकृतिका परिवर्त्तन तो सिद्धही है। जैसे एक प्रकृतिके योगसे दूसरी प्रकृति बदल जाती है, जैसे विषके प्रयोगसे अच्छा शरीर गल कर नाश हो जाता है, उसी

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

प्रकारसे द्रव्ययोगरूप औषधि द्वारा मनुष्य एक प्रकृतिको दूसरी प्रकृतिमें बदलकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मन्त्र और तपः साधनद्वारा प्रकृतिपर आधिपत्य करके अथवा समाधिसिद्धि द्वारा प्रकृतिपर आधिपत्य करके कैसे एक प्रकृति दूसरी प्रकृतिमें बदली जासकती है इसका प्रमाण सहजही है और इसका विवरण पूर्वमें भी बहुत कुछ आचुका है। इस कारण सब प्रकारकी सिद्धियां ही प्रकृतिके द्वारा उसके परिणामसेही उत्पन्न होती हैं और असाधारण परिणामद्वारा नन्दीश्वरकी तरह एकही जन्ममें जाति या शरीर बदल जाना भी इससे सिद्ध होता है। इस विषयको और भी स्पष्ट करनेके लिये यों समझ सकते हैं कि एक जीव जब जन्मान्तरके कारण मनुष्यसे देवता अथवा क्षत्रियसे ब्राह्मण बनता है तो उस समय उसके कर्मके वेगसे दूसरा शरीर प्राप्त होते समय उसको उसके परिवर्त्तित अवस्थाके अनुसार स्थूल-शरीर मिल जाता है; क्योंकि स्थूलशरीर गुणोंका आधार है। जीवकी क्रमोन्नतिका यह क्रम साधारण है। योगी जब सिद्धियोंके द्वारा अपनी प्रकृतिका असाधारण परिवर्त्तन करना चाहता है और एकही जन्ममें मनुष्यसे देवता अथवा क्षत्रियसे ब्राह्मणकी प्रकृति और तदनुसार गुण प्राप्त करना चाहता है तो इसी जन्ममें मानस सृष्टिके सदृश अन्तःकरणके प्रबल वेगसे अपने शरीरके परमाणुओंमें जन्मान्तर प्राप्तिकी तरह परिवर्त्तन करनेमें समर्थ हो जाता है। तब वैसेही प्रकृति और वैसेही गुण स्वतःही प्रकट होजाते हैं॥ २॥

प्रकृतिके आपूरणमें धर्मादि प्रवर्तक हैं या नहीं इस शङ्काके समाधानार्थ कहा जाता है—

प्रकृतियोंका प्रयोजक धर्मादि निमित्त नहीं है;

आवरणकी निवृत्ति कृषकके समान होती है ॥३॥

पूर्व-सूत्रमें यह प्रमाणित हो चुका है कि सिद्धिद्वारा जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह सबही प्रकृतिके परिणामसे होता है; अब यदि विचारवान् पुरुषोंमें ऐसा सन्देह उठे कि धर्म और अधर्म-रूप जो निमित्त है प्रकृतिके परिणाममें वे प्रयोजक हो सकते हैं कि नहीं और प्रकृतिसे उनका कैसा सम्बन्ध है और धर्म और अधर्मरूप कार्यसे फल क्या हुआ? ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि-सूत्रकार कह रहे हैं कि धर्म और अधर्मरूप निमित्त प्रकृतियोंका प्रयोजक नहीं है, क्योंकि कार्यसे कारण उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे कोई कृषक किसी ऊँची अथवा नीची क्यारीमें जल लेजाना चाहता है तब वह उस क्यारीकी ऊँचाई अथवा निचाईके अनुसार मेड़ बाँध देता है, तो मेड़ सीधी हो जानेपर क्यारीमें जल आपही आप बहकर पहुँच जाता है; वैसे ही प्रकृतिके आवरणरूप अधर्म-को जब प्रकृतिके धर्म काटकर प्रकृतिके पथको सरल कर देंगे, तब प्रकृति अपने-आपही कार्य-उपयोगी परिणामको धारण करके अवस्था-नुरूप हो जायगी। अधर्मके नाश होनेसे धर्मकी सहायताद्वारा प्रकृति परिणामको धारण करती है, इस कारण धर्म ही अधर्मकी निवृत्तिका कारण हुआ; अर्थात् किसी सिद्धिके प्राप्त करनेमें धर्म-द्वारा अधर्मका नाश होकर प्रकृति सिद्धिके ऐश्वर्य प्राप्त करनेके उपयोगी हो गई; इसमें धर्मादिक यथार्थमें कारण नहीं हो सकते। धर्म-अधर्म-निवृत्तिका साक्षात् कारण है; परन्तु प्रकृति-परिणामका साक्षात् कारण नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अनेक शरीरके साथ अनेक चित्त कैसे प्राप्त होते हैं सो बताया जाता है—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

चित्तको उत्पन्न करनेवाली केवल अस्मिता है ॥४॥

अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि जब योगीको तत्त्वोंका साक्षात् ज्ञान हो जाता है तब कई कर्मोंका एकही समय फल भोगनेके लिये यदि वे अपनी सिद्धियोंको प्रकाश करके एकही समयमें अनेक शरीर धारण करनेको इच्छा करें तो उनका एक अन्तःकरण अनेक अन्तःकरण कैसे हो जायेगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि-सूत्रकार कह रहे हैं कि केवल अस्मिताही अन्तःकरणके कारणको धारण करके अन्तःकरण उत्पन्न किया करती है; अर्थात् अस्मितासे-प्राणी अन्तःकरणयुक्त हो जाता है। इसी कारणसे जैसे एक अग्नि-शिखाद्वारा अनेक अग्निशिखाएँ उत्पन्न हो सकती हैं वैसे ही एक अन्तःकरणद्वारा योगबलसे अनेक अन्तःकरण भी हो सकते हैं; जब योगी महत्तत्त्वपर अधिकार जमा लेते हैं तो स्वतः ही वे जितने अन्तःकरण चाहें उतने ही अन्तःकरणोंको भी सृष्टि कर सकते हैं; नाना प्रकारके शरीर धारण करना तो प्रमाणित ही था, अब इस सूत्रद्वारा इतना और प्रमाणित हुआ कि अन्तःकरण भी जितने चाहें उतने उत्पन्न कर सकेंगे। सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध, इन तीनों कर्मोंमेंसे प्रारब्ध कर्म ही मनुष्यपिण्डका कारण है। इस कारण साधारणतः यही नियम है कि एक पिण्ड अर्थात् एक शरीर-के अन्तमें दूसरा शरीर मिलता है; परन्तु योगदर्शनके सिद्धान्त-के अनुसार जब योगिराज अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मको दृष्टजन्म-वेदनीय कर्मोंमें परिणत कर सकता है तो उसको एक ही जन्ममें सञ्चित कर्मोंको प्रारब्ध कर्म बनाकर अनेक शरीर धारण करनेकी योग्यता अवश्यही होती है इसमें सन्देह नहीं। शङ्का इतनीही हो सकती है कि स्थूलशरीर तो बन जायगा परन्तु उसका केन्द्र अन्तः-

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

करण कैसे बनेगा, उसका समाधान इस सूत्रमें किया गया है। आत्मा तो व्यापकही है, केवल स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अन्तःकरणरूपी आत्माके प्रतिबिम्बधारक यन्त्र यदि बन जायँ तो आत्माका अलग-अलग प्रतिबिम्ब उनमें प्रतिफलित होकर स्वतन्त्र-स्वतन्त्र वनही सकता है। अपने अन्तःकरणमें संयम करके योगी अपने अन्तःकरणकी अस्मिताको यदि कई भागोंमें विभक्त कर दे सके तो स्वतःही उतनेही अन्तःकरण बन जायँगे, उनमें चित्प्रतिबिम्ब अपने आपही अलग-अलग पड़ जायगा और उन स्वतन्त्र-स्वतन्त्र केन्द्रोंमें सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीरके चलानेके उपयोगी कर्म तो अदृष्टजन्मवेदनीयसे खिंचकर दृष्टजन्मवेदनीयमें पहुँच ही जायँगे; अस्तु अस्मिताके द्वारा अलग-अलग कारणशरीर बनना भी सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

अनेक चित्तोंमें अनेक अभिप्रायोंके होनेसे व्यवहार कैसा होगा इसके लिये कहते हैं—

प्रवृत्तिके भेदसे एकही चित्त अनेक चित्तोंका प्रयोजक होता है ॥ ५ ॥

जब एक योगीकी सिद्धिद्वारा अनेक प्राणी हुए और उन प्राणियोंमें अनेक अन्तःकरण भी हुए; तो यह प्रश्न हो सकता है कि उन सब अन्तःकरणोंके कार्य करनेकेलिये या तो सबमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र संस्कार हों अथवा योगीही और किसी प्रकारसे उनमें प्रेरणा सम्पादन करता हो? ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि-सूत्रकार कह रहे हैं कि नये अन्तःकरणोंमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र संस्कार तो होना असम्भव है; परन्तु एकही अन्तःकरण अनेक अन्तःकरणों-का प्रयोजक हो सकता है अर्थात् सब अन्तःकरणोंका अधिष्ठाता

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

योगीका अन्तःकरण ही है, तो जैसे योगीकी शक्तिसे ही जब अनेक इन्द्रिय, अनेक शरीर और अनेक अन्तःकरण बने ऐसे ही उनका अन्तःकरण और अन्तःकरणोंमें भी कार्य आरम्भ कर सकता है। योगिराज इस दशामें अपनी संयमशक्तिद्वारा अपने कर्माशयसे सञ्चित कर्मका बहुतसा अंश आकर्षण करके प्रारब्धरूपमें परिणत करता है। तत्पश्चात् उस नये आये हुए प्रारब्धकर्मराशिको अपनी इच्छाशक्तिसे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र शरीरके भोगनेके उपयोगी विभागोंमें विभक्त कर देता है। सुतरां योगिराजका एकही अन्तःकरण वास्तवमें प्रथममें संयमशक्ति और तत्पश्चात् इच्छाशक्तिके प्रयोगद्वारा अपनेही कर्मोंके विभागसे अनेक शरीरोंका प्रयोजक बन सकता है ॥ ५ ॥

परासिद्धिके अधिकारोंको प्राप्त समाधिसंस्कृतचित्तका वैलक्षण्य बताया जाता है—

उनमें जो चित्त ध्यानसे उत्पन्न हुआ है वही रागद्वेषसे रहित हो सकता है ॥ ६ ॥

संयम धारणाभूमिसे उत्पन्न होता है और एकतत्त्व ध्यानभूमिसे उत्पन्न होता है। सकाम योगी जब अपरा-सिद्धियोंमें प्रवृत्त होता है तो धारणासे उत्पन्न हुई धारणाध्यान-समाधिरूपी संयमशक्तिके बलसे अपरासिद्धियोंकी प्राप्ति करता है; परन्तु जो योगिराज निष्काम और उन्नत होते हैं, वे संयमका प्रयोग न करके केवल एकतत्त्वके आश्रयद्वारा ध्यानयोगसे युक्त होकर समाधिकी उन्नत दशाको प्राप्त होते हैं। यही परासिद्धि की अवस्था है। इस दशामें रागद्वेषका रहना असम्भव है। जो अन्तःकरण समाधि-सिद्धिद्वारा योगयुक्त हो जाता है, वह अन्तः-

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

करणही राग-द्वेष आदि वृत्तिसे रहित हो सकता है, क्योंकि क्लेशों-के नाश करनेकी शक्ति समाधिमेंही हो सकती है। इसकारण योगयुक्त समाधिस्थ अन्तःकरण जब पाप और पुण्यका भान, सुख और दुःखका अनुभव, प्रवृत्ति और निवृत्तिका सम्बन्ध छोड़कर निवृत्तिका सम्बन्ध छोड़कर निर्मलताको प्राप्त कर लेता है तबही उसमें पूर्वोक्त उन्नत सिद्धियोंका होना सम्भव हो सकता है; अर्थात् तब ही वे मुक्त योगी ईश्वर-शक्तिको प्राप्त करके ईश्वरेच्छा-से जो चाहे सो कर सकते हैं। वैसे योगिराज, वैसे उन्नत परासिद्धिके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें संयमक्रियासे उत्पन्न अपरासिद्धिकी आवश्यकता नहीं रहती। उनमें यदि कभी कोई सिद्धिका आविर्भाव होता है तो ईश्वरेच्छासे सहजरूपसे होता है। वह दशा एक विलक्षणही है॥ ६॥

चित्तकी तरह कर्मकी भी विशेषता बतायी जाती है—

अन्य लोगोंके कर्म शुक्लसे लेकर कृष्ण तक तीन प्रकारके होते हैं; परन्तु योगियोंके कर्म अशुक्ल अकृष्ण होनेसे विलक्षणही है॥ ७॥

पूर्वसूत्रमें समाधिस्थ योगीके अन्तःकरणकी अपूर्वताका वर्णन करके, अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार समाधिस्थ योगीके कर्मोंकी अपूर्वताका वर्णन कर रहे हैं। पूर्व यह कहही चुके हैं कि यदि च बहुतसी सिद्धियोंकी प्राप्ति जन्म आदि पाँच प्रकारसे हुआ करती हैं; परन्तु जो विलक्षणता समाधिस्थयोगीके अन्तःकरण-की होती है वह और और सिद्धियोंमें नहीं हो सकती। उसी प्रकार अब यह प्रमाणित किया जाता है कि जिस प्रकारके कर्म और और जीवगण करते हैं उस प्रकारसे परासिद्धिप्राप्त समाधिस्थ योगिगण

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ ७॥

नहीं करते, उनका कर्म कुछ विलक्षण ही होता है। सत्त्व, रज और तम, त्रिगुणके भेदसे साधारण जीवोंसे कर्म तीन प्रकारके हुआ करते हैं, यथा-शुक्ल, मिश्रित और कृष्ण; सात्त्विक मनुष्य अर्थात् पुण्यात्मागणके कर्म शुक्लकर्म, राजसिक अर्थात् मध्यवर्ती मनुष्य-गणके कर्म मिश्रितकर्म और तामसिक अर्थात् अधम-मनुष्यगणके कर्म कृष्णकर्म कहाते हैं। इसी त्रिविध गुण-विचारसे लोकादिकी भी सृष्टि हुई है, यथा—शुक्ल-कर्मविशिष्ट ऊर्द्ध्वलोक, मिश्रित-कर्म-विशिष्ट मृत्युलोक और कृष्ण-कर्मविशिष्ट अधोलोक है। यह जो कर्मोंका विभाग है वह गुण-भेदसे ही हुआ करता है और वासनासे ही संस्कारोंकी स्थिति होकर उनकी उत्पत्ति और स्थिति हुआ करती है; परन्तु योगिगणमें ऐसा नहीं होता, जब समाधि-साधनद्वारा उनका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तो वासना-रहित होनेसे इन त्रिविध कर्मोंका नाममात्र भी नहीं रहता और उनके कर्मोंकी एक विलक्षण अवस्था हो जाती है। अस्मितासे ही अन्तःकरणमें संस्कारोंका संग्रह हुआ करता है; अर्थात् अस्मिताके कारणही जीवगण शरीर और अन्तःकरण आदिको अपनाही जानते हैं इसकारण उनके किये हुए सब कर्मोंका संस्कार उनके चित्तोंपर रह जाता है, यही त्रिविध-कर्मकी सृष्टिका कारण है; परन्तु समाधिस्थ जीवन्मुक्त महात्मागणमें ऐसा नहीं होता; अस्मिताके नाशसे उनका अन्तःकरण नपुंसकताको प्राप्त हो जाता है और पुनः उनमें वासनाका नाश होजानेसे संस्कारसंग्रह ही नहीं हो सकते। समाधिस्थ महात्मागण सब कुछ करते हैं परन्तु उनके कर्म दग्ध-बीजकी नांई अङ्कुरोत्पत्तिके उपयोगी नहीं रहते; अर्थात् वे भी कर्म करते हैं परन्तु संस्काराबद्ध होनेके कारण जैसे सब सबीज-कर्म जीवके पीछे लग जाते हैं वैसे ही इनके निर्बीज-कर्म

होनेके कारण कर्मसमूह इन योगियोंको आश्रय नहीं कर सकते। श्रीभगवान् ने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

निष्काम कर्ममें जो कर्मका न होना समझता है और बलपूर्वक कर्मके रोकनेसे जो मनमें वासना रहनेके कारण कर्मको होना समझता है वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, युक्त और यथार्थ कर्म करनेवाला है। और भी—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

जो पुरुष योगयुक्त है, जिसका आत्मा विशुद्ध है जिसने आत्मा और इन्द्रियोंको जीत लिया है और सर्वभूतोंमें एकही आत्माको देखता है वैसा पुरुष कर्म करनेपर भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता। फलकी इच्छाको त्याग करके सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करता हुआ जो योगी काम करता है सो जलस्थित कमल-पत्रकी तरह पापमें लिप्त नहीं होता है। इसीलिये सूत्रमें उनके कर्मको अशुल्क कहा गया है और उनकी शुद्धबुद्धिके द्वारा तामसिक कर्मका नाममात्र भी न होनेसे उनका कर्म अकृष्ण भी है। भगवद्विभूतियोंको धारण करनेपर महात्मागण भगवद्रूप ही हो जाते हैं; जैसे समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् में स्थित है। ईश्वरही ब्रह्माण्डके कर्त्ता हैं परन्तु ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डका कर्म उनको आश्रय नहीं कर सकते, वैसेही निष्कामी, जितेन्द्रिय, अस्मिताशून्य, जीवन्मुक्त योगिगणका भी उनके किये हुए कोई कर्म आश्रय नहीं कर सकते। इस कारण योगिगणका

कर्म करना कुछ विलक्षण ही है; चाहे उनके द्वारा शारीरिक-कर्म हो, चाहे आध्यात्मिक, चाहे नाना विभूतियों, नाना ऐशो-सिद्धियों का प्रकाश उनके द्वारा क्यों न हो, परन्तु इस विलक्षणताके कारण वे सब कर्म ही उनकी इच्छा-अनिच्छासे अर्थात् वह सबही भगवद् इच्छासे होता हुआ संसारका कल्याण करेगा, किन्तु उनको स्पर्श नहीं कर सकेगा। जैसा कि ईशकोटिके महात्माओंके सम्बन्धमें कहा गया है। इस विषयमें भगवदुक्ति यथा—

त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः।
संरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले॥
विश्वमेवंविधैरेव ह्येकमात्रं स्वधाभुजः।
भवत्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तैर्महात्मभिः॥
सन्ति भागवता एवं भगवद्रूपिणो ध्रुवम्।
तेषां सततयुक्तानां मयैव पितृपुङ्गवाः॥
चित्ते सर्वज्ञताबीजं भवत्यारोपितं खलु।
मत्कार्यतत्परांस्तांश्च सर्वथा मत्परायणान्॥
देशकालौ न बाधेते कथञ्चित् किल कर्हिचित्।
जीवन्मुक्ताः महात्मान ईशकोटिं समाश्रिताः॥
यत्किञ्चनेह संसारे कार्यं कुर्वन्ति सन्ततम्।
कार्यं ममैव तत्सर्वं कुर्वते पितृपुङ्गवाः॥
यतोऽन्तःकरणं तेषां जैवाहङ्कारवर्ज्जितम्।
पूर्य्यते समदर्शित्वनिरासक्त्यादिभिस्तदा॥
भगवत्कार्यबुद्ध्यैव निरीक्ष्यन्ते निरन्तरम्।
सर्वस्मिन् समये ते च परार्थे केवलं रताः॥

ईशकोटिके जीवन्मुक्त ईश्वर-प्रतिनिधिरूप होकर भगवत्कार्य-रूपसे जगत् कल्याणमें रत रहते हैं। केवलमात्र ऐसे ही जीवन्मुक्त

महापुरुषोंके उपकारसे उपकृत होकर जगत् धन्य होता है। हे पितृ-गण ! इस प्रकारसे भागवतगण भगवद्रूप हो जाते हैं। मुझमें ही सदा युक्त रहनेसे सर्वज्ञताका बीज उनके अन्तःकरणमें आरोपित हो जाता है। सर्वथा मत्परायण और मेरे कार्यमें तत्पर होनेसे देश और काल उनको किसी प्रकार कभी बाधा नहीं दे सकते। ईशकोटिके जीवन्मुक्त इस संसारमें जो कुछ कार्य करते हैं सो मेरा ही कार्य करते हैं, क्योंकि उस समय उनका अन्तःकरण समदर्शिता और निरासक्तिसे पूर्ण होकर जैव अहङ्कारसे रहित हो जाता हैं, तब वे सब अवस्थाओंमें भगवान्‌का कार्य समझ कर केवल परार्थकार्यमें ही निरन्तर रत देख पड़ते हैं ॥७॥

त्रिविध कर्मोंका फल बताया जाता है—

पूर्वोक्त त्रिविध कर्मोंके विपाकके अनुसार वासना प्रकट होती है ॥ ८ ॥

योगियोंके कर्मों की विलक्षणता कहकर अब इस सूत्रसे महर्षि-सूत्रकार कर्मों का कुछ विस्तारित विवरण कर रहे हैं। कर्मकी गतिके अनुसार कर्म तीन प्रकारका है, यथा-सहज, ऐश और जैव। उद्भिज्जादिकी स्वाभाविक सृष्टिप्रद सहजकर्म, ऐशशक्तिसे सम्बन्ध-युक्त ऐशकर्म और मनुष्यादिसे सम्बन्धयुक्त जैव कर्म कहाता है। जैव कर्मके तीन भेद हैं, यथा सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। ये तीनों ही कर्म कृष्ण, शुक्ल और मिश्ररूपसे तीन भागमें विभक्त होते हैं। उन कर्मों मेंसे जिस कर्मकी प्रबलता होती है वही कार्यकारक होजाता है, अर्थात् यदि शुक्ल-कर्म प्रबल हुआ तो उस समयमें मिश्रित और कृष्ण-कर्म दबे रहेंगे और शुक्लकर्मका ही फल प्रकाशित होता रहेगा। पूर्वमें दृष्ट और अदृष्ट कर्म-भेदसे

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

दो प्रकारकी कर्मकी गतिका वर्णन विस्तारितरूपेण आचुका है। कर्मका बीज संस्कार कहाता है। जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फिर बीज प्रकट होता है और सृष्टिकी धारा चलती है उसी प्रकार कर्मसे संस्कार और संस्कारसे कर्म उत्पन्न होता रहता है। संस्कार-रूपी बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति आदिका जो क्रम है उसको विपाक कहते हैं। उस विपाकका क्रम इस प्रकारसे होता है। पहले वासना उत्पन्न होती है। उसके बाद प्रवृत्ति होती है। वासना जहाँ प्रवल नहीं है वहाँ प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ती है। जहाँ वासना प्रवल है वहाँ प्रवृत्ति अग्रसर होती है। स्मृति भी संस्कारसेही उत्पन्न होती है; परन्तु कर्मविपाकसे फल तभी उत्पन्न होता है जब प्रवृत्ति अग्रसर होती है। अदृष्टसे दृष्ट उत्पन्न होने पर यह सब होता है। इसप्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणविशिष्ट शुक्ल, मिश्रित और कृष्णकर्म नवीन वासना और नवीन कर्मोंकी सृष्टि करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं; यही वासनारूप कर्मकी अनन्तता है; इसी भूल-भुलैयासे निकलना जीवका असम्भव है और निकल जाना ही मुक्ति कहाती है ॥ ८ ॥

शक्तिभेदानुसार संस्कारोदय क्रम बताया जाता है—

जो कर्म-वासनाएँ जन्म, देश और कालसे व्यवहित हैं उनका भी क्रमपूर्वक उदय हुआ करता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप हैं ॥ ९ ॥

यह पूर्व ही कह चुके हैं कि कर्मकी तीव्रता और मंदताके कारण जिस प्रकार कर्म दृष्ट और अदृष्ट हुआ करता है; उसी प्रकार शक्तिभेदके कारण सब कर्म ही स्मृति और संस्कार दशाको प्राप्त करेंगे। जो कर्म जीव करता है उसकी स्मृति जीवके चित्तमें

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यस्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

बनी रहती है और उसका संस्कार चित्तमें अङ्कित हो जाता है। यद्यपि चित्तका अर्थ इस दर्शनमें अन्तःकरण है परन्तु विशेषरूपसे अन्तःकरणके उसी विभागको चित्त कहते हैं जहां संस्काररूपी वीज जमा रहता है। उस बीजका स्मृतिरूपी दृश्य बनता है। वह स्मृतिरूप दृश्य किसी दशामें उदित होता है और किसी दशामें नहीं भी होता है। जैसे बहुत दिनोंको बात जीव भूल जाता है अथवा जन्मान्तरके कर्मों को स्मृति जोवको नहीं रहती है, परन्तु उसके संस्कारका स्थायी रहना अवश्यम्भावी है। यही स्मृति और संस्कारका-भेद है और केवल कर्मों के शक्ति-भेद-मात्रसे यह अवस्था-भेद हुआ करता है। इस कारण महर्षि सूत्र-कार कह रहे हैं कि यदि कर्मों में जन्म, देश और कालका भेद पड़ जानेसे वे अलग हो जाते हैं तत्र च उनमें स्मृति और संस्कारदृष्टिसे ऐक्य रहनेके कारण वे सब अपने क्रमके अनुसार उदय होते ही रहेंगे। इसके उदाहरणमें ऐसा समझना उचित है कि यदि एक जीव गुण-भेदसे शुक्ल अर्थात् देवशरीर-उपयोगी कर्म, मिश्रित अर्थात् मनुष्ययोनि-उपयोगी कर्म और कृष्ण अर्थात् पशु आदि योनि उपयोगी कर्मसंग्रह करता हुआ कर्माशयको भरता जाता है और जैसे ऊष्मताके प्रभावसे आकाश-स्थित वायुका तरल अंश ऊपर और गंभीर-अंश नीचे हो जाता है वैसे ही कर्म-की शक्तिके तारतम्यके कारण कोई कर्म प्रबल और कोई कर्म दुर्बल होता हुआ, उन कर्मों में जन्म देश और कालका अन्तर पड़ता जाता है तत्रच संस्कार तीव्र हो अथवा मन्द परन्तु संस्कार ही है, इस कारण वे अपने समय और क्रमपर उदय होते ही रहते हैं। एक जीवके साथ देव-योनिके कुछ कर्म, मनुष्य योनिके कुछ कर्म सभी उपस्थित हैं, परन्तु एक शरीरसे दूसरे शरीरके ग्रहणके समय तीव्र-संस्कार होनेके कारण उसको मनुष्य-जन्म

मिला और तव उसको मिश्रित कर्म्मों का ही भोग होने लगा और यदिच इन मिश्रित-कर्मोंकी प्रवलताके कारण उस जीवके और और शुक्ल और कृष्ण-कर्मोंके साथ इन मिश्रित कर्मोंका जन्म, देश और कालसे वहुत ही भेद पड़ गया, तत्रच जब कभी इस तरंग क्रमसे पुनः उसको देवता अथवा पशु-शरीर प्राप्त होगा तभी वे छिपे हुए शुक्ल अथवा कृष्ण-कर्म अपने अपने क्रमपर उदय होकर फल प्रकाशित करने लगेंगे। इस प्रकार संस्कारसे स्मृति और स्मृतिसे संस्कार और स्मृतिके तरंगके अनन्तर संस्कारके तरंग और संस्कारके तरंगके अनन्तर स्मृतिके तरंग उठते हुए जीवको अनादि और अनन्त कर्म-समुद्रमें बहाते रहते हैं। यही अनन्तसृष्टिका अनन्त विस्तार है ॥ ९ ॥

क्रमविन्याससिद्धिके लिये वासनाका स्वरूप कहा जाता है—

वासना अनादि है; क्योंकि अपने कल्याणकी इच्छा नित्य है ॥ १० ॥

यह पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि जैसे तरङ्गके घातप्रतिघात-से अनन्ततरंग उठते हुए जलाशय तरंग-समूहसे आच्छादित कर देते हैं और पुनः घातप्रतिघातसे क्रमागत तरंग उठते हो रहते हैं वैसे ही वासनाकी उत्पत्ति होते हुए दृष्ट और अदृष्टकर्मोंके घात प्रतिघातसे जीव कर्म-स्रोतमें बहता ही रहता है; परन्तु यदि ऐसा प्रश्न उठे कि पूर्वापर सम्बन्ध रहनेसे अवश्य ही सबसे प्रथममें जो वासना हुई थी उस वासनाकी कौन कारण रूप वासना थी ? इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वासना अनादि है, क्योंकि प्रत्येक जीवमें अपनी कल्याण-

तासामनादित्वञ्चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

इच्छारूप वासना स्वाभाविक ही हुआ करती है। इसकारण वासना-का अनादि होना सिद्ध होता है "मैं सर्वदा रहूँ, मेरा कल्याण हो" इसप्रकारकी जो आत्म-आशीर्वादक वासना हुआ करती है, वह मनुष्यसे लेकर पिपीलिका तक और मुमूर्षु वृद्धसे लेकर सद्यःप्रसूत बालक तकमें देखनेमें आती है। यदि विचारा जाय कि ऐसी स्वाभाविक सर्वव्यापक वासनाका आदिकारण क्या है तो विचारते विचारते यही पता लगेगा कि यह आत्मआशीर्वादक वासना अनादि ही है। इसकारण वासनाको अनादि समझनेसे पूर्व उल्लिखित प्रश्न उठ ही नहीं सकता। कोई कोई बुद्धिमान्‌गण इसी प्रकारसे सृष्टिका आदिकारण अर्थात् क्यों ईश्वरने यह सृष्टि उत्पन्न की? ऐसा सन्देह उठाया करते हैं। यदि वासना अनादि-सिद्ध होती है तो उन बुद्धिमान्‌गणका भी यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। जैसे दीपक जब घटमें स्थापन किया जाता है तो उसकी ज्योति घटके आकाशको ही प्रकाशित करती है; परन्तु ज्योति व्यापक है इसलिये जब वह घटसे बाहर निकाली जायगी तबही वह फैल जायगी; ऐसे ही अन्तःकरण भी संकोच और विकाशको प्राप्त हुआ करता है। यह योगिगणका ही मत है कि मन अर्थात् अन्तःकरण व्यापक है इस कारण अन्तःकरणकी वासना भी व्यापक है; केवल गतिके प्रभावसे वह संकोच और विकाशको प्राप्त हुआ करती है। जैसे प्रकृति अनादि है वैसे ही वासना अनादि है, जब वासना है तभी संसार है इसी प्रकार प्रकृति और वासनाका अनादित्व सिद्ध होता है ॥१०॥

अनादि होनेसे वासनाका अभाव नहीं हो सकता है इस शंकाके निवारणमें कहते हैं—

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके द्वारा वह संगृहीत

हुआ करती है और इन सबके अभावसे उसका भी अभाव होता है ॥११॥

पूर्वसूत्रसे यह सिद्ध ही हो चुका है कि वासना अनादि है; इस कारण यदि ऐसा प्रश्न उठे कि अनादि-वासनाका नाश कैसे हो सकता है ? और जब वासनाका नाश नहीं होगा तो मुक्ति भी होना असम्भव है ? इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदिच वासना मूलकारणसे अनादि है तत्रच वह हेतु फल, आश्रय और आलम्बनकेद्वारा संगृहीत होती हुई आगे बढ़ा करती है, जब यही उसके संग्रहके कारण हैं तो इनके नाशसे उस वासनाका भी नाश हो सकता है। जिस प्रकार स्थूल-शरीरमें जो चेतन है वह अजर और अमर है परन्तु चेतनका सम्बन्ध शरीरके साथ और शरीरका सम्बन्ध अन्नके साथ रहनेसे, यदि स्थूल-शरीर अन्नद्वारा पोषण न किया जाय तो वह चेतनयुक्त स्थूल-शरीर मृत्युको प्राप्त हो जावेगा, वैसेही यदि वासना अनादि है तत्रच हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनद्वारा उसका पोषण होता है, यदि उसके पोषणका कारण निवृत्त हो जायगा तो वह आपही नाशको प्राप्त हो जायगी। वासनाका हेतु अनुभव, अनुभवका हेतु रागादिक और रागादिकोंका हेतु (मूलकारण) अविद्या है, इसी प्रकार वासनाका फल शरीर आदि हुआ करते हैं; स्मृति और संस्कार उस वासनाके आश्रय कहाते हैं और बुद्धिही आलम्बन है; इस प्रकार वासना अनादि और अनन्त होनेपर भी वह हेतु, फल आश्रय और आलम्बनके द्वाराही जीवित रहती है, परन्तु जब समाधिद्वारा वासनाके इस पोषकगणका नाश होजाता है तो उनके विरहसे वह भी नाशको प्राप्त होजाती

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

है। इसप्रकार वासनाके नाशसे कैवल्यकी प्राप्ति हुआ करती है जैसे अविद्या अनादि और सान्त है वैसे वासना भी अनादि और सान्त है। ज्ञानहीन जीवकेलिये अनादि वासना सदा बनी रहती है; परन्तु आत्मज्ञानके उदय होनेसे सूर्यके उदयसे अन्धकारके समान वासनाका नाश हो जाता है। बासनाका नाश होतेही मनका मनस्त्व नष्ट होजाता है। मनके नाशसे चित्तकी वृत्तियाँ नहीं रहती हैं। वृत्तिसे रहित चित्तमें स्वरूपका उदय होना स्वभावसिद्ध है। यही मुक्तिपद है ॥११॥

सद्रूपसे विद्यमान वासनाओंका नाश कैसे हो सकता है इस शंकाके समाधानार्थ कहा जाता है—

भूत भविष्यत् धर्म धर्मीके स्वरूपसे सूक्ष्मरूपमें रहता है क्योंकि धर्मके अतीत, अनागत और वर्तमानरूप काल या अवस्था भेद हैं ॥ १२ ॥

अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि वासना और वासना-फल जो कार्य-कारण-भावसे रहनेवाले हैं और भिन्न-भिन्न हैं वे कैसे एक हो सकते हैं ? अर्थात् अन्तःकरण जब प्रतिक्षण वासनाकी उत्पत्ति और लयसे विनष्ट होता रहता है तो उसका एक ही बना रहना कैसे सम्भव है ? अथवा जब भूत वासना और भविष्यत् वासनामें कार्य-कारण-भाव सदा बना रहता है तो एकदमसे वासनाका नाश होकर मुक्ति होना कैसे सम्भव है ? इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल गुणसे भिन्न भिन्न हैं, नहीं तो काल एक ही है और जिस अन्तःकरणमें वह काल प्रकाशित होता है वह अन्तः-

अतीतानागतस्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

करण भी एकही है और मोक्ष-पर्यन्त वह एकही बना रहता है। गुण-भेद मिटजानेसे भविष्यत् और वर्त्तमानकाल भूतकालमें रहजाते हैं और तभी मुक्तिपदका उदय होता है; क्योंकि तत्त्वज्ञान-द्वारा वासनाका नाश हो जानेसे जब वर्त्तमान काल और भविष्यत् कालके लिये कोई इच्छा योगीके अन्तःकरणमें उत्पन्नही नहीं होगी तो तत्त्वतः वर्त्तमान और भविष्यत्काल भूतमेंही लयको प्राप्त होगया ऐसा समझना होगा। काल आकाशके समान निर्लिप्त पदार्थ है। जैसे अन्य तत्त्वोंके सम्बन्धसे आकाश नीलवर्णसा दिखाई देता है; परन्तु तत्त्वतः वह रङ्गसे रहित है, उसी प्रकार धर्मद्वारा तीनों काल अलग अलग दिखाई देते हैं, तत्त्वतः वे एक ही हैं। उस समय धर्मका अभाव हो जानेसे तीनों एकही हो जाते हैं। बीते हुए कालको भूतकाल कहते हैं अर्थात् जिसका अनुभव होचुका है, वर्त्तमान-काल उसे कहते हैं कि जो अपनी क्रिया कर रहा है और अनागत कालको ही भविष्यत्काल कहते है। इन तीनों वस्तुओंके ज्ञानमें प्रथम ज्ञेय है, अर्थात् बिना काल ज्ञानके किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता; परन्तु विचारनेसे ऐसे अनुभव होता है कि गुणी कोई अपूर्व गुणकी उत्पत्ति नहीं करता, एकही गुणमें अनेक गुण प्रकाशित हुआ करते हैं, और इसी प्रकार भूतकालका गुण वर्त्तमानकालमें और वर्त्तमानकालका गुण भविष्यत् कालमें प्रकाशित होजाता है। इस सिद्धान्तसे यही तात्पर्य्य है प्रत्येक-काल प्रत्येक कालमें उपस्थित है। अन्तःकरण कालभेदसे गुणभेदको तबही अनुभव करता है जब कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है; परन्तु यह अवस्था-भेद और कुछ भी नहीं है किन्तु केवल भविष्यत्को भूतकालका परिणाम समझना उचित है। यदि समाधि-साधन द्वारा ऐसा हो कि यह परिणाम हुआ ही न करे अर्थात् वर्त्तमान और भविष्यत्काल

भूतकालमेंही लय होजाया करें, तो जैसे दग्ध बीज अङ्कुरोत्पत्तिके उपयोगी नहीं रहते, वैसे ही वासनासे वासना उत्पन्न करनेकी शक्ति तत्वज्ञान द्वारा गत वासनामें ही लय हो रहेगी । परिणाम क्रमोंसे यही सिद्ध हुआ कि मोक्ष-पर्यन्त धर्मी धर्मके नानारूपको प्राप्त करनेपर भी एकही बना रहता है; अर्थात् अन्तःकरण यदिच नानावृत्तियोंको धारण करता रहता है तत्रच कार्य्य-कारण-भावसे मोक्ष-अवस्था की प्राप्तिपर्यन्त वह एकहो बना रहता है और यह भी सिद्ध हुआ कि वह गुण-विकार-रहित होजानेसे कालविकारसे भी रहित होजाता है यही मनोनाशकी दशा कहाती है; अर्थात् जब भूतकालही वर्त्तमान और भविष्यत्कालका उत्पादक है तो चित्त-विमुक्ति-अवस्थामें जब भूतकालसे वासनाका परिणाम होगा ही नहीं, तो आपही आप वासनका पूर्णलय हो जायगा। इसी अवस्थामें अन्तःकरण पूर्णरूपेण मुक्त होजाता है और इसी अवस्थासे कैवल्यपदकी प्राप्ति होती ॥ १२॥

अब पूर्वोक्त धर्मका स्वरूप कहा जाता है—

धर्मसमूह व्यक्त और सूक्ष्म तथा त्रिगुणात्मक होते हैं ॥ १३ ॥

अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार धर्म और धर्मीके विस्तृत स्वरूपको वर्णन कर रहे हैं। जिस पदार्थमें जिस सत्ताके न रहनेसे उस पदार्थका अस्तित्व नहीं रहता है उसको धर्म कहते हैं। इस प्रकारसे जड़से लेकर चेतनपर्यन्त और परमाणुसे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सबमें ही धर्मकी सत्ता विद्यमान है और सबमें ही धर्मकी सत्तासे धर्मीकी सत्ता अनुभूत होती है। रूपान्तरमें धर्मा-

---

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

धर्मका विराट् स्वरूप भी इसी विज्ञानसे निर्णीत हुआ है; अर्थात् जिस वस्तुकी सत्ता स्थायी रखनेके लिये जो शक्ति कार्यकारी है वही धर्म कहाता है और जो उसकी सत्ताको नष्ट करे वही अधर्म कहाता है। धर्मीके धर्म जब बीजरूपसे रहते हैं तब सूक्ष्म कहाते हैं और जब वृक्षरूपसे विस्तारको प्राप्त होते हैं तब वे व्यक्त कहाते हैं। धर्ममें वर्त्तमान तीन मार्गोंका-विस्तारित विवरण पूर्वसूत्रमें आही चुका है, पुनः कहा जाता है कि धर्म पूर्व कही हुई रीतिके अनुसार प्रत्यक्ष और सूक्ष्मभावसे सत्त्व, रज और तमोगुणके साथ उनकेही परिणाम और उनकेही स्वभावको प्राप्त होते रहते हैं क्योंकि सत्त्व, रज और तमोगुणसेही धर्मीमें धर्म उन सब भावोंके रूपमें ही जो व्यक्त अर्थात् प्रकट और अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म भेदसे प्रकट होते हैं दिखाई दिया करते हैं। जो जिसका अनुगामी होता है वह उसकेही परिणामको प्राप्त होता है, जैसे मिट्टीके संग घटका सम्बन्ध; क्योंकि घट मिट्टीकाही परिणाम है। इस प्रकारसे सत्त्व रज तमरूपी गुणपरिणामसे धर्मका स्वरूप उदय होकर धर्ममें प्रकट रहता है। अस्तु धर्मसमूह व्यक्त और सूक्ष्म दो श्रेणीके रूपको धारण करते हुए त्रिगुणात्मक होते हैं ॥१३॥

त्रिगुणपरिणामजन्य होनेपर भी वस्तुका एकत्व क्यों है इस शंकाका समाधान किया जाता है—

परिणामकी एकतासे वस्तुका तत्त्व जाना जाता है ॥ १४ ॥

परासिद्धिप्राप्त योगिराजकी बुद्धिको शुद्ध सत्त्वकी ओर पहुँचाकर एकतत्त्वकी सहायतासे निर्विकल्प समाधिमें पहुँचा देनेके

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अभिप्रायसे त्रिगुणसे धर्मकी एकता और तत्पश्चात् धर्मसे धर्मी और धर्मीसे पुरुषके स्वरूपमें पहुँचानेके लिये इस पादका पुरुषार्थ है। पूर्व सूत्रमें यह प्रमाणित होचुका है कि सत्त्व-रज और तम, ये तीन गुणही सब कार्यों में कारणरूपसे हुआ करते हैं। अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार यह कह रहे हैं कि यद्यपि गुण तीन हैं तथापि वे एकही अंग आदि भावको परिणाम रूपसे धारण किया करते हैं; अर्थात् कभी सत्त्वगुण अंगी और रज और तमोगुण अंग, कभी रजगुण अंगी और सत्त्व और तमोगुण अंग और कभी तमोगुण अंगी और रज और सत्त्वगुण अंग हुआ करते हैं। ऐसेही सबके परिणामकी एकता है। इससे यही तात्पर्य है कि एक गुण कभी स्वतंत्र-रूपसे कार्यकारी नहीं होता, वे तीनों मिलेजुलेही रहा करते हैं, भेद इतना ही है कि जो गुण प्रधान होता है वही अंगी और उस समय और दोनों गुण अंग-रूपसे दबे रहते हैं। इसके उदाहरणमें विचारना उचित है कि जैसे पृथिवीमें यदिच और चारों तत्त्व भी मिश्रित हैं तत्र च प्रधानताके कारणपृथिवी, पृथिवी-तत्त्वही है। पुनः विचारिये कि जैसे महत्में सत्त्वगुण प्रधान होनेके कारण रज और तमोगुण दवे रहते हैं, तदनन्तर महत्से अहंकारकी उत्पत्ति होनेपर जब सृष्टिका विस्तार होता है तो रज और तमोगुण क्रमशः प्रधानताको प्राप्त होते हैं तब स्वतः ही सत्त्वगुण दब जाता है; इसी प्रकार तीनों गुण मिले हुए ही चलते हैं और अपनी-अपनी प्रधानताके कारण स्वतंत्र स्वतंत्र भावको धारण करके स्वतंत्र स्वतंत्र संज्ञाको प्राप्त हुआ करते हैं। इन युक्तियोंसे यही विचारमें आया कि सब ही गुण एक हैं। ये तीन गुणके तीन प्रकारके परिवर्त्तन ही परस्पर सहायक-भावसे एक ही कहे जा सकते हैं क्योंकि इनमें परिणामकी एकता सिद्ध ही है। जब तक गुणकी स्वतंत्र स्वतंत्र सत्तामें बुद्धि फँसी रहती है, तब

तक एकतत्त्वके उदयमें सहायता नहीं होती है और न वस्तुका यथार्थ स्वरूप अनुभूत होता है इस कारण गुणपरिणामकी एकतासे ही वस्तुका यथार्थ तत्त्व ज्ञात होता है ॥ १४ ॥

और भी सूक्ष्मराज्यमें लेजानेके लिये वस्तु और ज्ञानकी पृथक्ता बतायी जाती है—

वस्तुकी एकता होनेपर भी चित्तके भेदसे वस्तु और ज्ञानका पथ भिन्न है ॥ १५ ॥

वस्तुओंमें एकता होनेपर भी अन्तःकरणभेदके कारण उनमें भेद प्रतीत होने लगता है, यथा—किसी रूपलावण्यवती स्त्रीको देखनेसे कोई तो सुखको प्राप्त होता है, कोई ईर्षा और लोभ आदिके वशीभूत होकर दुःखको अनुभव करता है और कोई विचारयुक्त होकर वैराग्य रूपी निरपेक्ष वृत्तिकी सहायता लेता है। सुन्दरी युवती एकही पदार्थ है परन्तु अन्तःकरण-भेदके कारण भोग-लोलुपकामी उसे सुखका कारण मानता है, उसकी सौत उस स्त्रीको देखकर दुःखको प्राप्त होती है और संन्यासी उसही एक पदार्थको देखकर वैराग्ययुक्त हो उसकी ओरसे मुँह फेर लेते हैं। इसी प्रकारसे समझना उचित है कि प्रत्येक वस्तुमें अन्तःकरण-भेदसे नानात्व प्रतीत हुआ करता है। इस प्रकार एक वस्तुमें नाना प्रकारका भान होना ही सृष्टिकी विलक्षणता है। यदि कार्यभेद न माना जाय तो जगत्की विलक्षणता भी नहीं रह सकती और यदि अन्तःकरण-भेद न माना जाय तो जगत् हेतु-रहित हो जायगा; परन्तु यदि यही बात हो तो विचारनेसे स्वतः ही सिद्ध होगा कि सत्त्व, रज और तमोगुण जैसे विषयमें हैं; अर्थात् जैसे

वस्तुसाम्येऽपि चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः ॥ १५ ॥

विषय त्रिगुणात्मक है, वैसे ही अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक है, उसको पदार्थका ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञानके धर्मादिक सहायकारी कारण हैं; अर्थात् उस धर्मके प्रादुर्भाव और तिरोभाव से अन्तःकरण भी उसी धर्मके रूपमें भान होने लगता है। इसी प्रकारसे वस्तुकी एकता होनेपर भी अन्तःकरण-भेद होनेके कारण उनके मार्गमें भी भेद पड़ जाता है। एक पुरुष है और प्रकृति भी एक है परन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी है; किन्तु प्रकृतिके संगसे पुरुष प्रकृतिके भावको धारण करके अन्तःकरणविशिष्ट धर्मी हो रहा है। अब प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण प्रत्येक अन्तःकरण और अन्तःकरणके वहिर्विषय सबही त्रिगुणमय हैं, इस कारण यदि पूर्व प्रमाणसे वस्तुकी एकता होती है, वहाँ अन्तःकरणभेदके कारण वस्तु और ज्ञानका मार्ग भी विभिन्न अनुभव होने लगता है। पूर्वसूत्रोंमें महर्षि सूत्रकारने धर्मसम्बन्धसे एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा की तत्पश्चात् त्रिगुणमें ऐक्य उत्पन्न करके एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा की, अब वस्तुकी एकता सिद्ध करके अन्तःकरणविशिष्ट धर्मीके ज्ञानके साथ वस्तुकी पृथक्ता दिखा रहे हैं और इस प्रकारसे एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा अन्तर्जगतमें विशेषतर रूपसे करा रहे हैं॥ १५॥

और भी सूक्ष्मराज्यमें एकतत्त्वको पहुँचाया जाता है—

वस्तु एकचित्ततन्त्र नहीं है; क्योंकि ऐसा होनेसे तब चित्तकी विषयान्तरमें आसक्ति या वृत्तिरहित दशामें प्रमाणरहित वस्तुकी क्या दशा होगी अर्थात् वह वस्तु नाश हो

जायगी या पूर्ववत अवस्था
न करेगी ॥१६॥

वृत्तिस्वरूपा दशामें अन्तःकरणमें चिदाभासपूर्ण धर्मी नानात्व-भावको धारण किये रहता है। वही नानात्वभावसे पूर्ण अन्तः-करण जलाशयमें तङ्गगपर तरङ्गोत्थान दशाके समान आलोड़ित और चञ्चल बना रहता है इसी कारण निर्लिप्त, निर्विकार पुरुषका स्वरूप अप्रकाशित रहता है। एकतत्त्वकी सहायतासे क्रमशः योगिराज उस नानात्वके विस्तारको योगसाधनद्वारा प्रथमतः यथाक्रम घटाता है। तदनन्तर समाधिभूमिमें पहुँचकर एक तत्त्वको अन्तःकरणके सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्मतर राज्यमें पहुँचाता हुआ अन्तमें एकतत्त्वकी सर्वाङ्गीण पूर्ण प्रतिष्ठा करके अन्तः-करणको जब ही निर्मल कर लेता है तभी आत्मस्वस्वरूपमें अवस्थित हो जाते हैं। अस्तु, निर्विकल्प समाधिकी पूर्णता सम्पा-दनके अर्थ महर्षि सूत्रकार और भी सूक्ष्मराज्यमें पहुँचकर ज्ञानमें एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा कर रहे हैं। पूर्वकथित विज्ञानको और स्पष्ट करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वहिर्विषय एक ही अन्तःकरणका विषय है ऐसा भी नहीं कह सकते। एक समय में जब एक अन्तःकरण उस ही विषयको देखता है तो ऐसा भी संभव हो सकता है कि दूसरा अन्तःकरण भी उस वस्तुको उसी रीतिसे देखे और जब एक अन्तःकरण उस वस्तुको अनुभव करने-से रहित हो जाता है तब यह भी सम्भव है कि उसके अनन्तर दूसरा अन्तःकरण पुनः उसको अनुभव कर सकता है और यह भी सम्भव है कि एक ही अन्तःकरण उस पदार्थको प्रथम अनुभव

न चैकचित्ततंत्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

करे तत्पश्चात् अनुभव करनेसे रहित हो जाय और तदनन्तर पुनः उसको अनुभव करने लगे। इन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि न तो विषय एक अन्तःकरणका परिणाम है और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि कि विषय अन्तःकरणसे कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है अर्थात् त्रिगुणात्मक विषय भी स्वतंत्र है और त्रिगुणात्मक अन्तःकरण भी स्वतंत्र है इन दोनोंके सम्बन्धसे जो विलक्षण बोध होता है वही पुरुषका भोग है। ज्ञानमें एकतत्त्वकी प्रतिष्ठासे यही अनुभवमें आवेगा कि विषय त्रिगुणात्मक होनेसे अनेक हैं और अन्तःकरण भी अनेक हैं, सुतराम् अनेकत्व मानका सम्बन्ध विषय और अन्तःकरणसे ही रहता है। अस्तु, पुरुषके भोगका जो सम्बन्ध है वह केवल ज्ञानसे है। सुतरां पुरुषकी भोगजन्य जो ज्ञान है वह एक है, ऐसा अनुभव जब योगीको हो जाता है तब एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा ज्ञान तकमें हो जाती है॥ १६॥

नित्यज्ञानमय पुरुषकी उपलब्धि करानेके अर्थ अन्तःकरण सम्बन्धसे ज्ञानाज्ञान दशाका वर्णन किया जाता है—

ज्ञेय-वस्तुका प्रतिविम्ब पड़नेसे चित्तको ज्ञान और अज्ञान रहता है॥ १७॥

विषय अर्थात् ज्ञेयपदार्थ चुम्बक पत्थरके समान होता है और अन्तःकरणको लोहेके समान समझना उचित है। जैसे चुम्बक पत्थरका लोहेसे सम्बन्ध होते ही लोहा खिचकर चुम्बक पत्थरमें मिल जाता है, वैसे ही अन्तःकरणका सम्बन्ध विषयसे होते ही अन्तःकरण विषयकी ओर खिचकर विषयवत् हो जाता है। जैसे लाल वस्त्रकी ओरसे जब दर्पणका मुंह फिरा रहता है तो वह

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥

दर्पण अपनी स्वच्छताको प्राप्त किये रहता है; परन्तु रक्त-वस्त्रके सम्मुख दर्पण रखते ही दर्पण लाल रंगको धारण कर लेता है; वैसे ही अन्तःकरण और विषयके स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ होनेपर भी अन्तःकरण अविद्याके कारण विषयको देखते ही विषयके रूपका धारण कर लेता है; जैसे रक्त वर्णको वस्तु अपना प्रतिबिम्ब डालकर स्वच्छ दर्पणको लाल रंगका कर डालती है, वैसे ही विषय भी स्वच्छ अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर अन्तः-करणमें प्रतिबिम्बित होकर अन्तःकरणको अपने रूपका-सा ही कर डालते हैं। जैसे दर्पणके सम्मुख लाल रंग रहनेसे दर्पण लाल हो जाता है और जब तक पुनः उसके सम्मुखसे वह लाल वस्तु हटाकर और कोई रंग की वस्तु न रक्खी जाय तब तक वह दर्पण लाल ही रहेगा और दूसरे रंगको धारण नहीं कर सकेगा वैसेही अन्तःकरणपर जिस विषयका प्रतिबिम्ब पड़ा है अन्तःकरण उस ही विषयको जानता है और उस समयमें जिनका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा है उनको वह नहीं जान सकता है; इसी रीतिसे ज्ञेय-रूपी वस्तुके प्रतिबिम्ब होने और न होनेसे अन्तःकरण वस्तु-ज्ञान और वस्तु-अज्ञानको प्राप्त किया करता है। अन्तःकरण व्यापक है और पूर्वसूत्रसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि विषय अन्तः-करणसे स्वतंत्र हैं; इस कारण यदि ऐसा सन्देह उठे कि अन्तः-करण समस्त विषयोंको एक ही समयमें ग्रहण कर सकता है, तो अब इस सूत्रके विचारसे यह सन्देह नहीं उठ सकता क्योंकि अन्तःकरणसे जिस विषयका सम्बन्ध हो जाता है अन्तःकरण केवल उस विषयकोही ग्रहण कर सकता है। इस विज्ञानको और रीतिसे भी इस प्रकार समझ सकते हैं कि पुरुषके प्रकाशसे एक ओर तो अन्तःकरण प्रकाशित रहे और दूसरी ओरसे जब विषय का प्रतिबिम्ब उस अन्तःकरणरूपी प्रकाशित यंत्रमें पड़े तबही अन्तः-

करणको विषयका बोध हो सकता है; और पुनः उस प्रतिबिम्बका जो संस्कार अर्थात् दाग रहजाता है वही कर्म-संस्कार कहलाता है और उस रहे हुए कर्म-संस्कारका पुनः अन्तःकरणमें जो अनुभव होता है उसीको स्मृति कहते हैं; परन्तु इतना अवश्य विचारना उचित है कि जब अन्तःकरण सावधान रहेगा और उससे विषय-का सम्बन्ध होगा तबही विषयका अनुभव अन्तःकरणको होसकता है और तबही संस्कार और स्मृतिका भी उदय होसकता है, नहीं तो कुछ भी नहीं होसकता। इसकारण ज्ञेयवस्तुके प्रतिबिम्बित होनेसे ही अन्तःकरणमें वस्तुका ज्ञान और प्रतिबिम्बित न होनेसे वस्तुका अज्ञान हुआ करता है। ज्ञानमें एकतत्त्वकी प्रतिष्ठाका स्वरूप पूर्वसूत्रमें दिखाकर अन्तःकरणसे पुरुषकी स्वतन्त्रता अर्थात् "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इस श्रुतिवचनकी चरितार्थताके लिये इस सूत्रद्वारा यह दिखाया गया है कि ज्ञान होना और अज्ञान होना इस प्रकारसे जो द्वन्द्वकी दशा है वह अन्तःकरणकी दशा है पुरुषकी स्थिति उससे परे है॥ १७॥

नित्यज्ञानकी स्थिति कहाँ है सो कहा जाता है—

वृत्तियोंके स्वामी पुरुष सदा परिणामरहित हैं इससे सब कालमें ही चित्तकी वृत्तियां ज्ञात रहती हैं॥ १८॥

पूर्वसूत्रोंमें अन्तःकरण और विषयरूप-प्रकृतिके विस्तारका भलीभाँति वर्णन करके अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार नित्य ज्ञानमय पुरुषका स्वरूप ज्ञानसम्बन्धसे वर्णन कर रहे हैं, और यह भी दिखा रहे हैं कि पुरुष सकल समयमें एकरूप और परिणाम रहित है इस कारण ही चंचलस्वभाव अन्तःकरणकी वृत्तियाँ उन्हें

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥

ठीक-ठीक ज्ञात हुआ करती हैं। यदि विपरीत विचारसे ऐसा विचारा जाय कि अन्तःकरणके सदृश अन्तःकरणके स्वामी आत्मा भी परिणामी हैं अर्थात् जैसे विषयके संग और वृत्तियोंके प्रभावसे अन्तःकरण नाना भावोंको धारण करता रहता है वैसे ही यदि आत्मा भी चंचल होते रहते; तो यह निश्चय ही है कि उनकी ज्ञानवृत्तिमें भी फेर पड़ जाता और ऐसा होनेसे चित्तकी वृत्तियाँ यथावत् जानी नहीं जा सकती थीं; परन्तु जब देखनेमें आता है कि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ यथावत् ज्ञात होती रहती हैं; तब यह प्रमाणित ही है कि पुरुषमें कोई भी विकार होना सम्भव नहीं; क्योंकि यह अन्तःकरणके स्वामी पुरुषके परिणाम-रहित होनेका कारण है कि जिससे अन्तःकरणकी वृत्तियाँ यथावत् ज्ञात होती हैं। सत्त्वरूपी चैतन्य सदा अपरिणामी और एकरस हैं, उनके नित्य एक रूप अधिष्ठानसे अन्तरंगमें निर्मल-सत्त्व सदा विराजा करता है; क्योंकि नित्य-वस्तुके गुण भी नित्य होते हैं, इस कारण वह सत्त्वरूपी प्रकाश सदा एकरूप रहनेसे वहाँ जो कुछ होता रहता है वह भी यथावत् दिखायी दिया करता है। इस विज्ञानको और प्रकारसे भी ऐसे समझ सकते हैं कि जब अन्तःकरण प्रकृतिमय है तो अन्तःकरणक जड़ ही है, जड़में चेतन-सत्ता हो ही नहीं सकती; पुरुषरूपी चेतनका ही रूप ज्ञान है, उनके ज्ञान-रूप प्रकाशसे अन्तःकरण जब प्रकाशित होता है तब ही अन्तःकरणमें चेतना आजाती है; वृत्तियाँ अन्तःकरणकी तरंग हैं और ज्ञान अचंचल सदा एकरूप रहनेवाले पुरुषका प्रकाश है, इस कारण अन्तःकरणके चंचल रहनेपर भी पुरुष सदा अचंचल होनेके कारण अन्तःकरणकी सब वृत्ति-रूपी तरंगें यथावत् दिखायी देती रहती हैं इसकारण यह सिद्ध हुआ कि अपरिणामी एकरूप रहनेवाले पुरुष-

के प्रभावसेही अन्तःकरणकी नानावृत्तियाँ यथावत् ज्ञात हुआ करती हैं ॥ १८ ॥

चित्तही स्वाभास और विषयाभास हो सकता है, अतिरिक्त पुरुष माननेकी आवश्यकता क्या है, इस शंकाका समाधान किया जाता है—

चित्त स्व-प्रकाश नहीं है क्योंकि वह दृश्य है ॥ १९ ॥

पूर्वसूत्रसे यह तो सिद्धही हो चुका है कि सदा अपरिणामी पुरुष अन्तःकरणसे भिन्नही है; अब इस सूत्रद्वारा महर्षि-सूत्रकार विस्तारित रूपसे कह रहे हैं कि अन्तःकरणमें कोई अपने आप प्रकाश करनेकी शक्ति नहीं है यह पुरुष द्वाराही प्रकाशित होता है और इसकारणही वह पुरुषका दृश्य अर्थात् ज्ञेय है। अन्तःकरणके दो प्रधान अंग हैं, मन और बुद्धि। मेरा मन और मेरी बुद्धि इस समय ठीक है या नहीं है ऐसा विचार जब करनेमें आता है तो यह स्वतः ही सिद्ध हुआ कि वैसा विचार करनेवाला मन और बुद्धिसे अर्थात् अन्तःकरणसे स्वतन्त्र है। सुतरां यह निश्चित हुआ कि अन्तःकरण पुरुषका दृश्य है। जैसे इन्द्रियां और तन्मात्रा आदि अन्तःकरणसे जाने जाते हैं इसकारण वे स्वप्रकाश नहीं कहा सकते; वैसेही अन्तःकरण भी पुरुषद्वारा ज्ञात होता है, इस कारण वह भी स्व-प्रकाश नहीं है। जैसे प्रकाशरहित अग्नि अपने स्वरूपको प्रकाशित नहीं कर सकती, वैसेही अन्तःकरण भी अपने आप प्रकाशित नहीं होसकता। प्रकाश्य और प्रकाशकके संयोगसेही प्रकाश देखा जाता है, स्वरूपमात्रमें प्रकाशक नहीं देखा जाता; पुरुष और अन्तःकरणमें

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

वही प्रकाश्य और प्रकाश सम्बन्ध है। इसका विस्तारित विवरण अगले सूत्रमें किया जायगा ॥ १९ ॥

अपि च—

एक कालमें दोनोंका ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

एकही क्षणमें अन्तःकरणमें दो प्रकारका ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि एकही समयमें अन्तःकरण और पदार्थ इन दोनोंका बोध नहीं होसकता; या तो विषय-रूपी पदार्थकाही ज्ञान होगा या अपने मनकाही बोध एक समयमें होगा। यदि क्षणवादमतावलम्बिगण ऐसा कहें कि जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है, अर्थात् अन्तःकरण क्षणिक है, तो ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें यह कहा जासकता है कि यदि ऐसा होता तो एक चित्त दूसरे चित्तसे और वह किसी और चित्तसे संग्रहीत होता; परन्तु यदि एक चित्त किसी दूसरे चित्तका प्रकाशक माना जाय तो वह दूसरा चित्त एकही कालमें अपने और पराये चित्तको प्रकाशित करेगा, परन्तु इस सूत्रोक्त युक्तिसे यह असम्भव है; इसकारण ऐसा प्रश्न उठही नहीं सकता। पूर्व सूत्रोक्त विचारके दृढ़ करनेके अर्थ और भी विचार कर सकते हैं कि जब पूर्वोक्त व्यापारोंको उत्पन्न करके उनके फल-ज्ञानसे चित्त बहिर्मुख होकर विस्तारित होजाता है उस अवस्थामें जान सकते हैं कि बुद्धिका ज्ञानही सुख अथवा दुःख अनुभवका हेतु है। "मैं इस सुख अथवा अमुक दुःख का भोगनेवाला हूँ" इस ज्ञानका दायक बुद्धियोंका ज्ञान नहीं है; क्योंकि सुख ओर दु;ख परस्परमें अत्यन्त विरोधी हैं और वे एक कालमें अनुभव होही नहीं सकते, परन्तु चित्तकी

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

वृत्तियोंमें सुख और दुःखकी परीक्षा एक-कालमें हुआ करती है इसकारण चित्त अर्थात् अन्तःकरण एक कालमें दो विरुद्ध-धर्मवाली वृत्तियोंकी परीक्षा जब नहीं कर सकता था तब यह कैसे हुआ। इस कारण यह और भी प्रमाणित हुआ कि इस विचारका देनेवाला कोई और ही है, अर्थात् अन्तःकरण स्वयं-प्रकाश नहीं है उसको प्रकाश करनेवाला कोई और ही है जिससे इन अवस्था-भेदोंका अनुभव होता है; वह अन्तः-करणके प्रकाशक अन्तःकरणसे भिन्न सचेतन पुरुष हैं। इस सूत्रकथित विचारसे प्रथममें स्वपक्ष और विपक्ष-विचारोंका सिद्धांत करके पुनः अब और भी विचार कर सकते हैं कि अन्तः-करण द्वारा विषयका अनुभव होता है और पुरुषके द्वारा अन्तः-करणका अनुभव होता है; जब कहा गया कि "कमल पुष्प अति सुन्दर है" तब कमल पुष्पको अन्तः-करणने अनुभव किया और जब कहा कि "मेरा मन आज ठीक नहीं है" तब अन्तः-करणके अनुभवका भान पुरुषकोही हुआ; परन्तु जब देखा जाता है कि यह दोनों प्रकारका भानही स्वतन्त्र स्वतन्त्र है और इन दोनोंका अनुभव एक समयमें नहीं हो सकता तो इससे पुरुषका स्वतन्त्र होना ही निश्चय होता है ॥ २० ॥

इसमें यदि यह शंका हो कि यद्यपि उसी चित्तद्वारा स्वप्रकाशता नहीं होती तथापि अन्य चित्तद्वारा ग्राह्यता सिद्ध हो सकती है और ऐसा होनेपर पृथक् पुरुष माननेकी आवश्यकता नहीं है इसके समाधानार्थ कहा जाता है—

एक चित्तको चित्तान्तरका दृश्य करके माननेसे वृत्ति-ज्ञानमें अतिप्रसंग दोष और स्मरण-शक्तिमें सङ्कर दोष

हो जायगा ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त विचारको स्पष्ट करनेकेलिये महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदि अन्तःकरणको अनेक तथा एकको दूसरेका दृश्य करके माना जाय तो बुद्धिमें अतिप्रसंग दोष और स्मरण-शक्तिमें सङ्करदोष हो जायगा; इस कारण ऐसा हो ही नहीं सकता। जब ऐसा कहा जायगा कि एक चित्त दूसरे चित्तसे ग्रहण किया जाता है तो यह सिद्ध ही है कि इस प्रकार पूर्वापर सम्बन्ध बढ़ जायगा, अर्थात् एक चित्तको दूसरा चित्त ग्रहण करता है, दूसरेको तीसरा करता है और तीसरेको चौथा करता है इत्यादि। जब एक अन्तःकरण दूसरे अन्तःकरणसे ग्रहण किया जाता है ऐसे माना जाय, तो एक बुद्धि भी दूसरी बुद्धिसे गृहीत हुई; इस प्रकार बुद्धिमें अतिप्रसङ्ग-दोष हो जायगा; इस विचारसे अन्तःकरणकी संख्याका पता लगही नहीं सकता। जब अन्तःकरणका पता नहीं लग सकता तो ज्ञेय और ज्ञाताका कैसे पता लग सकता है; इस प्रकार माननेसे स्मृति-शक्तिमें भी विरोध पड़ेगा, और स्मृतिका ठीक ठीक उदय होना असम्भव हो जायगा; क्योंकि जिस विषयका संस्कार नूतनरूपेण एक अन्तःकरणमें रहेगा तब अति-प्रसंग-दोष होनेके कारण एकसे दूसरे स्थानपर उस संस्कारका स्मृति-रूपेण उदय होना सब समयमें असम्भव होगा। जितनी बुद्धि उतने ही अनुभव होनेसे स्मरणशक्ति आपही नष्ट हो जायगी। और दूसरे प्रकारसे भी विचार कर सकते हैं कि रूप और रस आदिकोंका ज्ञान उत्पन्न करनेवाली बुद्धि जब उदय होंगी तब बुद्धिके अनन्त होनेके कारण स्मृति भी अनन्त होगी; जब कि अनेक बुद्धि और

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

अनेक-स्मृति एक कालमें उत्पन्न होंगी, तब यह परिज्ञात होना असम्भव होगा कि यह स्मृति रस-सम्बन्धिनी है अथवा रूप-सम्बन्धिनी; तो इस अनुभवसे यहां तक विप्लव होनेकी सम्भावना है कि जो अभी एक सत्त्वगुणावलम्बी योगी हैं दूसरे क्षणमें वह घोर तमोगुणाश्रित नास्तिक हो जा सकेंगे अर्थात् बुद्धिका और स्मृतिका विस्तार बहुत होनेके कारण पूर्वापर कुछ भी शृंखला नहीं रह सकती। अतः एक चित्तको अन्य चित्तका दृश्य मानना विज्ञानविरुद्ध है ॥ २१ ॥

तब बुद्धिका संवेदन कैसे होगा—

चिद्रूप पुरुषका वृत्तिरूप सञ्चार न होनेपर भी प्रतिविम्ब द्वारेण वृत्तिसारूप्य प्राप्ति होनेसे स्वकीय बुद्धि-वृत्तिका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

पूर्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार यह सिद्ध कर चुके हैं कि बुद्धि स्वयंप्रकाश नही है और नाना बुद्धियोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती; इस कारण यदि जिज्ञासुगणको सन्देह हो कि ऐसा मानने-से विषयसंवेदन कैसे हो सकता है? तो इस प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर इस सूत्रमें दिया जा रहा है। पुरुष चैतन्यरूप है और उनकी चैतन्य-सत्तामें कभी भी भेद नहीं पड़ता; जैसे एक गुण जब दूसरे प्रधान-गुणके अंग होते हैं तब उन अंगोंमें सङ्कर-भाव अवश्य रहता है, परन्तु वैसे पुरुषके चैतन्य-भावमें भेद हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार प्रकृति चंचलता विकार और विस्तार-को प्राप्त हुआ करती है, उस प्रकार चैतन्यरूपी पुरुष नहीं हुआ करते, वे सदा एकरूप चैतन्ययुक्त रहते हैं, इस कारण उनकी

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

चित्‌शक्तिके सन्मुख जब वुद्धि आ जाती है अर्थात् अन्तःकरण स्थिर होनेसे जब वुद्धिमें पुरुषका प्रकाश यथावत् भासमान होने लगता है, तब ही उसको अपने रूपका ज्ञान हो जाता है और इसी प्रकारसे संवेदन होता है। इस विज्ञानको ऐसे भी समझ सकते हैं कि भोक्ता अर्थात् पुरुषकी शक्ति परिणाम-रहित है, परन्तु परिणामी और चंचल विषयमें पुरुषकी दृष्टि जानेसे वह चंचल प्रतीत होती है; इसी कारण उस वृत्तिके संयोग प्राप्त होनेसे वुद्धि-वृत्तिकी मलयुक्तताके कारण वुद्धि-वृत्तिसे ज्ञान-वृत्ति भिन्न प्रतीत होती है। वुद्धिसे परे पुरुष हैं अर्थात् वुद्धिसे ही पुरुषका साक्षात सम्वन्ध है इस प्रकार वेदादि नाना-शास्त्रोंमें सिद्ध किया गया है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने अलंकारकी रीतिपर कहा है कि ब्रह्म किसी स्थानविशेषमें बैठे नहीं हैं कि जीव इच्छा करते ही उनको देख लेवेगा; परन्तु केवल वुद्धिकी निर्मलतासे ही वे अनुभव किये जाते हैं। जब तक बुद्धि समल रहती है तब तक वुद्धिमें प्रकाशकी न्यूनताके कारण नाना विकार होते हैं; परन्तु अन्तःकरणके ठहरजानेसे जब पुरुषके समीप बुद्धि भी तदाकारको प्राप्त होजाती है तब वुद्धिको अपने रूपका ज्ञान होजाता है; अर्थात् स्थिरता और निर्मलताके कारण वुद्धि चैतन्य पुरुषके समीप होजाती है, तब उस वुद्धिमें परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है। पूर्वसूत्रसे यह प्रमाणित हो चुका है कि अन्तःकरण पुरुषसे भिन्न हैं, अब इस सूत्रमें अन्तःकरणकी ज्ञानशक्तिका वर्णन विस्तारित रूपेण किया गया है। पुरुष चैतन्ययुक्त और अपरिवर्तनशील हैं, वे केवल अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर अन्तःकरणको चैतन्ययुक्त अर्थात् प्रकाशित किया करते हैं, उसी शक्तिसे अन्तःकरण पुनः विषयोंके साथ युक्त होकर नाना वृत्तियोंको धारण किया करता

है। पुरुषके ही प्रतिबिम्बसे प्रकाशित होकर अन्तःकरण-स्थित बुद्धि चैतन्य-युक्त ज्ञान-क्रिया किया करती है। पुरुषके इस प्रतिबिम्बको साधारणरूपेण प्रतिबिम्ब न समझकर यदि चुम्बक पत्थरकी भाँति आकर्षण-शक्ति-विशिष्ट प्रतिबिम्ब समझा जाय तो विचारनेमें सहायता होगी, अर्थात् जैसे जैसे बुद्धि निर्मल होती जाती है वैसे वैसे ही पुरुष बुद्धिको अपने समीपवर्त्ती करते हुए उसमें अपना रूप विकाशित किया करते हैं॥ २२॥

इस विज्ञानको और भी समझानेके लिए चित्तकी सर्वार्थता प्रतिपादित की जाती है—

द्रष्टा और दृश्यके द्वारासम्बद्ध होकर चित्त सर्वावभासक होता है॥ २३॥

जैसे स्फटिक अथवा दर्पण जो निर्मल होते हैं वे ही प्रतिबिम्ब-को ग्रहण करनेमें समर्थ हुआ करते हैं, वैसेही रज और तमोगुण-से रहित शुद्ध-सत्त्वगुण-युक्त अन्तःकरण होनेके कारण बुद्धि निर्मल होकर प्रतिबिम्बको यथार्थ-रूपेण ग्रहण कर सकती है। इससे ऐसा समझना उचित है कि जब रज और तमोगुण शुद्ध-सत्त्वगुणमें लय होजाते हैं तब निर्वात प्रदीपकी भाँति अचल-बुद्धि सदा एक रूप रहकर भगवत् रूपदर्शनमें समर्थ रहती है और उसकी यह स्थिर-अवस्था मुक्तिपदमें पहुँचने तक बनी रहती है। परन्तु अन्तःकरणकी विपरीत-अवस्था वह है कि जब अन्तःकरण इन्द्रियोंके द्वारा विषयके साथ सम्बन्ध स्थापन करके विषयवत् होजाता है; जैसे स्फटिकमणि लाल रंगके सन्मुख रहनेसे लाल-रंगकीसी प्रतीत होती है, वैसेही अन्तःकरण विषयमें फँसनेसे विषयवत्

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

जड़रूप प्रतीत हुआ करता है। अन्तःकरणकी एक चेतन-अवस्था वह है कि जब अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवद्-दर्शन करता है, यही एकतत्त्वकी अवस्था है जिसका वर्णन पहले अच्छी तरहसे होचुका है। और अन्तःकरणकी दूसरी अचेतन अवस्था वह है कि जब अन्तःकरण विषयमें फँसकर जड़ होजाता है। अन्तःकरण एक बीचका स्थान है जिसकी एक ओर पुरुष और दूसरी ओर विषय हैं, दोनोंसे सम्बन्ध रखता हुआ अन्तःकरणही सृष्टि-कार्य्यमें ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्यमूलक सकल प्रकारके विषयमें प्रवृत्त रहता है; पितामह ब्रह्मा जैसे चतुर्मुख धारण करके सृष्टि किया करते हैं वैसेही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चारों अंगोंको धारण करके अन्तःकरण भी सृष्टि-कार्यमें लगा रहता है, परन्तु वही अन्तःकरण जब नीचेकी ओर विषयमें फँसता है तब अचेतन होजाता है और जब योगसाधन-रूप पुरुषार्थसे ऊपरकी ओर देखकर नीचेके मलसे उपराम होजाता है तबही वह एकतत्त्व-की सहायतासे चेतनयुक्त होकर परमात्माके दर्शनमें समर्थ होता है ॥ २३ ॥

यदि चित्तसेही सकल व्यवहार निष्पन्न हों तो स्वतन्त्र पुरुष स्वीकार करनेकी आवश्यकता क्या है इस शङ्काके समाधानार्थ कहा जाता है—

चित्त असंख्य.वासनाद्वारा चित्रित होने पर भी दूसरेके अर्थात् पुरुषके भोगापवर्ग निमित्त ही है क्योंकि वह दूसरेसे मिलकरही कार्य करता है ॥ २४ ॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२४॥

यदि पूर्व सूत्रसे यही सिद्ध हुआ कि अन्त:करणही सब कुछ किया करता है इससे पुरुषकी आवश्यकतामें यदि जिज्ञासुओंको सन्देह हो, इस कारण इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अन्तःकरण संख्यातीत वासनाओंसे युक्त होनेपरभी वह जो कुछ करता है सो सब सेवकके समान दूसरे अर्थात् प्रभुके अर्थही करता है। जब पूर्व विचारोंसे यह सिद्ध ही होचुका है कि प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुषके भोगार्थही करती है तब यह निश्चय ही है कि अन्तःकरण जो कुछ वासना करता है वह पुरुषके अर्थही करता है; यथार्थत: उस कार्यमें उसकी स्वार्थपरता कुछ भी नहीं है। पूर्व विचारसे यह अनुभवमें आ चुका है कि यदि नानारूपधारी अन्त:करण नाना भोगोंकी उत्पत्ति किया करता है, तब वह जो कुछ कर सकता हैं वह दूसरेसे मिलकर ही कर सकता हैं और जो कुछ करता है सो पुरुषके भोगसाधनके अर्थ ही करता है। अन्त:करण और कुछ नहीं है केवल पुरुषका भोग साधक ही है। जैसे शय्या आसन आदि पदार्थ गृहस्थके भोगके अर्थ ही हैं, वैसेही अन्त:करणका कार्य भी पुरुषके भोग-अर्थही है; अन्त:करण जड़ है वह जो कुछ कार्य करता है सो पुरुषके चैतन्यसे युक्त होकर ही करता है, इस कारण उसका जो कुछ कार्य है सो अपने प्रभु पुरुषके अर्थ ही है। महर्षि सूत्रकारने जो "चित्त" शब्दका प्रयोग किया है उससे अन्त:करणसे ही तात्पर्य है; जैसे महर्षि कपिलने प्रकृति-शब्दका प्रयोग सांख्यदर्शनमें बहुधा किया है वैसे ही चित्त-शब्दका प्रयोग महर्षि सूत्रकारने इस शास्त्रमें जहाँ तहाँ किया है। वह चित्त अर्थात् अन्त:करण और कुछ नहीं हैं केवल वासनाओंका आगार है, वह और कुछ नहीं है केवल पुरुषका भोग-उत्पादक स्थान है, वह

और कुछ नहीं है केवल पुरुषरूपी चेतनका प्रतिविम्बधारक यन्त्र है, वह अन्तःकरण पुरुषके अर्थही है। एकतत्त्वकी सहायतासे बुद्धि तक कैवल्येच्छु यागीको पहुँचानेके अनन्तर पूर्व कई सूत्रोंमें नाना शङ्काओंके समाधान किये गये हैं। स्वरूपज्ञानसे युक्त पुरुष बुद्धिसे परे स्थित हैं यह वेदका सिद्धान्त है। अतः बुद्धि-राज्यके परपारमें स्थित पुरुषका स्वरूप समझनेसे पहले यदि मुमुक्षु विचलित हो, उस समयमें जिन जिन विचारोंसे विचलित होना सम्भव है उनका समाधान पूर्व सूत्रोंमें किया गया है। पूर्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार नाना वैज्ञानिक विचारोंका निर्णय, अन्तःकरण और पुरुषका रूप और उभयकी स्वतन्त्रता आदिका विशेष वर्णन करके अब अगले सूत्रोंमें कैवल्यपदरूपी योगके लक्ष्यका विस्तारित वर्णन करेंगे। शुद्ध मुक्त चेतनयुक्त पुरुष यदि अन्तःकरणसे अलग हैं, तब अन्तःकरणसे सम्बन्ध स्थापन करके अपने आपको अन्तकरण मानते हुए उस अन्तः-करणको प्रतिबिम्बित किया करते हैं, यही पुरुषके फँसनेका भी कारण है और यदि अन्तःकरण पुरुषसे स्वतंत्र है तब वह जो कुछ करता है सो पुरुषके भोगके अर्थ ही करता है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुरुषको फँसानेवाला अन्तःकरण ही है और अन्तःकरण ही विषयके साथ पुरुषका संयोग किया करता है। इन सिद्धान्तोंसे महर्षि सूत्रकारने ऐसा विचार किया है कि जबतक पुरुषका और अन्तःकरणका यथार्थरूप, दोनोंका सम्बन्ध और दोनोंकी स्वतंत्रताका ठीक ठीक जिज्ञासुगणके सन्मुख वर्णन न किया जायगा, तब तक पुरुषकी मुक्त-अवस्था अर्थात् कैवल्यपदका मर्म यथावत् समझमें नहीं आवेगा; इस कारण महर्षिजी पहले उनका विस्तारित वर्णन करके अब अगले सूत्रोंमें कैवल्यपदका विस्तारित वर्णन करेंगे। यदि इनका विवरण

पहले भी कुछ कुछ आचुका था तत्र कैवल्यपदके विरुद्धमें पुरुषसे उन अवस्थाओंका साक्षात्-सम्बन्ध रहनेसे; उन विघ्नोंका प्रथम वर्णन करके अब योग-साधनके लक्ष्य, मुक्तिरूपी कैवल्य-पदका वर्णन होगा; पहले प्रतिकूल अवस्था दिखाकर पीछेसे अनुकूल स्वाभाविक अवस्था दिखानेसे वह शीघ्र समझमें आजायगा इस कारण ही पहले उनका विस्तारित रूप दिखाकर अब मुक्तिपदरूपी कैवल्यका रूप दिखाया जायगा ॥ २४ ॥

चित्तपुरुषविवेकशील योगीको क्या होता है सो बताया जाता है--

विशेषदर्शीको शरीर-भावोंकी भावनाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥

नाना विषयोंमें बद्ध साधारणदर्शी अर्थात् जीव, विशेषदर्शी अर्थात् एकतत्त्वकी सहायतासे परासिद्धिप्राप्त योगी साधारण जीवगण जैसा संसारको अनुभव करते हैं वैसा योगि-गण इस असार संसारको नहीं समझते; आत्मदर्शी योगिगण पूर्वकथित रीतिके अनुसार संसारको कुछ और ही देखते हैं; इस कारण वे विशेषदर्शी कहाते हैं। योग-साधनद्वारा अन्तःकरणवृत्ति निर्मल हो जानेसे जब योगीमें पूर्णज्ञानका उदय होता है तब वे इस ज्ञान पर भलीभांति आरूढ़ हो जाते हैं कि "चित्त और पुरुष दोनों स्वतंत्र हैं" इस प्रकारके ज्ञानका उदय होनेसे उनके अन्तःकरण-की मिथ्याशरीरादि विषयिणी भावना निवृत्त हो जाती है और तब वे अन्तःकरणको यन्त्ररूप और कर्त्ता समझने लगते हैं; इस कारण शनैः शनैः योगिराजकी शरीर-भावका निवृत्त हो जाती है। श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने कहा है कि जैसे वर्षाऋतुमें

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

नवनीरद-पतित वारिबिन्दुसे जब नवदूर्वादल अङ्कुरित होने लगते हैं, उस समय उन दूर्वादलोंकी पुनरुत्पत्तिसे उनकी सत्ता अर्थात् उनके मूल नष्ट न होनेका अनुभव होने लगता है; वैसे ही मोक्षमार्गको समझनेवाले, प्रकृति-पुरुषका भेद जाननेवाले, योगिगणके अन्तर और बहिर्भावसे वे पहचाने जाते हैं। प्रकृति पुरुषको स्वतंत्र अनुभव कर लेनेसे उनका देहाध्यास अर्थात् शरीर आदि बहिर्जगत्से सम्बन्ध रहित हो जाता है, संसार को वे तुच्छ और मिथ्या समझते हैं और परमात्माको ही केवल सत्य और नित्य करके जानते हैं; इस कारण परमात्माविषयक-ज्ञानचर्चा और भगवत्-कथा आदि उपासना और भक्तिकार्यमें 'नित्य रुचि और निष्काम जगत् सेवामें स्वाभाविक प्रवृत्ति उनमें देखनेमें आती है। जब महात्मागणमें ऐसा पाया जाय कि उनकी अन्तःकरणकी वृत्ति आत्मा ज्ञान-विचार, तत्त्व-उपदेश, भगवत्-गुणगान और भगवत्-महिमा-प्रचारमें ही सदा लगती है, जब योगिगणमें ऐसा पाया जाय कि मोक्षमार्ग-वर्णन और भगवत्गुण-श्रवण अथवा गान करते-करते उनका शरीर रोमांचित होने लगता है, परमानन्दरूपी भगवद्भावके स्मरणमात्रहीसे जब आनन्द-अश्रु उनके नेत्रोंमें बहने लगते हैं; तब ही समझना उचित है कि उन महात्मागणमें परमानन्दमय परमात्माकी ज्योति प्रकाशित हुई है; तब ही समझना उचित है कि वे महात्मागण मायाके अधिकारसे बचकर परमेश्वर परब्रह्मके सत् चित्त आनन्दमय अधिकारमें पहुँच गये हैं। इस ही अवस्थामें पहुँच कर योगी कैवल्यरूपी मुक्तिपदका अधिकारी हो जाता है, इस ही अवस्थामें पूर्णज्ञानके उदयसे योगी जानने लगता है कि "मैं कौन था, कौन हो गया था, अब कौन हूँ और मुझे कहां पहुँचना है" यही अवस्था योगी की विशेष दर्शन अवस्था कहाती है इसी अवस्थामें अविद्यारूपी

भ्रमज्ञानका नाश होकर योगी दिव्य-ज्ञानको प्राप्त करके, चित्त-धर्मसे उपराम होते हुए कैवल्य-भूमिमें पहुँच जाते हैं, अर्थात जब योगी जान लेते हैं कि यह पुरुष है और यह अन्तःकरण, तब स्वतः ही उनका अनुराग परमपदकी ओर बढ़ जाता है, और तब उनकी दृष्टि संसारकी ओरसे एकबार ही फिर कर कैवल्यरूपी मुक्तिपदकी ओर लग जाती है, परावैराग्यसे अन्तःकरणकी वृत्तियां जब उठती ही नहीं तब अन्तःकरण आपही शान्त हो जाता है, तब ही पुरुष अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

उस समय चित्तकी क्या दशा होती है ? :—

तब उनका चित्त विवेकमार्गप्रवाही होकर कैवल्यकी ओर युक्त होने लगता है ॥ २६ ॥

तब अर्थान् जब योगी विशेष-दर्शी होता है, उस समय ज्ञान-पूर्ण चित्त हो जानेसे वह विवेकनिम्न अर्थात् विवेकपथवाही होकर कैवल्य प्राग्भार अर्थात् कैवल्यकी ओर हो झुका रहता है। जो चित्त अर्थात् अन्तःकरण उस पूर्वकथित अवस्थासे पहले नाना विषयोंके भारसे भाराक्रान्त होकर दब रहा था, वह अब विषयके नाश होजानेसे हलका होकर ज्ञानरूप आकर्षणके तेजसे खिचकर कैवल्यपद-रूपी परमात्माकी ओर झुक जाता है। इस विज्ञानको ऐसेभी समझना उचित है कि अन्तःकरणके एक ओर विषय और दूसरी ओर परमात्मा हैं; जबतक अन्तःकरण विषयकी ओर झुका रहता है तब तक उसकी दृष्टि पुरुषसे फिरकर विषय रूपी संसारकी ओरही फँसी रहती है; परन्तु जब अन्तःकरणमें विषय-वासना पूर्णरूपसे मिट जाती है, तब उस विशेषदर्शी योगीका चित्त विषयसे मुख फेरकर कैवल्यपदरूपी परमात्माके

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

स्वरूपकी ओरही अनिमेष होकर निहारने लगता है। तभी चित्त कैवल्य-भोगी कहाता है। श्रीगीतोपनिषद्में कहा है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

कैवल्यलक्ष्यसे युक्त कैवल्यभूमिकी ओर अग्रसर होने वाले योगीके लिए कर्मही कारण है और योगारूढ़ अर्थात् परा-सिद्धिप्राप्त योगिराजके लिए समाधिही कारण है। समाधिकी इस उन्नत दशामें तीन अवस्थाएँ होती हैं, यथा-महर्षि अंगिराने कहा है—

तदेवेदम्। इदन्तत्। तदेवाहम्।

पहली दशामें जगत्ही ब्रह्म है ऐसा भान होता है, दूसरी दशामें ब्रह्मही जगत् है ऐसा भान होता है और तीसरी दशामें मैंही सच्चिदेकं ब्रह्म अर्थात् पुरुष हूँ ऐसा भान होता है॥ २६॥

इस अवस्थामें अन्य दशा भी होती है—

योगीके पूर्व संस्कारोंसे इस समाधि-दशामें कभी कभी उसको मिथ्या ज्ञान भी हो जाता है॥ २७॥

इस समाधि अर्थात् केवल्यपदकी प्रथम अवस्थामें यद्यपि योगी ज्ञानपूर्ण होजाता है तथापि उसको इस समाधि दशामें अन्तःकरणमें संस्कारके कारण भगवत्-भावना अर्थात् कैवल्य-अनुभवके अतिरिक्त और दूसरे प्रकारके सृष्टिसम्बन्धिमिथ्याज्ञान भी कभी कभी प्रकट हुआ करते हैं। यदि वे सब योगसमाधि-विघ्न हैं तब च योगीको वे कुछ विशेष हानि नहीं पहुँचा सकते, दग्ध-बीजकी नाईं वे सब संस्कार निस्तेज होजानेके कारण कार्यकारी नहीं हो सकते। समाधिमें स्थित पुरुषको नाना पूर्व-

---

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥

संस्कारोंसे जो क्षणिक मिथ्या ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, उस अवस्थामें योगी अपने वहिर्लक्षणोंसे वद्ध जीवके सदृश प्रतीत होता है; परन्तु जैसे पक्षीपालनेवालेके हाथमें डोरीसे वंधा हुआ पक्षी आकाशमें उड़ता हुआ भी पीछे उसी हाथपर आकर विश्राम लेता है उसी प्रकार समाधिकी सिद्धिको प्राप्त किये हुये योगीके अन्तःकरणमें पूर्वसंस्कारोंसे विषयप्रवृत्ति होनेपर भी दूसरे क्षणमें ही उसकी विषयमुखी गति नष्ट होजाया करती है। इस अवस्थाके विषयमें यदि ऐसा प्रश्न हो कि उनके हानका उपाय करनेकी आवश्यकता है या नहीं ? तो इस प्रकारके प्रश्नका उत्तर अगले सूत्रमें कहते हैं ॥ २७ ॥

इस अवस्थाका नाश कैसे होगा ? :—

इनका नाशभी क्लेशोंके समान कहा है ॥ २८ ॥

जैसे प्रथमापदमें अविद्या आदि क्लेशोंके नाशका विस्तारितरूपेण वर्णन कर चुके हैं, वैसे ही इस प्रकारकी विषयाकार वृत्तिकी अवस्थाके नाशको भी समझना उचित है। जिस प्रकार बीजके नाशसे क्लेश पुनः उत्पन्न नहीं होते, वैसेही ज्ञानरूपी अग्निसे संस्कारोंका बीज दग्ध होजानेसे वे संस्कार समाधिस्थ योगीके अन्तःकरणमें पुनः नवीन संस्कार नहीं उत्पन्न कर सकते। निर्विकल्प समाधिभूमिमें आरूढ़ आत्मज्ञानप्राप्त योगिराजके अन्तःकरणमें विद्याका पूर्ण विकास वना रहनेके कारण उसके पूर्व प्रवलसंस्कारोंके वलसे यदि उसमें समय समयपर विषयाकार वृत्ति किसी क्षणमें उत्पन्न भी हो तो उसके अन्तःकरणमें विद्याकी नित्य स्थिति रहनेसे दूसरे क्षणमेंही उस विषयाकार वृत्तिका

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

अपने आपही हान होजाता है इसकारण उससे कोई भयकी सम्भावना नहीं ॥ २८ ॥

तदनन्तर समाधिका उदय होता है—

प्रसंख्यान अर्थात् बिवेकज्ञानमें भी अकुसीद अर्थात् इच्छारहित योगीके चित्तमें सर्वथा विवेकख्यातिका प्रकाश रहनेसे उसको जिसमेंसे अपवर्गसाधक अशुक्ल अकृष्णरूपधर्मकी वर्षा हो इस प्रकारकी धर्ममेघसमाधिकी प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥

इस प्रकार पूर्वकथित रीतिपर जब योगी विवेककी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है और परावैराग्यके कारण उस पूर्णज्ञानकी अवस्थामें भी अकुसीद अर्थात् इच्छारहित बना रहता है, तभी पूर्वकथित संस्कार-मिश्रित-अवस्था भी पूर्णरूपेण जाती रहती है। और तभी योगी निश्चल, अद्वितीय-भावको प्राप्तकरके ज्ञानरूप हो जाता है। इसी अवस्थाका नाम महर्षि सूत्रकारने धर्ममेघ समाधि रखा है; जिस प्रकार मेघसे जलवर्षण होता है उसी प्रकार उस समाधिसे भी क्लेशकर्मादि क्षयकारी, अविद्यानाशक और अपवर्ग-साधक धर्मकी वर्षा होती है। इसलिए इस समाधिको धर्ममेघ समाधि कहा गया है। इसी उन्नत अधिकारके अधिकारियोंके लक्षणके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है, यथा—

"तदन्तिके तदा सर्वे धर्ममार्गा भजन्त्यहो।
वात्सल्यं हि यथा पुत्राः पौत्राश्च सन्निधौ पितुः॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

ममैव ज्ञानिनो भक्ता धर्मं साधारणं किल ।
अधिकर्त्तुं क्षमन्ते वै पूर्णतो नात्र संशयः ॥

मद्भक्ता ज्ञानिनो विज्ञाः ! धर्मज्ञानाब्धिपारगाः ।
सार्द्धं केनापि धर्मेण विरोधं नैव कुर्वते ॥

साधारणे बिशेषे च धर्मेऽसाधारणे तथा ।
सम्प्रदायेषु सर्वेषु भक्ता ज्ञानिन एव मे ॥

ममैवेच्छास्वरूपिण्या धर्मशक्तेः स्वधाभुजः !
सर्वव्यापकमद्वैतं रूपं नन्वीक्षितुं क्षमाः ।
संसारेऽत्राभिधीयन्ते श्रीजगद्गुरवो ध्रुवम् ॥

तब उसके निकट सब धर्ममार्ग वैसे ही वात्सल्यको प्राप्त होते हैं जैसे पिताके सम्मुख उसके पुत्र पौत्र वात्सल्यको प्राप्त हुआ करते हैं । मेरे ज्ञानी भक्त ही साधारणधर्मके पूर्णाधिकारी निश्चय ही हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं । हे विज्ञो ! मेरे धर्मज्ञानरूप समुद्रके पारगामी ज्ञानी भक्त किसी भी धर्मके साथ विरोध नही करते हैं । हे पितरो ! मेरे ज्ञानी भक्त ही विशेषधर्म साधारण-धर्म और असाधारण धर्म तथा सब धर्मसम्प्रदायोंमें मेरी ही, इच्छारूपिणी धर्मशक्तिके एक सर्वव्यापक अद्वैतरूपका दर्शन करनेमें समर्थ होकर इस संसारमें निश्चय ही जगद्गुरु नामसे अभिहित होते हैं । यही समाधि पूर्णज्ञान और सार्वभौमरूपी पूर्णधर्मका हेतु है; यह भूमि ही कैवल्यपदका द्वार रूप है; यह अवस्था ही परावैराग्यका फल है; इस अवस्थामें और कोई योगविघ्न शेष नहीं रहता है; इस भूमिके अनन्तर ही कैवल्य-भूमि है ॥ २९ ॥

तदनन्तर क्या होता है ? :—

तब क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार पूर्वकथित धर्ममेघ-समाधिसे जो कुछ फलकी प्राप्ति होती है उसका विस्तारित वर्णन कर रहे हैं; अर्थात् इस धर्ममेघ-समाधिके लाभ करनेसे पूर्व-कथित जीवके सब क्लेश और कर्म स्वतः ही नष्ट होजाता है। और तब कर्म और क्लेशके नाशसे योगी जीवन्-मुक्त होजाता है। क्लेश और कर्मका विस्तारित वर्णन, और महात्मागणकी जीवन-मुक्ति अवस्थाका विस्तारित विवरण पूर्वही भलीभाँति आचुका है; इस कारण यहाँ उनकी पुनरुक्ति नहीं की गयी। इस जीवन-मुक्त अवस्थाको प्राप्त करके योगिगण पूर्ण-रूपेण मायाबन्धन मुक्त होजाते हैं, उस समयमें वे सब कुछ करते हैं परन्तु कुछ भी नहीं करते ॥ ३० ॥

तदन्तर क्या होता है ?:—

जब आवरण-रूपी सकल मल दूर हो जाता है तब अनन्तता प्राप्त उसके अन्तःकरणमें जानने योग्य विषय कम रहजाता है, अर्थात् नहीं रहता है ॥३१॥

जब समाधिस्थ योगीके सब आवरण अर्थात् मल दूर होजाते हैं तब उसका अन्तःकरण अनन्तज्ञानसे पूर्ण होजाता है। जब रज और तमोगुण शुद्ध-सत्त्वगुणमें पूर्णरूपेण लय हो जाते हैं तब उसके अन्तःकरणमें ज्ञान-विघ्नकारक और कुछ भी नहीं रहता, यही ज्ञानकी अनन्त और पूर्णावस्था है। इस अवस्थामें योगीको जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् जाननेकी इच्छा ज्ञानकी

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

पूर्णताके कारण लय हो जाती है; परन्तु वह योगीकी सर्वज्ञ-अवस्था है, अर्थात् योगी तब जिस ओर दृष्टि फेरे उसी ओर सब कुछ देख सकता है। इन अवस्थाओंका विशेष वर्णन पूर्वमें भलीप्रकारसे आ चुका है, इसकारण यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं की गयी; केवल कैवल्यपादके वर्णन करनेमें जितने विवरणकी आवश्यकता है उतनाही इङ्गितमात्रसे दिखाया गया है ॥३१॥

तदनन्तर क्या होता है ? :—

तब कृतार्थ गुणोंके परिणाम-क्रम भी समाप्त हो जाते हैं ॥३२॥

ऐसी पूर्वोक्त पूर्णज्ञानकी अवस्था जब उदय होती है तब प्रकृतिके सत्त्व, रज और तमोगुणका जो क्रम है वह भी समाप्त हो-जाता है; अर्थात् बन्धन-अवस्थामें जिस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण अपने भोगादि प्रयोजनको उत्पन्न करके परिणामसे अनुलोम विलोम भावद्वारा सृष्टि स्थिति और लयक्रिया किया करते थे, उसप्रकार अब इस मोक्ष-अवस्थामें नहीं रहेगा; एकतत्त्वके पूर्ण उदय द्वारा योगिराजका बुद्धितत्त्व मलरहित होकर जब उसमें विशुद्धज्ञानका पूर्ण विकाश होजाता है तब वह योगिराज शिव-सायुज्यको प्राप्त करके प्रकृतिका द्रष्टा बन जाता है। उस समय प्रकृतिके तीनों गुण उसको फँसानेमें असमर्थ होजाते हैं। प्रत्येक गुणकी उत्पत्ति और विलय और उसका क्रम जब योगिराजकी दृष्टिसे अतीत नहीं होसकते तो वे गुण उक्त महापुरुषको फँसा भी नहीं सकते ; अर्थात् इन तीनों गुणोंकी शक्तिकी हीनता और क्रमका लय होकर तब पुरुष त्रिगुण मुक्त होजाता है। यही पुरुषकी अवस्था प्रकृति-विमुक्त अवस्था कहाती है ॥३२॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

यह क्रम क्या वस्तु है ? :—

क्रम उसे कहते हैं जो कालके सूक्ष्मभागद्वारा निरूपण-करने योग्य हो और परिणामके अवसानसे जो जाना जाय ॥३३॥

पूर्व सूत्रार्थको सरल करनेके अर्थ अब महर्षि सूत्रकार क्रमका लक्षण वर्णन कर रहे हैं। अत्यन्त सूक्ष्म-कालको क्षण कहते हैं, उस क्षणकेद्वारा जिसका अनुमान होता है; अर्थात् एकके पश्चात् दूसरा क्षण जो ग्रहण किया जाता है उसे क्षणका क्रम कहते हैं। अब इसमें कई शंकाओंका उदय होसकता है, इसकारण उनकी निवृत्ति की जाती है। वर्त्तमान क्षणके पश्चात् जो कालमें परिणाम होता है उस पूर्वापर गतिको क्रम कहते हैं; इससे यदि ऐसी शंका हो कि जैसे वस्त्रका पुरानापन वस्त्रके नाशरूपी परिणाममें नहीं जाना जाता वैसेही क्रमका लक्षण भी युक्ति-विरुद्ध होसकता है। ऐसी शंकाके उत्तरमें कहा जा सकता है कि अनित्य पदार्थके क्रममें जैसी विशुद्धता पड़ती है, वैसी नित्य पदार्थके क्रममें नहीं पड़ती; क्योंकि नित्य पदार्थोंमें नित्यताके कारण क्रम ठीक रीतिसे जाना जा सकता है। उदाहरणकी रीतिपर कहा जाता है कि वस्त्रादि नाशवान् पदार्थके नाश होने पर वह मिट्टीके स्वरूपको धारण करता है किन्तु त्रिगुण परिणाम ऐसा नहीं होता है ; क्योंकि त्रिगुण परिणाममें एक गुण प्रधान होता है और दूसरे गुण दबे रहते हैं और यथाक्रम उठते दबते रहते हैं। अब इसमें भी शंका हो सकती है कि नित्य पदार्थोंमें जो क्रम है वह नित्य कैसे हो सकता है ? इस शंकाका समाधान ऐसे कर सकते हैं कि नित्यता दो प्रकारकी है, एक कूटस्थ-नित्यता

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

और दूसरी परिणाम-नित्यता; कूटस्थ-नित्यता पुरुषकी है और परिणाम नित्यता गुणोंकी है; पुरुषकी नित्यतामें तो विचार ही नहीं है; परन्तु गुणोंकी नित्यतामें इतना विचार है कि जब परिणामसे तत्त्व नष्ट नहीं होते तो उनको नित्य ही समझेंगे, जो कार्य वा कारणरूप तत्त्वका नाश न हो वह नित्य ही है। पुनः यह शंका हो सकती है कि जो परिणामी-वस्तु है वह कैसे नित्य हो सकती है? इस शंकाके उत्तरमें ऐसा कह सकते हैं कि नित्यता गुणोंमें रहती है और बुद्धि आदिकोंमें अन्तदशासे समझने योग्य क्रम रहता है। प्रकृति नित्या है, केवल साम्यावस्थामें तीनों गुण प्रकृतिमें लय होकर रहते हैं और प्रकृतिकी वैषाम्यावस्थामें तीनों गुण अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं। पुनः यह भी समझने योग्य है कि अग्निकी दाहिका शक्तिके समान प्रकृतिके साथ गुणोंका रहना अवश्यम्भावी है। केवल तीनों गुणोंमेंसे एक गुणकी प्रबलता होकर सामने आनेपर बुद्धि उसीको ग्रहण करती है परन्तु नित्य गुणोंमें जो क्रम् रहता है उसका अंत हो जाता है। गुणोंकी नित्यताके कारण वह परिणाम भी नित्य कहा जा सकता है। कूटस्थ अर्थात् विकार-रहित नित्य-पदार्थोंमें जो क्रम रहता है उनके क्रमकी नित्यतामें तो सन्देह ही नहीं। अब यह शंका हो सकती है कि संसारकी स्थिति और लयसे जो गुणोंमें क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है या नहीं? यह प्रश्न एकदेशीय है इस कारण उत्तर भी एक देशीय होगा; गुण-क्रमसे सृष्टि, स्थिति, लय क्रमानुसार हुआ ही करते हैं; सृष्टिके पश्चात् स्थिति, स्थितिके पश्चात् लय और लयके पश्चात् पुनः सृष्टि होती आयी है और रहेगी; परन्तु सिद्धान्त इतना ही है कि जिनकी विषय-सम्बन्धिनी-तृष्णा नष्ट हो गयी है वे ज्ञानवान् योगी पुनः उत्पन्न नहीं होंगे, उनके विभागकी त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमसहित लय हो जायगी। इन विचारोंसे

यदि बहुत-सी शंकाएँ दूर होगयी तब एक बड़ी शंका यह उठ सकती है कि यदि कूटस्थकी नित्यता और परिणामकी नित्यता दोनों मानी जायँ तो इस संसारको अनन्त कहना उचित है अथवा सान्त; अर्थात् यह त्रिगुणमयी प्रकृतिका खेल, यह सृष्टि-क्रिया नाशवान् है अथवा नित्य है। यदि यह शंका बहुत ही बड़ी और गहनतर शंका है, और ऐसी शंका जिज्ञासुगणमें प्रायः ही उठा करती है और इस शंकासे ही नाना मतोंमें विरोध होने लगता है, इस शंकासे ही प्रायः मनुष्यों-की बुद्धिमें फेर पड़ने लगता है; तत्रच त्रिकालदर्शी महर्षिगणने कुछ भी नहीं छोड़ा है, जीवके हितार्थ वे सब कुछ कह गये हैं, केवल जो कुछ भूल, जो कुछ समझनेमें फेर और जो कुछ वृथा शंकाएँ उठती हैं, वे जीवके अज्ञानसे ही उठती हैं; वे अविश्वासी अधिकारिगणके ध्यानपूर्वक शास्त्र न विचारनेसे ही उठती हैं। यदि इस प्रश्नका विवरण कुछ पूर्व भी आ चुका है तत्रच शंका-समाधानके अर्थ यह कहा जा सकता है कि कैवल्यपदभोगी मुक्तयोगीके अंशमें संसारकी समाप्ति हो जाती है, परन्तु साधारण जीवोंके अंशमें उसकी नित्यता ही रहती है, जब जीव पुरुषार्थ करके अविद्या बन्धनसे मुक्त हो जाता है तब उसके अंशकी प्रकृति सान्त होकर महाप्रकृतिमें लय हो जाती है, यही प्रकृतिका अन्त होना है, यही संसारका नाश होना कहाता है, परन्तु एक योगीके अंशकी प्रकृति यदि लयको प्राप्त हो जातो है, तत्रच अनन्त-रूपी अनन्त-ब्रह्माण्डके अनन्त जीवोंकी प्रकृति जैसी की तैसी ही अनन्त रहती हैं; यही प्रकृतिकी अनन्तता है, यही महामायारूपिणी महाशक्तिकी नित्यता है। इसी कारण महर्षि अङ्गिराने कहा है—

"अनाद्यनन्ताध्यात्मिकी सृष्टिः"

"प्रकृतेश्च तथात्वम्"
"आधिदैविकाधिभौतिकसृष्टिः सादिसान्ता।"
"ततो ब्रह्माण्डपिण्डे नश्वरे।"

ब्रह्मकी प्रकृति अनादि अनन्त होनेके कारण प्रवाहरूपी सृष्टिक्रियामय अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक व्यष्टिसृष्टि सादिसान्त है। इस कारण प्रत्येक पिण्ड और प्रत्येक ब्रह्माण्डका आदि अन्त है। इस कारण यह भी कहना यथार्थ है कि संसार अनन्त है और यह कहना यथार्थ है कि सान्त है; इस गंभीर विचारसे सृष्टिकी नित्यता और अनित्यता दोनों ही स्पष्टरूपेण सिद्ध हुई। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि इस विचारसे संसारको सान्त और अनन्त दोनोंही नहीं कह सकते और ऐसेही विचारसे सृष्टिको आदि अथवा अनादि समझनेमें कठिनता भी पड़ती है; अर्थात् क्षणके क्रमपर विचार करनेसे पूर्वापर क्षण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आदिमें एक आदिक्षणका भी प्रयोजन होगा। इसका विचार पूर्वमें यद्यपि भलीभाँति आ चुका है तथापि मूल-संदेहके निवारणार्थ यहाँ भी कहा जाता है कि विचारसे सृष्टि अनादि ही है क्योंकि सृष्टिका कारण प्रकृति अनादि है; परन्तु गंभीर विज्ञानके बोधार्थ ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति और उसके साथ ही सृष्टिका आदित्व सिद्ध करना ही पड़ता है; जहां हमको जाना है वहांसे लेकर अपने निकट पर्यंत पथ यदि यथावत् अनुभव नहीं करेंगे तो कदापि गंतव्य स्थलको नहीं पहुँच सकेंगे। इसी प्रकार वेदोक्त विचारोंपर जितनी बुद्धि लगायी जाती है उतना ही सिद्धान्त होसकता है कि कहीं भी मत विरोध नहीं है, शास्त्रोंके कथनने कहीं भी लक्ष्यको नहीं छोड़ा है। सत्त्व, रज, तम, तीन गुण वैषम्यावस्था प्रकृतिमें दिखायी देते हैं। साम्यावस्था प्रकृतिमें तीन गुण अलग-अलग दिखाई नहीं देते हैं। इस कारण यह

विज्ञानसिद्ध है कि साम्यावस्था प्रकृतिकी दशामें गुणपरिणाम-क्रमका अस्तित्व नहीं रहता है। मुक्तात्माकी प्रकृति जब साम्यावस्थाको प्राप्त करती है तो उसमें गुणपरिणामक्रमकी सम्भावना ही नहीं रहती है। उस साम्यावस्था प्रकृतिको प्राप्त करके प्रकृतिस्थ योगिराज स्वरूपोपलब्धि द्वारा जीवकी परमाराध्य जिस दशाको प्राप्त करता है सो आगेके सूत्रमें कहा जाता है॥ ३३॥

अब चरमफल कैवल्यका स्वरूप कहा जाता है—

पुरुषार्थरहित गुणोंका प्रतिलोम परिणाम द्वारा जो लय है उसको कैवल्य कहते हैं अथवा पुरुष-की जो स्वरूपमें अवस्थिति है उसको भी कैवल्य कहते हैं॥ ३४॥

मोक्ष और कैवल्यका एक ही भावार्थ है। जिन गुणोंके फल-भोग जीवको हुआ करते हैं उन सृष्टिकारक गुणोंको प्रतिलोमद्वारा लय करके उन गुणोंसे उपराम होनेको मोक्ष कहते हैं; अर्थात् प्रकृतिके त्रिगुणरूपी फन्देसे मोक्ष होना ही मोक्ष कहाता है। इस सूत्रोक्त स्वरूप-प्रतिष्ठाका अर्थ यह है कि, बुद्धिरूपी अन्तःकरणके सम्बन्धसे रहित होकर जो केवल पुरुषका भाव है वही पुरुषकी स्वतन्त्रता और वही पुरुषका निजरूपमें अवस्थान कैवल्य कहाता है। पूर्व-सूत्रकथित अवस्थाओंमें प्रवेश करता हुआ योगी शेषमें असम्प्रज्ञातसमाधि अर्थात् निर्विकल्प समाधिकी पूर्णावस्थामें पहुँच जाता है; यही अवस्था मोक्ष-अवस्था कहाती हैं और यही कैवल्यपद है। एकतत्त्वकी सहायतासे योगिराज क्रमशः अपनो

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिच्छक्तिरिति ॥३४॥

ओर अन्तः करणको अग्रसर करता हुआ अन्तमें अपनी वैषम्यावस्था प्रकृतिको जैसे ही साम्यावस्थामें परिणत कर लेता है वैसे ही तत्क्षणात् स्वरूपकी प्रतिष्ठाद्वारा उसको कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है। समाधिभूमिमें किस प्रकार एकतत्त्वकी वृद्धि की जाती है इसका वर्णन भलीभांति करके तत्पश्चात् ज्ञानकी प्रतिष्ठाके लिये जो जो विचार प्रयोजनीय है उनके सिद्धान्तोंको निर्णय करके अब इस सूत्रद्वारा कैवल्यपदका यथार्थ स्वरूप कहा गया है। पुरुषार्थशून्य गुणोंका जो विलोम है वही कैवल्य है। इस विज्ञानके समझनेके लिये सबसे पहले यह विचारने योग्य है कि पुरुषार्थ युक्त गुणोंकी स्थिति कैसी होती है। जीव जबतक समष्टि ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे व्यष्टिरूपमें अपना स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापन करके अद्वितीय पूर्णचेतनमय ब्रह्मसत्तासे अपनेको अलग समझ कर अलग एक जीवकेन्द्र स्थापन कर लेता है और जब तक वह केन्द्र स्थायी रहता है तभी तक पुरुषार्थकी स्थिति बनी रहती है। निर्लिप्त द्रष्टारूपी परम पुरुषमें पुरुषार्थकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती है। सुतरां जबतक अज्ञानजनित जैवभावकी स्थिति है तभीतक पुरुषार्थको स्वतन्त्रता रहती है। जब तक अन्तःकरणवृत्तियोंके चाञ्चल्यद्वारा बुद्धि तरङ्गायित रहती है तभी तक द्रष्टारूपी पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित नहीं हो सकते हैं। समाधिदशामें पुरुषार्थकी चरमदशाको प्राप्त करके योगिराज एकतत्त्वके पूर्ण उदयद्वारा पुरुषार्थकी सीमासे अतीत होजाते हैं। तब उस समय उस योगिराजके अंशकी प्रकृति जो पुरुषार्थद्वारा वैषम्यावस्थाको प्राप्त हुई रहती थी वह साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है और उसमेंके त्रिगुण अपने

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे कैवल्यपादः।

इति योगदर्शनं समाप्तम्।

स्वभावसिद्ध विलोम दशाको प्राप्त होकर स्वभावमें लय हो जाते हैं, तब उसके अंशकी प्रकृति मूलप्रकृतिमें मिल जाती है और पुरुष द्रष्टारूपसे अवस्थान करने लगता है। इस दर्शन-शास्त्रोक्त विज्ञानमें पुरुष और प्रकृतिकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र स्वतन्त्र गति वर्णन की गयी है, प्रकृति पुरुषके अर्थही क्रिया किया करती है; जब इस कैवल्यपदके उदय होनेपर पुरुष अपने रूपको प्राप्त होजाता है, तब स्वतः ही प्रकृति पुरुषका सम्बन्ध विच्छिन्न होजानेसे प्रकृति आपही क्रियाहीन होकर लयको प्राप्त होजाती है। यही अवस्था वेदान्तका अद्वैतभाव है, यही और शास्त्रोंकी अत्यन्त दुःखनिवृत्ति है, यही ज्ञानमार्गका ब्रह्मसद्भाव है, यही भक्तिमार्गकी पराभक्ति है और यही इस शास्त्रका कैवल्य है। पुरुषका अपने रूपको प्राप्त होजाना, सृष्टिके पूर्व वे जो थे, अब सृष्टिके लयमें भी उनका वही होजाना अर्थात् अपने पूर्वरूपको ही प्राप्त कर लेनेको मोक्ष अथवा कैवल्य कहते हैं। इस तटस्थ ज्ञानातीत परन्तु पूर्णज्ञानकी अवस्थाकोही कैवल्य कहते हैं, इस द्वैत-भावरहित अद्वैत-अवस्था-कोही कैवल्य कहते हैं, इसी अवस्थाको प्राप्त करके जब अल्पज्ञानी जीव सर्वज्ञ परमपुरुषके साक्षात्कार द्वारा, "जैसे समुद्रतरङ्ग समुद्रमेंही लय होजाते हैं," वैसेही जब परम पुरुषभावको प्राप्त हो परम पुरुषमेंही लय हो जाता है, तब उस 'यत्परो नास्ति" अवस्था-कोही कैवल्य कहते हैं, यही वाक्, मन, बुद्धिसे अगोचर अवस्था-ही कैवल्य कहाती है, यही कैवल्य-अवस्था सब साधनोंका लक्ष्य है, यही कैवल्य अवस्था वेदका सिद्धान्त है और यही कैवल्य अवस्था योगसाधनकी चरमसीमा है ॥३४॥

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्यप्रवचनसम्बन्धी
योगशास्त्रके कैवल्यपादके संस्कृतभाष्यका
भाषानुवाद समाप्त हुआ।

(१) दार्शनिक ग्रन्थ

१—कर्ममीमांसादर्शन प्रथम एवं द्वितीय भाग क्रमशः	३॥), ३)
२— ,, ,, तृतीय भाग	५)
३—दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग	३॥)
४— ,, ,, द्वितीय भाग	५)
५—योगदर्शन हिन्दी-भाष्य-सहित	३)
६—वेदान्त-दर्शन चतुःसूत्री हिन्दी भाष्य	॥—)
७—श्रीदत्तात्रेय दर्शनादर्श (संस्कृत)	२)
८—कठोपनिषद् हिन्दी-भाष्य	३)
९—केनोपनिषद् ,,	॥)
१०—ईशावास्योपनिषद् ,,	॥)
११—श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दी-टीका प्रथम भाग	४)
१२— ,, ,, द्वितीय भाग	३॥)
१३—श्रीविष्णुगीता	२)
१४—श्रीशंभुगीता	२)
१५—श्रीशक्तिगीता	२)
१६—श्रीसूर्यगीता	॥)
१७—श्रीधीशगीता	॥।)
१८—श्रीसंन्यासगीता	२)
१९—श्रीगुरुगीता	।)

(२) धार्मिक ग्रन्थ

२०—सत्यार्थ-विवेक-धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड	५)
२१—श्रीधर्मकल्पद्रुम द्वितीय खण्ड	१॥)
२२—श्रीधर्मकल्पद्रुम तृतीय खण्ड	२)
२३—श्रीधर्मकल्पद्रुम चतुर्थ खण्ड	३॥)

२४— ,, ,, पंचम खण्ड	२)
२५— ,, ,, षष्ठ खण्ड	३॥)
२६— ,, ,, सप्तम खंड	२)
२७— ,, ,, अष्टम खंड	३॥)
२८—धर्मविज्ञान प्रथम खंड	५)
२९—धर्मविज्ञान द्वितीय खंड	४)
३०—धर्मविज्ञान तृतीय खंड	४)
३१—श्रीरामगीता हिन्दी-टीका-सहित	२॥)
३२—संन्यासधर्म-पद्धति	१॥)
३३—पुराणरहस्यम् (संस्कृत)	१॥)
३४—कहावत रत्नाकर संकलित	१०)
३५—हठयोगसंहिता	॥)
३६—उपदेश-पारिजात (संस्कृत)	॥)
३७—त्रिवेदीय सन्ध्या	|=)
३८—स्तोत्र-कुसुमांजलि	|)
३९—महिला प्रश्नोत्तरी	=)
४०—निर्मूल आक्षेपों का उत्तर	|=)
४१—अन्तःकरण-विज्ञान	॥|)
४२—दुर्गासप्तशती (मातृमहिमाप्रकाशिनी टीका) सजिल्द	१॥|=)
अजिल्द	१॥)
४३—पूजा-प्रार्थना	|)
४४—हिन्दूधर्मका स्वरूप	≡)
४५—गायत्री-मन्त्रकी टीका	|)
४६—स्मरणी	॥=)
४७—स्त्री-पुरुष-विज्ञान	|)
४८—श्राद्ध और परलोक विचार	=)
४९—तीर्थ और देव-पूजन प्रश्नोत्तरी	=)

५०—सुलोचना (नाटक) ॥)
५१—गोव्रत तीर्थमहिमा ॥)
५२—गोस्वामी तुलसीदासकृत रामायण (टीका) १॥)
५३—मार्कण्डेयपुराण हिन्दी प्रथम खंड २)
५४— ,, ,, द्वितीय खंड १)
५५— ,, ,, तृतीय खंड १)
५६—संगीत-सुधाकर ।)
५७—व्रतोत्सव-चन्द्रिका ५)
५८—वर्ल्डस् इण्टरनल रीलीजन (अंग्रेजी) ३)
५९—इण्डिया इण्टरनल रीलीजन (,,) ॥)

(३) प्राइमरी, हाई स्कूल एवं इण्टरमीडियेट कालेजों में शिक्षाके उपयोगी धर्मग्रंथ

६०—भारतवर्षका इतिवृत्त ३॥)
६१—धर्मचन्द्रिका १)
६२—चरित्र-चन्द्रिका प्रथम भाग १)
६३— ,, ,, द्वितीय भाग १)
६४—शास्त्रचन्द्रिका १॥
६५—प्रवीण दृष्टि में नवीन भारत—प्रथम खण्ड २
६६—,, ,, ,, द्वितीय खंड २
६७—नवीन दृष्टि में प्रवीण भारत १
६८—सती-चरित्र-चन्द्रिका २
६९—भारतधर्म-समन्वय १।
७०—नीति-चन्द्रिका ।
७१—आर्यगौरव ।
७२—धर्मकर्म-दीपिका ।
७३—आचार-चन्द्रिका ॥

७४—साधन-चन्द्रिका	१॥)
७५—सुगम साधन-चन्द्रिका	१॥)
७६—नित्यकर्म-चन्द्रिका	।)
७७—ब्रह्मचर्य सोपान	।)
७८—शास्त्रसोपान	।)
७९—धर्मसोपान	।)
८०—धर्मप्रश्नोत्तरी	=)
८१—साधन-सोपान	॥)
८२—कन्या-शिक्षासोपान	।)
८३—सनातनधर्मदीपिका	॥।)
८४—धर्मप्रवेशिका	।=)
८५—कुमारिल भट्ट	॥।)
८६—परलोक-रहस्य	।)
८७—चतुर्दशलोक रहस्य	।)
८८—तत्त्वबोध	।=)
८९—मनुष्यधर्म	।)
९०—हिन्दू-संस्कृति-समीक्षा	।-)
९१—परलोकतत्त्व	॥।=)
९२—कर्मरहस्य	॥।=)
९३—व्रतोत्सव-कौमुदी	॥।=)
९४—सती-सदाचार	॥।)
९५—आदर्श देवियाँ प्रथम खण्ड	१॥)
९६—सतीधर्म और योगशक्ति	।)
९७—परलोक-प्रश्नोत्तरी	=)
९८—धर्माधर्म-प्रश्नोत्तरी	=)
९९—श्रीव्यास-शुक-सम्वाद	॥)
१००—गीतार्थ-चन्द्रिका	२॥)

———